शील-निरूपण :
सिद्धांत और विनियोग

जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०
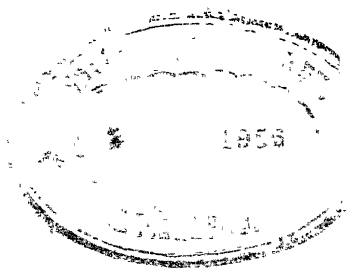
पटना

प्रथम संस्करण, जुलाई, १९५५

प्रकाशक :
अखिल भारतीय हिंदी शोध-मंडल,
पटना

मुद्रक :
इण्डियन मेशन प्रेस,
पटना–१.

परिवेशक :
शफीउद्दीन

मूल्य :
आठ रुपए

जिनके स्नेह-दीपक की लौ के अतिरिक्त इस पुस्तक में अपना कुछ भी नहीं, उन, अपने परम श्रद्धेय, पं० नलिनविलोचन शर्माजी के वात्सल्य को मेरी बाल-भेंट ।

स्नेहाधीन
जगदीश
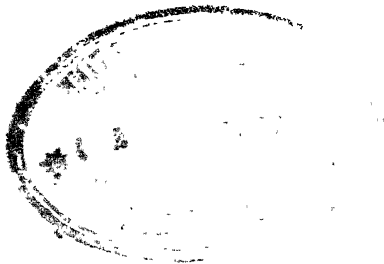
निवेदन

अपने सभी श्रद्धेय गुरुजनों, भाव-बन्धुओं तथा शुभचिन्तकों के प्रति नतमस्तक हूँ। एक ऋण और शेष दीखता है। श्रीराम की कृपा से वह भी उतर जाय तो अच्छा।

इस पुस्तक का चाहे जो हो, यश उनका बढ़े जिनके कर-कमलों में यह पुस्तक समर्पित है और आरा कालेज के उन भाइयों का जिनके सद्भाव का मैं एक दुलारा बालक हूँ।

जगदीश

अनुक्रम

प्रथम खंड

शील-निरूपण के आधार-भूत सिद्धांत

द्वितीय खंड

शील-निरूपण : विनियोग

शील-निरूपण :

सिद्धांत और विनियोग

प्रथम खंड

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धांत

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

प्रथम परिच्छेद

यों तो मनुष्य मात्र का सामान्य सत्तासार ज्ञातृत्व, कर्त्तव्य और भोक्तृत्व शक्तियों की एक सम्पृक्त अन्विति है, पर व्यक्ति के शील-भवन की आधार-शिला उसकी भोक्तृत्व-पद्धति ही है। ज्ञान स्वयं संचय है, संचारक नहीं, परिचायक नहीं। कोषाध्यक्ष स्वयं तो एक वैभव-राशि का कुबेर बना बैठा रहता है, पर उसका अपना वेतन इतना होता है कि बच्चों को रोटियों के लाले पड़े रहते हैं। वेदान्त और वैशेषिक के भाष्य, भिन्न शीलधर्मी, समान पाण्डित्य और कुशाग्रता से, कर सकते हैं। डाक्टर फॉस्ट्स अपनी विद्वत्ता और ज्ञानगरिमा के रहते हुए भी शील की दृष्टि से तब तक मूल-बन्धुत्व अर्जित नहीं करता जब तक उसका ज्ञान पर्वत से प्यास नहीं हो जाता, जबतक महत्त्व की आकांक्षा, ज्ञान के विलास की एक विराट् कामना, भोग की आकुलता का अतीतचुम्बी ज्वार, उसके हृदय को उद्वेलित नहीं कर देता। सफल वक्ता सरल व्यक्ति भी नहीं। वाणी, जो भाषा से काम लेती है, जब तक चिन्तन की वस्तुनिष्ठा या सभा की सदस्यता के प्रति कृत-संकल्प रहती है, तब तक वह शील का आवरण बन सकती है। जैसे, दार्शनिक का विवेचन या मच एडू के पूर्वार्द्ध में बेनेडिक और बिएट्रिस का वाग्युद्ध। पर जहाँ भाषा भावों की भाषा हुई, वाणी शील की सरस्वती हो जाती है, जैसे, "मैया, मैं नहिं माखन खायो"। शील व्यक्ति के जीवन का दर्शन नहीं, काव्य है। व्यक्ति का शील आधारतः मनुष्य की हृदय-व्यवस्था का वह मानचित्र है, जिसका निर्माण एक अचल प्रतिष्ठा नहीं, प्रतिक्षण चञ्चल गति-क्रम है। यदि ज्ञान से मनुष्य के शील का सीधा या उलटा लगाव नहीं तो कोरी शारीरिक क्रिया का भी शील से कोई अटूट या अन्योन्याश्रित संबंध नहीं है। जहाँ हाव के पीछे भाव नहीं, वहाँ शील नहीं। क्रिया मात्र शील नहीं, जब तक वह प्रति-क्रिया न हो। भोजन करना या साँस लेना या कोरा रास्ता चलना क्रिया मात्र है। दुर्योधन के घर का मेवा छोड़ विदुर का शाक खाना, अपनी प्रेयसी की साँस में साँस मिलाना, और चित्रकूट तीर्थ को इस भावना से जाना कि शायद राम के चरण-चिह्न नसीब हो जायँ, शील के अन्तर्गत आएगा।

वह शील जो व्यक्त नहीं होता, जो मूक-मृत वेदना, कण्ठावरुद्ध सहानभूति और हास्य के स्वगत का भ्रूण मात्र बनकर रह जाता है, काव्य की या जीवन की दृष्टि से

अत्यल्प मूल्य रखता है । इसलिए शील को पुतली उलट कर देखने की, अवचेतन के छाया-संस्कारों और प्रेत-स्मृतियों को जीवित व्यक्तित्व की विरल-विशेषता मान लेने की, जो परिपाटी चल पड़ी है, वह निंद्य है । जब तक ये संस्कार निष्प्राण, बलहीन उच्छ्वास-मात्र रहते हैं तब तक इनकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती । इनसे न कोई मानसिक या हार्दिक द्वन्द्व ही हो सकता है और न ये हमसे कर्मों द्वारा अपना व्यय ही करा सकते हैं । इसलिए जो शील जितना ही अधिक कर्मोन्मुख होगा, वह उतना ही सुस्पष्ट और प्राण-सौरभ-सम्पन्न होगा ।

प्रतीक-जगत् के दिवास्वप्न किसी रहस्यवादी भूगोल के ही काम आएँ तो आएँ । व्यक्ति में सामान्य सत्ता-तत्त्वों की विशेष भोग-शैली स्वगत की अजपा नहीं बन जाती । वह प्रकट आकृति अपनाती है, जिसके मूल में मिट्टी, मानव की सामान्य मिट्टी है, परन्तु जिसके फूल में अपनी निराली महक है । मन की चेतन भूमि से कर्मों, वचनों या व्यापारों तक शील धर्मक्षेत्र का विस्तार है । अनुभूतियों के भी योग या संघर्ष सार्थक तथा सुसम्बद्ध भाषा में व्यक्त किये जाते हैं, जिससे शील पात्र में स्थित ही न हो, द्रष्टा, पाठक या श्रोता के मन में प्रतिष्ठित भी हो जाय ।

शील की रचना सौष्ठव की पहली माँग है । स्पष्ट अभिव्यक्ति कुछ 'सोऽहम्' की खास गायत्री नहीं । किसी पड़ोसी के घर को जलते देख कोई जड़-धीर यदि जम्हाई लेते-लेते सो जाए, फिर उठे और फिर सो जाए, और उसके मन में न करुणा से क्लेश हो और न द्वेष से आह्लाद ही हो तो उसे हम हृदयहीन की संज्ञा देंगे । रोटी तवे पर रखी तो गयी और जलने तवे पर, लेकिन जलना तो दूर रहे, फूली तक नहीं । खमीर का उठना ही न हुआ । सत्तातत्त्वों की पूँजी, जो उसके व्यक्तित्व में है, मात्रा में इतनी न्यून है कि प्रतिक्रिया नहीं होती । ऐसे लोगों के हाथ-पाँव न सर्दी लगने से फूलते हैं और न भट्ठी में जलते हैं । ये न जीवित हैं, न मृत, ये शील की स्तब्ध-शिला हैं और गीता के स्थित-प्रज्ञ की सौतेली संतान ।

शील स्वसहाय होता है, नितान्त असहाय नहीं । ऐसा स्पष्ट दीखना चाहिए कि शीलवान भोक्ता है, अतएव कर्त्ता है, कुछ करण नहीं । यदि मेज पर मक्खी बैठ जाए और अचानक जड़-शून्य दशा में हम कलम की नोक से उसे मार डालें और कलाकार यह सिद्ध करना चाहे कि दूर भूत में दलित हिंसा की जीर्ण वासना का यह आकस्मिक विस्फोट है तो हम इसे हेतु-निरूपण की अच्छी उड़ान कहेंगे, शील की स्वाभाविकता नहीं । पहले तो ऐसी मक्खियाँ कल्पना की मौत मरती हैं, जैसे उर्दू के आशिक; फिर इसमें कहानी के प्रमुख नायक की जीर्ण वासना प्रारब्ध की भाँति चाबुक लगाती है और नायक का सारा पुरुषार्थ इक्के का टट्टू हो जाता है—असहाय, संकल्पविहीन ।

बिना विरोध के उत्कर्ष नहीं। विरोध करने और विरोध का सामना करने की सामर्थ्य नहीं तो शील नहीं। जल के वेगवान प्रवाह में बहते हुए बोतल के काग में शील नहीं, विवशता है। पहाड़ पर ठोकर लगे और घर का शीशा फोड़नेवाले बुद्धिमान में मूर्खता के साथ शील की निराली अदा भी है। वासनाओं के तीव्र वेग को केवल ग्रहण या धारण करने वालों की सत्ता कर्मवाच्य है, कर्तृवाच्य नहीं। दायित्व से पलायन करने वाले का पलायन भी हृदय की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसमें भय की सक्रियता तो है। शीलवान की सत्ता देश में स्थित हो नहीं, काल की परिवर्तनशीलता की सहधर्मिणी होनी चाहिए। शील की अभिव्यक्ति जीवन की एक घटना है, व्याकरण की संज्ञा नहीं, आत्मदान है, गुण या प्रवृत्ति की भाववाचक सत्ता नहीं। शील का स्खलन परिस्थिति-सापेक्ष रसोद्रेक है, स्थिर या स्थायी ताल-नुगार नहीं। यदि कोई आदमी बिना कारण ही दाँत निकाले, सदैव और सर्वत्र हँसी की जीवित मुद्रा बनाए रहे तो उसे हास-प्रिय शील वाला नहीं कहेंगे, शीलशून्य कहेंगे। शील वृत्तियों का प्रबन्ध-मुक्तक है। शील का परिचय परिस्थिति के ऊपर होता है, पूर्व नहीं। जहाँ अपर और पूर्व में कोई भेद नहीं, वहाँ व्यक्तित्व में न कोई भाव की प्रतीति होती है, न जीवन पर किसी प्रभाव की। "एक से अनेक" यही नव्य सृष्टि का सिद्धान्त-सूत्र है। यह 'अनेक' एक की केन्द्रीयता से स्वच्छन्द नहीं, परन्तु परिस्थितियों के प्रति एक के सुहृद-भाव बदलेंगे ही, तभी एक का जीवित विकास समझा जायगा। कर्त्तव्यनिष्ठ मर्यादापुरुषोत्तम राम, जो वैभव का सुख-भोग कर वनवास करते हैं, लक्ष्मण के शक्ति से मूर्छित होने पर कहते हैं—"जो जनितेउँ बन बंधु बिछोहू, पिताबचन मनितेउँ नहिं ओहू"। इस दारुण परिस्थिति में भी राम कर्त्तव्य के आदर्श के हृदयहीन सुकरात की आवृत्ति करते तो अपर के राम पूर्व के राम से तनिक भी विचलित न दीखते। राम की देश में जड़स्थिति बनी रहती, काल ने जिस परिवर्त्तन की सृष्टि की, उनसे राम विदेह और विमुक्त-से लगते। उनकी सत्ता कर्त्तव्य या मर्यादा की अशरीरी उपाधि-सत्ता होती। इसी तरह कोई 'राम-राम' कहे तब भी क्रोध करना, कोई 'भैया, बाबूजी' कहे तब भी कहना, "चलो चलो, बड़े आये भैया-बाबूजी कहने!" कोई मन्दिर की चर्चा करे तब भी ताप हो आना, घर की बात करे तब भस्मासुर बन जाना, तात्पर्य यह कि परिस्थिति नदी की भाँति रूप, सुर, लय बदले और किसी की प्रकृति अपने पैतृक या नैसर्गिक अभ्यास के बँधे-बँधाये एक ताल से ही उसका साथ दे तो हम आँख मूँद कर यही कहेंगे, इस मनुष्य की प्रकृति पित्त की है, इसके पास नव्य संकल्प-सापेक्ष वह कर्म-विचार या भावों की प्रतिभा नहीं, जिसकी अभिव्यक्ति को शील कहते है। जहाँ किसी जुलूस के नाले में कत्थकों को चोर नचाते है, वहाँ शील-संगीत के स्वतन्त्र आत्मनिवेदन का अवसर नहीं, वहाँ चोर बल के रूपक

अत्यल्प मूल्य रखता है । इसलिए शील को पुतली उलट कर देखने की, अवचेतन के छाया-संस्कारों और प्रेत-स्मृतियों को जीवित व्यक्तित्व की विरल-विशेषता मान लेने की, जो परिपाटी चल पड़ी है, वह निंद्य है । जब तक ये संस्कार निष्प्राण, बलहीन उच्छ्वास-मात्र रहते हैं तब तक इनकी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति नहीं होती । इनसे न कोई मानसिक या हार्दिक द्वन्द्व ही हो सकता है और न ये हमसे कर्मों द्वारा अपना व्यय ही करा सकते हैं । इसलिए जो शील जितना ही अधिक कर्मोन्मुख होगा, वह उतना ही सुस्पष्ट और प्राण-सौरभ-सम्पन्न होगा ।

प्रतीक-जगत् के दिवास्वप्न किसी रहस्यवादी भूगोल के ही काम आएँ तो आएँ । व्यक्ति में सामान्य सत्ता-तत्त्वों की विशेष भोग-शैली स्वगत की अजपा नहीं बन जाती । वह प्रकट आकृति अपनाती है, जिसके मूल में मिट्टी, मानव की सामान्य मिट्टी है, परन्तु जिसके फूल में अपनी निराली महक है मन की चेतन भूमि से कर्मों, वचनों या व्यापारों तक शील धर्मक्षेत्र का विस्तार है अनुभूतियों के भी योग या संघर्ष सार्थक तथा सुसम्बद्ध भाषा में व्यक्त किये जाते हैं, जिससे शील पात्र में स्थित ही न हो, द्रष्टा, पाठक या श्रोता के मन में प्रतिष्ठित भी हो जाय ।

शील की रचना सौष्ठव की पहली माँग है । स्पष्ट अभिव्यक्ति कुछ 'सोऽहम्' की खास गायत्री नहीं । किसी पड़ोसी के घर को जलते देख कोई जड़-धीर यदि जम्हाई लेते-लेते सो जाए, फिर उठे और फिर सो जाए, और उसके मन में न करुणा से क्लेश हो और न द्वेष से आह्लाद ही हो तो उसे हम हृदयहीन की संज्ञा देंगे । रोटी तवे पर रखी तो गयी और जलने तवे पर, लेकिन जलना तो दूर रहे, फूली तक नहीं । खमीर का उठना ही न हुआ । सत्तातत्त्वों की पूँजी, जो उसके व्यक्तित्व में है, मात्रा में इतनी न्यून है कि प्रतिक्रिया नहीं होती । ऐसे लोगों के हाथ-पाँव न सर्दी लगने से फूलते हैं और न भट्ठी में जलते हैं । ये न जीवित हैं, न मृत, ये शील की स्तब्ध-शिला हैं और गीता के स्थित-प्रज्ञ की सौतेली संतान ।

शील स्वसहाय होता है, नितान्त असहाय नहीं । ऐसा स्पष्ट दीखना चाहिए कि शीलवान भोक्ता है, अतएव कर्त्ता है, कुछ करण नहीं । यदि मेज पर मक्खी बैठ जाए और अचानक जड़-शून्य दशा में हम कलम की नोक से उसे मार डालें और कलाकार यह सिद्ध करना चाहे कि दूर भूत में दलित हिंसा की जीर्ण वासना का यह आकस्मिक विस्फोट है तो हम इसे हेतु-निरूपण की अच्छी उड़ान कहेंगे, शील की स्वाभाविकता नहीं । पहले तो ऐसी मक्खियाँ कल्पना की मौत मरती हैं, जैसे उर्दू के आशिक; फिर इसमें कहानी के प्रमुख नायक की जीर्ण वासना प्रारब्ध की भाँति चाबुक लगाती है और नायक का सारा पुरुषार्थ इक्के का टट्टू हो जाता है—असहाय, संकल्पविहीन ।

बिना विरोध के उत्कर्ष नहीं । विरोध करने और विरोध का सामना करने की सामर्थ्य नहीं तो शील नहीं । जल के वेगवान प्रवाह में बहते हुए बोतल के काग में शील नहीं, विवशता है । पहाड़ पर ठोकर लगे और घर का शील फोड़नेवाले बुद्धिमान में मूर्खता के साथ शील की निराली अदा भी है । वासनाओं के तीव्र वेग को केवल ग्रहण या धारण करने वालों की सत्ता कर्मवाच्य है, कर्त्तवाच्य नहीं । दायित्व से पलायन करने वाले का पलायन भी हृदय की अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसमें भय की सक्रियता तो है । शीलवान की सत्ता देश में स्थित ही नहीं, काल की परिवर्त्तनशीलता की सहधर्मिणी होनी चाहिए । शील की अभिव्यक्ति जीवन की एक घटना है, व्याकरण की संज्ञा नहीं, आत्मदान है, गुण या प्रवृत्ति की भाववाचक सत्ता नहीं । शील का स्खलन परिस्थिति-सापेक्ष रसोद्रेक है, स्थिर या स्थायी ताप-तुषार नहीं । यदि कोई आदमी बिना कारण ही दाँत निकाले, सदैव और सर्वत्र हँसी की जीवित मुद्रा बनाए रहे तो उसे हास-प्रिय शील वाला नहीं कहेंगे, शीलशून्य कहेंगे । शील वृत्तियों का प्रबन्ध-मुक्तक है । शील का परिचय परिस्थिति के ऊपर होता है, पूर्व नहीं । जहाँ अपर और पूर्व में कोई भेद नहीं, वहाँ व्यक्तित्व में न कोई भाव की प्रतीति होती है, न जीवन पर किसी प्रभाव की । "एक से अनेक" यही नव्य सृष्टि का सिद्धान्त-सूत्र है । वह 'अनेक' एक की केन्द्रीयता से स्वच्छन्द नहीं, परन्तु परिस्थितियों के प्रति एक के सुहृद-भाव बदलेंगे ही, तभी एक का जीवित विकास समझा जायगा । कर्त्तव्यनिष्ठ मर्यादापुरुषोत्तम राम, जो वैभव का सुख-भोग कर वनवास करते हैं, लक्ष्मण के शक्ति से मूर्छित होने पर कहते हैं—"जो जनितेउँ बन बंधु बिछोहू, पिताबचन मनितेउँ नहिं ओहू" । इस दारुण परिस्थिति में भी राम कर्त्तव्य के आदर्श के हृदयहीन सुकरात की आवृत्ति करते तो अपर के राम पूर्व के राम से तनिक भी विचलित न दीखते । राम की देश में जड़स्थिति बनी रहती, काल ने जिस परिवर्त्तन की सृष्टि की, उनसे राम विदेह और विमुक्त-से लगते । उनकी सत्ता कर्त्तव्य या मर्यादा की अशरीरी उपाधि-सत्ता होती । इसी तरह कोई 'राम-राम' कहे तब भी क्रोध करना, कोई 'भैया, बाबूजी' कहे तब भी कहना, "चलो चलो, बड़े आये भैया-बाबूजी कहने !" कोई मन्दिर की चर्चा करे तब भी ताप हो आना, घर की बात करे तब भस्मासुर बन जाना, तात्पर्य यह कि परिस्थिति नदी की भाँति रूप, सुर, लय बदले और किसी की प्रकृति अपने पैतृक या नैसर्गिक अभ्यास के बँधे-बँधाये एक ताल से ही उसका साथ दे तो हम आँख मूँद कर यही कहेंगे, इस मनुष्य की प्रकृति पित्त की है, इसके पास नव्य संकल्प-सापेक्ष वह कर्म-विचार या भावों की प्रतिभा नहीं, जिसकी अभिव्यक्ति को शील कहते हैं । जहाँ किसी जुल्म के ताले में कत्थकों को चोर नचाते हैं, वहाँ शील-संगीत के स्वतन्त्र आत्मनिवेदन का अवसर नहीं, वहाँ चोर दल के रूपक

हो जाते हैं, कत्थक-परतन्त्रता के काव्य में शील-विधान का मूल आधार क्या है ? वह है कारण-भूमि की भावात्मक हार्दिकता (Positive cordiality of causal dynamics)। नैतिक दृष्टि से जो कारण शुभ अथवा अशुभ, धार्मिक अथवा अधार्मिक, उत्कृष्ट अथवा पतित माने जाते हैं, काव्य की दृष्टि से वे ही आचरण-शील के अभाव के द्योतक हो सकते हैं। अपवर्ग के लोभी आचरण संकीर्ण वर्ग-विवरों के बन्दी हो जाते हैं। उदाहरण या अनुकरण के लिए निर्मित पात्रों के व्यवहार में गुण की क्षीणता और उपाधि-आक्रान्त दत्तक-व्यक्तित्व की प्रधानता होती है। दूसरी बात। ऐसे पात्रों के निर्माण में स्थूलता, एकाङ्गिता का आग्रह तो रहता ही है, उद्देश्य को विधेय का विमूढ़-किंकर होकर रहना पड़ता है। इसका सिद्धान्तसूत्र "राम जाता है" नहीं, बल्कि "जाना अपना होना राम के द्वारा सम्पादित कराता है"। पिता की आज्ञा मान कर माता का सर धड़ से अलग करने वाले परशुराम का कर्म, स्मृति की दृष्टि में, शिवतम भले ही हो, शील-स्वभाव की इसमें इतिश्री है। परशुराम के लिए माता और पिता नाम की दो शक्तियों में यदि माता नाम की शक्ति में अनभूति की गहराई और प्रवाह का वेग अधिक नहीं तो तुल्य तो अवश्य है। अब स्मृति और समाजशास्त्रों द्वारा स्थापित आदर्श पिता के पक्ष में आकर अपनी गुरुता के लिए बैठ जाता है, जैसे अर्जुन के रथ पर हनुमान। इस तरह परशुराम प्रज्ञा के हठयोग द्वारा, बौद्धिक औचित्य के कुंभक-संकल्प द्वारा, अपने ही हाथों उसकी हत्या कर बैठते हैं, जिसके उदर से उन्होंने जन्म लिया था। यदि नित्य के जीवन में परशुराम प्रारम्भ से ही पिता के चरणों से अधिक लिपटे होते, पिता से उनका साहचर्य माता की अपेक्षा अधिक होता तो हम इस हत्या को हृदयङ्गम कर सकते। इस कारण-भूमि के हार्दिक अभाव में परशुराम कर्त्ता न रह कर, आचरण-विधाता न रहकर, करण बन जाते हैं, रूढ़िपोषक के निमित्त दृष्टान्त मात्र रह जाते हैं (अहं, उपादान, ग्रन्थि)।

ऐसे भी पात्रों की रचना देखने को मिलती है जो काव्य-कर्मा के कला-भवन में, और प्रतिद्वन्द्वी की तुलना और शोभा की वृद्धि के लिए, अपनी स्थिति बनाए रखने वाले खिलौने से दीखते हैं। क्रियाशीलता की दृष्टि से हम शील को इन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :—

(१) लड़ाकशील पहली श्रेणी के व्यक्ति आक्रामक, विरोध-समर्थ, अपना मार्ग द्वन्द्वों के बीच निर्धारित करने की स्वयं चेष्टा करने वाले, अपनी ज्वाला से स्वयं जलने वाले और कृत-फल-भोक्ता होते हैं। ये स्वधर्म-परिचालित होते हैं और इनका ताण्डव किसी दूसरे के डमरु के डिमडिमाडिम का अनुगामी नहीं होता, बल्कि अपनी रागात्मक अनिवार्यता का होता है। इनकी रचना में वायु और तेज (अग्नि) के उपकरणों की कुछ इतनी प्रबलता रहती है कि जीवन-लीला के पर्यवसान तक अपनी सहिष्णुता, सामरिक उत्साह, स्वाभिमान के

अदम्य रोष और भाविक तपस्या से वे श्रोता, पाठक या द्रष्टा के हृदय पर एक करुणोदात्त पुरुषार्थ और विराट् भावोत्कर्ष के अमिट संस्कार छोड़ जाते हैं। दुःखान्त नाटकों के वीर नायकों की गरिमा इसी में है।

(२) ढाल से या छाया-से दीख पड़ने वाले चरित्रों में सर्वेण्टेज के डानक्विजोट का पीर-और-खर सैंकोपैन्जा है, रामायण के सप्तर्षि हैं, सुग्रीव, और बहुत अंश तक हनुमान भी, हैं।

सीता की सरलता राम के वनवास-विधान को सफल बनाती है। जार्ज बर्नार्ड शा की कर्कशा मार्जारी के तर्क-नखों की खरोंच के सामने मर्यादापुरुषोत्तम का मर्यादा-सौन्दर्य न टिकता। शैव्या, डेस्डिमोना, दमयन्ती की पूर्णतः असानी सरलता का अहं का निरपेक्ष अभाव एक मधुर सौन्दर्य का आलोक छोड़ जाता है, परन्तु यह बात भी निर्विवाद है कि ये नायकों के मार्ग में फूल बन कर बरस पड़ी हैं। ये अधिकृत मनोवृत्ति की हैं, और सबसे बड़ा दोष यह है कि अकृत या परकृत की फल-प्राप्ति इन्हें होती है। अकृताभ्यागम की यह पद्धति हमारी न्याय-बुद्धि को आघात पहुँचाती है, और विश्व-नियामक के प्रति रोष और भर्त्सना की भावना उत्पन्न कर हमें विक्षुब्ध करती है। इसका लाभ सच पूछिये तो कथावस्तु को होना है जो चटपटी हो जाती है। शीघ्रता में हम कथाकार को यथातथ्य सत्य का प्रतिष्ठापक मान लेते हैं और वह यथार्थवादी कहला लेता है। जो भी हो, शील की दृष्टि से तत्त्वतः ऐसे व्यक्तित्व तादात्म्य की चरमावस्था को प्राप्त होते हैं और इसलिए अपनी स्वतन्त्र प्राणशीलता खो बैठते हैं।

(३) इनके अतिरिक्त आधार काष्ठ-शील की अभिव्यक्ति कलाकार के पक्षपात-धर्म का परिणाम है। निहाई की आवश्यकता इसलिए होती है कि हथौड़े की चोट जलते लोहे पर पड़ सके। छुरा तेज करने के लिए चमोटी की, धार पर सान चढ़ाने के लिये, हथियार को तीक्ष्ण करने के लिए, शिलापट्टिका की आवश्यकता होती ही है। राम के लिए, प्रतिनायक, रावण, ऐसी ही शिलापट्टिका है।

शूर्पणखा का नाक-कान काट कर राम-लक्ष्मण ने जो शल्य-विनोद किया उसकी प्रतिकार-वासना में यदि ब्राह्मण राक्षस रावण क्षात्र-रोष से तप्त होकर सीता की दुर्गति करता दिखलाया जाता तो रावण का भी अपना शील स्वयं मर्यादित होता। ऐसा न होकर सुरा से मत्त, कभी न हँसने वाला, सदा अट्टहास करने वाला, बज्रादपि जड़ रावण, त्रिजटा के समान क्रूर अत्याचारी के रूप में, सीता को यातना पहुँचाता है। सदा खिसियाना और 'कठिन कृपाना' निकाल 'सिरकौटा' वाला रावण राम के प्रतिशोध का औचित्य-पोषक मात्र बन जाता है। इतनी बड़ी रामायण में सिवा घृणित आचार के रावण के पास कोई ऐसा रक्षक गुण नहीं जो उसके शील को सत्य या स्वतः-संभवी-सा सिद्ध करे। बहुत के

अपमान या मामा मारीच के वध से उसकी वीरता विक्षुब्ध नहीं होती। रावण तो सदा वही है जिसे ऋषियों से रक्त का कर लेने, देवताओं का अकारण अपमान करने, एक अमानवीय तोष की प्राप्ति होती है। हम मानवीयता का देवत्व में उत्कर्ष और पैशाचिक प्रवृत्तियों में पतन समझ सकते हैं, पर विशुद्ध राक्षस का शील या विशुद्ध देवता का शील हमारे लिये सदा अपरितुष्ट आस्वादन का विषय रहेगा।

(४) शिविकारूढ़ शील वह शील है जो पात्र के अपने कर्मों, वचनों से निर्मित न हो कर अन्य पात्रों के मूल्यांकन श्रद्धा-प्रतिमाओं द्वारा अपनी आकृति प्राप्त करता है। जूलियस सीजर, ईर्ष्यालु कैसियस और श्रद्धालु एन्टनी तथा वीर जनता की प्रतिमाओं से बनता है, यहाँ तक कि सीजर भी जन-गण-मन में प्रतिबिम्बित अधिनायक और भाग्यविधाता की अपनी प्रतिमा को ही वास्तविक मान कर शील की नट शैली अपना लेता है, और अपने लिए अन्य पुरुष का व्यवहार करता है। उसका अपना योग-दान केवल कपट औद्धत्य का है।

दुर्बल और निर्जीव शील के उदाहरण रूढ़ियुक्त मान-चित्रों में ढले पाये जाते हैं। सफल शील-रचना भूगोल की सीमाबद्ध आकृति नहीं मालूम होती, इतिहास की वह नूतन कृति प्रतीत होती है जिसमें शाश्वत से तात्त्विक विच्छेद नहीं होता। किसी वीर का सदा ललकारना, साहस से कभी मुख न मोड़ना, पीठ न दिखाना, मन में भी कभी कठिनाइयों से विचलित न होना, भौगोलिक आकृति के उदाहरण हैं, ऐतिहासिक कृति के नहीं। किसी व्यापारी वैश्य का इतना व्यय-कृपण और इतना लोभकीट दिखाया जाना कि घोर से घोर अपमान के बीच भी कौड़ी के मोल के पीछे मरते रहना; बालबच्चों के अरमानों तक को कुचल कर रोकड़ में गड़े रहना, किसी प्रेमी का सदा आह-उफ् और कृत्रिम रूपकों में प्रलाप करते रहना; पिता का सदा पुत्र के प्रेम में हस्तक्षेप कर अपनी इच्छा की वधू लाद देना; सौतेली माँ, चाचाओं आदि का सदा पाजी होना आदि रूढ़ि के गड़े मुर्दे हैं, जो जितनी गहराई से गड़े हैं, उतनी ही आसानी से उखड़ जाते हैं या उखाड़े जाते हैं। आज कल आत्म-निर्णय और व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के नाम पर एक तरह की रूढ़ मौलिकता चल पड़ी है। स्वावलम्बन और स्वाभिमान के नाम पर, सिनेमा के नायक, सिद्धान्ततः विरोध करना, मौलिक जीवन-दर्शन का नियम समझते हैं। बात की बात में घर छोड़ आधी रात में——भरी बरसात हो तो फिर क्या कहने——हाथ में थैला लिये, सिग्रेट के धुआँ के बादल बने और बनाये निकल पड़ते हैं। 'कहाँ चले?' बाप पूछता है और जवाब मिलता है 'जहाँ किस्मत ले जाय'। रास्ते में बिना टिकट ट्रेन पर सवार हो जाते हैं। वहाँ किसी भद्र पुरुष से मल्लयुद्ध होता है। पर मल्लयुद्ध का अन्त बड़ा सुखद होता है। वह भद्र पुरुष कोई लक्ष्मीपति होता है, उसकी सुन्दर बेटी

से इनकी आँखें लड़ जाती हैं और वह ग्राम-बाला जिससे इनका पहला प्यार था, भुला दी जाती है। अन्त में त्रिभुज की दो भुजाओं में से एक काट दी जाती है—आत्म-हत्या या यक्ष्मा द्वारा और त्रिभुज कोण बन जाता है। इसी को आप चाहें तो मौलिकता का दृष्टिकोण कह सकते हैं। इसी तरह आज कल की नायिकाएँ शायर भी होती हैं, शेरनी भी और पालतू बिल्ली भी होती हैं। तमाचे खूब खाती हैं, और फिर पछता कर जब प्रेमी गाल मलता है (अपना) और प्रस्थान कर देता है, तो गाना गाने लगती हैं। न मालूम इस रूढ़ि की रीढ़ कब टूटेगी।

शील की सिद्धान्त-शृंखला बनायी जा सकती है, जिसे हम शील-निदान कह सकते हैं। वह यह है :—

(१) सजीवता।
(२) नितान्त सामान्य लक्षण न हो कर अधिकाधिक स्वलक्षण होना।
(३) मूल बन्धुत्व।
(४) पिठरपाक विकास।
(५) प्रत्यभीक्षण निसर्ग-आशा-दोष से मुक्ति।
(६) संश्लिष्ट विविधता।
(७) विकल्प-क्लिष्ट न हो कर संवेदन-सरल होना।
(८) रूप-प्रधान की अपेक्षा संस्कार-प्रधान होना।
(९) मन-भेद अथवा खंडित अभ्यन्तर।

शील की सजीवता प्रभावोत्पादकता में नहीं, बल्कि प्रभावग्राहिता में है। हिम-हृदय-शून्यमनस्कता वृत्तियों की, स्तब्ध-नीरवता शील की दृष्टि से व्यर्थ हैं। गुणों की आलस्य गति और आलोक की साम्यावस्था में प्रलय है, जीवन नहीं। जीवन की गति अनुपात के न्यूनाधिक्य में है। दुर्भिक्ष म हाहाकार करते किसानों के बीच बैठे किसी अर्थशास्त्री के मन की रूप दशा यदि ऐसी हो—'अन्न नहीं होने से खाद्य समस्या बड़ी ही जटिल हो जायगी और नेहरू सरकार साम्यवादियों को निरुत्तर न कर बल प्रदान करेगी। मुझे इन बेचारे किसानों से हमदर्दी है। निकट की नदी में बाँध बँधवाने का अनुष्ठान कर दिया जाता तो अच्छा। छोड़ो, कौन इस झमेले में पड़े? किसानो, तुम हाथ पर हाथ धरे क्या बैठे हो? तुम्हें कुछ उद्योग करना चाहिये, कुआँ खोदो और खेत पटाओ।' यदि ऐसी दशा होती तो, इसमें बुद्धि का प्रकाश भी है, करुणा का एक निर्वीर्य बुद्बुद भी उठता है और आलस्य का हिम-उपल भी इस पर गिर पड़ता है। अनुपात के इस समान-धन ऋण से शील का शून्य हाथ लगता है। ऐसा व्यक्ति गणेश तो होता है, पर गोबर का। सजीव शील में अहं, उपादान या आसक्ति और ग्रंथि की विविधता पायी जायगी। अपनी सौत

अपमान या मामा मारीच के वध से उसकी वीरता विक्षुब्ध नहीं होती । रावण तो सदा वही है जिसे ऋषियों से रक्त का कर लेने, देवताओं का अकारण अपमान करते, एक दानवीय तोष की प्राप्ति होती है । हम मानवीयता का देवत्व में उत्कर्ष और पैशाचिक प्रवृत्तियों में पतन समझ सकते हैं, पर विशुद्ध राक्षस का शील या विशुद्ध देवता का शील हमारे लिये सदा अपरितुष्ट आस्वादन का विषय रहेगा ।

(४) शिविकारूढ़ शील वह शील है जो पात्र के अपने कर्मों, वचनों से निर्मित न हो कर अन्य पात्रों के मूल्यांकन श्रद्धा-प्रतिमाओं द्वारा अपनी आकृति प्राप्त करता है । जूलियस सीजर, ईर्ष्यालु कैसियस और श्रद्धालु एन्टनी तथा वीर जनता की प्रतिमाओं से बनता है, यहाँ तक कि सीजर भी जन-गण-मन में प्रतिबिम्बित अधिनायक और भाग्यविधाता की अपनी प्रतिमा को ही वास्तविक मान कर शील की नट शैली अपना लेता है, और अपने लिए अन्य पुरुष का व्यवहार करता है । उसका अपना योग-दान केवल कपट औद्धत्य का है ।

दुर्बल और निर्जीव शील के उदाहरण रूढ़ियुक्त मान-चित्रों में ढले पाये जाते हैं । सफल शील-रचना भूगोल की सीमाबद्ध आकृति नहीं मालूम होती, इतिहास की वह नूतन कृति प्रतीत होती है जिसमें शाश्वत से तात्त्विक विच्छेद नहीं होता । किसी वीर का सदा ललकारना, साहस से कभी मुख न मोड़ना, पीठ न दिखाना, मन में भी कभी कठिना-इयों से विचलित न होना, भौगोलिक आकृति के उदाहरण हैं, ऐतिहासिक कृति के नहीं । किसी व्यापारी वैश्य का इतना व्यय-कृपण और इतना लोभकीट दिखाया जाना कि घोर से घोर अपमान के बीच भी कौड़ी के मोल के पीछे मरते रहना; बालबच्चों के अर-मानों तक को कुचल कर रोकड़ में गड़े रहना, किसी प्रेमी का सदा आह्-उफ् और कृत्रिम रूपकों में प्रलाप करते रहना; पिता का सदा पुत्र के प्रेम में हस्तक्षेप कर अपनी इच्छा की वधू लाद देना; सौतेली माँ, चाचाओं आदि का सदा पाजी होना आदि रूढ़ि के गड़े मुर्दे हैं, जो जितनी गहराई में गड़े है, उतनी ही आसानी से उखड़ जाते है या उखाड़े जाते हैं । आज कल आत्म-निर्णय और व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के नाम पर एक तरह की रूढ़ मौलिकता चल पड़ी है । स्वावलम्वन और स्वाभिमान के नाम पर, सिनेमा के नायक, सिद्धान्ततः विरोध करना, मौलिक जीवन-दर्शन का नियम समझते हैं । बात की बात में घर छोड़ आधी रात में--भरी बरसात हो तो फिर क्या कहने--हाथ में थैला लिये, सिग्रेट के धुआँ के बादल बने और बनाये निकल पड़ते हैं । 'कहाँ चले?' बाप पूछता है और जवाब मिलता है 'जहाँ किस्मत ले जाय' । रास्ते में बिना टिकट ट्रेन पर सवार हो जाते हैं । वहाँ किसी भद्र पुरुष से मल्लयुद्ध होता है । पर मल्लयुद्ध का अन्त बड़ा सुखद होता है । वह भद्र पुरुष कोई लक्ष्मीपति होता है, उसकी सुन्दर बेटी

से इनकी आँखें लड़ जाती हैं और वह ग्राम-बाला जिससे इनका पहला प्यार था, भुला दी जाती है। अन्त में त्रिभुज की दो भुजाओं में से एक काट दी जाती है—आत्म-हत्या या यक्ष्मा द्वारा और त्रिभुज कोण बन जाता है। इसी को आप चाहें तो मौलिकता का दृष्टिकोण कह सकते हैं। इसी तरह आज कल की नायिकाएँ शायर भी होती हैं, शेरनी भी और पालतू बिल्ली भी होती हैं। तमाचे खूब खाती हैं, और फिर पछता कर जब प्रेमी गाल मलता है (अपना) और प्रस्थान कर देता है, तो गाना गाने लगती हैं। न मालूम इस रूढ़ि की रीढ़ कब टूटेगी।

शील की सिद्धान्त-शृंखला बनायी जा सकती है, जिसे हम शील-निदान कह सकते हैं। वह यह है :—

(१) सजीवता।
(२) नितान्त सामान्य लक्षण न हो कर अधिकाधिक स्वलक्षण होना।
(३) मूल बन्धुत्व।
(४) पिठरपाक विकास।
(५) प्रत्यभीक्ष्ण निसर्ग-प्राणाश-दोष से मुक्ति।
(६) संश्लिष्ट विविधता।
(७) विकल्प-क्लिष्ट न हो कर संवेदन-सरल होना।
(८) रूप-प्रधान की अपेक्षा संस्कार-प्रधान होना।
(९) मन-भेद अथवा खंडित अभ्यन्तर।

शील की सजीवता प्रभावोत्पादकता में नहीं, बल्कि प्रभावग्राहिता में है। हिम-हृदय-शून्यमनस्कता वृत्तियों की, स्तब्ध-नीरवता शील की दृष्टि से व्यर्थ हैं। गुणों की आलस्य गति और आलोक की साम्यावस्था में प्रलय है, जीवन नहीं। जीवन की गति अनुपात के न्यूनाधिक्य में है। दुर्भिक्ष म हाहाकार करते किसानों के बीच बैठे किसी अर्थशास्त्री के मन की रूप दशा यदि ऐसी हो—'अन्न नहीं होने से खाद्य समस्या बड़ी ही जटिल हो जायगी और नेहरू सरकार साम्यवादियों को निरुत्तर न कर बल प्रदान करेगी। मुझे इन बेचारे किसानों से हमदर्दी है। निकट की नदी में बाँध बँधवाने का अनुष्ठान कर दिया जाता तो अच्छा। छोड़ो, कौन इस झमेले में पड़े? किसानो, तुम हाथ पर हाथ धरे क्या बैठे हो? तुम्हें कुछ उद्योग करना चाहिये, कुआँ खोदो और खेत पटाओ।' यदि ऐसी दशा होती तो, इसमें बुद्धि का प्रकाश भी है, करुणा का एक निर्वीर्य बुद्बुद भी उठता है और आलस्य का हिम-उपल भी इस पर गिर पड़ता है। अनुपात के इस समान-धन ऋण से शील का शून्य हाथ लगता है। ऐसा व्यक्ति गणेश तो होता है, पर गोबर का। सजीव शील में अहं, उपादान या आसक्ति और ग्रंथि की विविधता पायी जायगी। अपनी सौत

पद्मावती के लिए अपने ही स्वामी के साथ सुहाग का आयोजन करती, मंगलमाल गूँथती वासवदत्ता की स्पन्दनशीलता का अनुमान कीजिए । उसका अहं सोया नहीं, जगा है । वह जानती है कि उसका स्वामी दूसरी स्त्री का पति होने जा रहा है । भेद-बुद्धि से उत्पन्न ग्लानि यह प्रतिक्षण संकेत कर रही है —"वासवदत्ता, अब तुम सुख की सेज न सो सकोगी ।" पर व्यक्तित्व कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं । उस वासवदत्ता के व्यक्तित्व में साहचर्य से स्वामी के प्रति आसक्ति भी है । यह आसक्ति सहवास और सम्बद्ध जीवन का परिणाम है, और वासवदत्ता के मन में एक अविभाज्य अंश हो गई है । इसलिए जब इस परिस्थिति का वह प्रभाव ग्रहण करती है तो अपने संपूर्ण व्यक्तित्व से, जिसमें उस आसक्ति का भी योग है । यह आसक्ति परमार्थ नहीं, वह स्वार्थ है जिसकी अनुभूति विलास के वर्त्तमान से भी तीव्रतर है । स्वामी के भविष्य की कल्पना की मोहक छाया कवि पर वह जीवन का काव्य लिखती है । उसका शील रूप-प्रधान न हो कर संस्कार-प्रधान हो जाता है । उस आसक्ति के चलते आँसू पीती है, मंगल की माला में छिपे-अपने अमंगल के तक्षक को भी गले लगाती है, और अन्तर की इस ग्रंथि से वह किसी सरलता की ओर, विच्छेद की ओर, पलायन कर मुक्ति नहीं चाहती । उलझकर, तड़पकर, उत्सर्ग में ही एक विचित्र आत्मतोष की, सुखसंवेदना की अनुभूति करती है ।

सजीवता का अर्थ, परिवर्त्तन का, विकास का नियम है ऐसा बर्गसाँ कहते हैं । पत्थर में स्पन्दन नहीं । घास हरी होती है, पीली होती है । बीज वृक्ष होते हैं, पल्लव लगते हैं, फिर पुष्प, फिर फल लगते और गिरते हैं । मधुमास में उमंग न हो और शिशिर में शीर्णचित्त हो प्रकृति के परिवर्त्तनशील लक्षण न हों, तो समझना चाहिये कहीं प्राण की मात्रा में कमी है । टाल्सटाय के प्रसिद्ध उपन्यास में कात्शा वेश्यावृत्ति अपनाती है, फिर अपने प्रेमी राजकुमार के नये आदर्शों के प्रभाव में आकर अस्पताल की नर्स का काम करती है, और साइबेरिया की यात्रा में राजकुमार के अनुग्रह के प्रति सचेत होते हुए भी एक राजनीतिक बन्दी के साहचर्य में उसी की हो, मृत्यु में भी हृदय से उसी का आलिङ्गन करने का निश्चय करती है । यह सस्ती उच्छृङ्खलता नहीं, न कोई प्रतिशोध है बल्कि एक ऐसी आभ्यन्तरिक अनिवार्यता है जो उसकी भोक्तृत्व पद्धति की अपनी विशेषता है ।

सजीवता शील-रचना में अणुवाद और संगतिवाद का वैरी सिद्धान्त है । यह व्याघात-सहिष्णु और विरोध-उदार मान्यता है । प्रयोगशाला का रासायनिक विश्लेषण या कृत्रिम योग, सजीवता का घातक है । एक अंग्रेजी कहानी में विज्ञान-बुद्धिवादी एक श्रान्त पथिक की भेंट, जंगल के किसी खँडहर में, एक भूत से होती है । भूत शरीरधारी हो कर बैठा है । आग पर बैठ जाता है पर जलता नहीं । पर भूत का शील इस चमत्कार में नहीं । भूत कभी एक पिता था । उसका इकलौता स्कूल से आते वक्त शोहदों और शरीर सह-

पाठियों के कुचक्र से निकट के एक नाले में गिर पड़ा और मर गया। पिता ने भी गल-गल कर वियोग में प्राण छोड़े। तब से वह भूत-पिता बराबर इस स्थान के इर्द-गिर्द पुत्र-संयोग की अतृप्त वासना से मँडराया करता है। ऊर्ध्वकेश, बज्रदन्त, भयानक भूत का चित्रण रूप-प्रधान होता। संस्कार-प्रधान इस चित्रण से छाया में भी शरीर-धारियों की आसक्ति और अहं के स्थायी आत्मतत्त्व की स्थिति असंगति को भी कवलित कर जाती है और हम करुणार्द्र हो उठते हैं। अब यदि इस बात को उलटकर यों दिखाया जाता कि पथिक कोई मनोविज्ञान की किताब पढ़ रहा था। समस्या थी कि मृत्यु के बाद भी स्मृति शाश्वत बनी रहती है या उसका अवसान हो जाता है। मरने के बाद क्या कोई भूत-योनि भी है? यदि है, तो क्या सचमुच भूत दुष्ट होते हैं, या अच्छे-बुरे दोनों होते हैं? भूत मिलते होंगे तो सुनसान अर्द्धरात्रि में, एकांत में। क्या आश्चर्य कि यहीं भूत न हो ...और इस तरह भूत प्रगट होता और कलाकार पाठकों को इस घपले में छोड़ देता कि भूत मानस पुत्र है या पार्थिव-प्रत्यक्ष, और इस प्रश्न-चिह्न में वह अपनी वैज्ञानिक निष्पक्षता का गौरवलाभ करता। पर कहानी अणुओं के संयोग से बनती है और फिर विश्लेषण से विशीर्ण हो जाती। फिर उन विशीर्ण अणुओं से पाठक समूची कहानी का एक ही प्रयास में, मानस-साक्षात्कार करने की कोशिश करते और कहानी की यह अन्तिम काया पीलुपाक का प्रतिशोध बन जाती।

चेखव की एक कहानी में एक धर्मपत्नी एक पर पुरुष से प्रेम करती है। उस पर-पुरुष के यह ताड़ लेने पर वह झुँझलाती है और घर आ कर दाम्पत्य जीवन के अभ्यस्त शैथिल्य में एक आक्रामक सत्कार की संजीवनी फूँकती है। पति के घर आने पर इतनी आवभगत करती है, पति से सम्बद्ध वस्तुओं पर भी छोह का ऐसा गजब ढाती है कि पति भी दंग और पाठक भी दंग। यह असंगति, जीवन का यह द्वैत सजीवता का आवश्यक (पर्याप्ति नहीं) नियम है। केवट हठ भी करता है, अनुनय भी। भगवान के चरणों की धूलि इसलिए धो लेना चाहता है कि उसे आर्थिक हानि न उठानी पड़े और इधर पारिश्रमिक भी नहीं लेना चाहता। 'माम' की एक कहानी में जेन नाम की एक नारी साठ वर्ष की अवस्था तक भी अपने मृत पति का स्मृति चित्र अपने वक्ष से लगाये चलती है। फिर यह पतिपरायणा शादी करती है और एक तरुण पुरुष से। इस सम्बध के लिए व्यग्र युवक ही है। फिर इस युवक को छोड़ वह अस्सी वर्ष के एक वृद्ध अवकाशप्राप्त सैनिक से शादी करती है और युवक का बिलखना करुण-व्यंग्य-हास का विचित्र उदाहरण है। जेन का व्यक्तित्व सतत स्पन्दनशील, वेगवान, और असंगतियों से भरा पड़ा है, पर जेन की सजीवता किसे संदिग्ध मालूम पड़ेगी?

मैं श्रेष्ठतर मार्ग को जानता हूँ पर हेयतर मार्ग पर चलता हूँ, ('I know the better course but I follow the worse') जिस ज्ञानी ने कहा था, उसे सजीव शील के

असंगति का पूरा-पूरा ज्ञान था। गाँधी जी का अहिंसा के लिए दिन-रात प्रार्थना करना और काश्मीर की लड़ाई में जाने वाले सैनिकों को आशीर्वाद देना; अंग्रेजों को विपत्ति में परेशान करना अधर्म है, यह कहना, और फिर 'भारत छोड़ो' क्रान्ति का ज्वाल नेतृत्व करना सजीव शील की असंगतियों के उदाहरण हैं। प्रेरणा से काम लेनेवाले, प्राण-संगीत की लय पर झूमने वाले किसी यान्त्रिक संगति से काम नहीं लेते—उनके कर्म आन्तरिक सामंजस्य को पर्याप्त समझते हैं। हार्डी का हेन्चार्ड एक ओर तो अपनी धर्मपत्नी को कुछ मुद्रा लेकर बेच देता है—मानो गिरजाघर में धर्म की शपथ खा कर पाणिग्रहण करने की कोई नैतिक मान्यता ही नहीं—दूसरी ओर सुरापान न करने के व्रत का निर्वाह हो सके, इसलिए गिरजाघर में बाइबिल लेकर शपथ खाता है। फिर उसी धर्मपत्नी को शरण देता है। अपनी दत्तक पुत्री एलिजाबेथ को अपनी आँखों के सामने रखने के लिये उसके पिता से झूठ बोलता है, और दूसरी ओर जिस न्यायालय का वह न्यायाधीश है, उसमें एक अपराधिनी द्वारा लगाये गये पत्नी के बेचने के अपराध को वह स्वीकार कर लेता है, और इस तरह हरिश्चन्द्र-सा सत्यनिष्ठ दीखता है। मन और मर्यादा, स्वार्थ और स्वाभिमान की अनिवार्यता इसके मूल में है।

कुछ लोग सजीवता का एकमात्र मानदण्ड कुत्सित वासनाओं के नग्न मैथुन को ही मान बैठते हैं। मैं अपने एक विद्यार्थी की कहानियों में—जो शायद आत्मसन्तोष की एक तेज सरपट में अपने को प्रगतिवादी मानता है—बीभत्स और लज्जाजनक अवसादन वृत्तियों के गलित कुष्ठ, कपाल-रक्तपान का ऐसा कठिन आग्रह पाता हूँ कि मैं समझ नहीं पाता कि उसे कैसे विश्वास दिला दूँ कि भारतेन्दु-रचित हरिश्चन्द्र नाटक में श्मशान-चित्रण के बाहर भी सजीवता है। मवाद, मक्खी और मैथुन के ये साधनात्मक रहस्यवादी—"अशुभ भेष भूषण धरे भक्ष्याभक्ष्य जे खाहिं" काव्य के कविधर्मी हैं। मनुष्य के जीवन में संस्कार और शिक्षा, समाज के जीवन-दर्शन आदि से प्राप्त कुछ आदर्श भी घर कर जाते हैं। जब तक ये आदर्श बोधमात्र रहते हैं, शील के अंग नहीं हो सकते। जब ये आदर्श वासना बन जाते हैं, स्वार्थ बन जाते हैं, इच्छा में द्रवित हो जाते हैं, अहंकार हो जाते हैं तो ये शील में अभिव्यक्त होते हैं। इनसे द्वन्द्व होता है जो शील की सजीवता का अमृत-मंथन करता है। इन अर्जित आदर्शों के अतिरिक्त मानव-स्वभाव में शिव वृत्तियाँ-भी हैं और उनका अशिव वृत्तियों से संघर्ष प्राण-शक्ति का परिष्कार करता चलता है। परधीर और उदात्तशील संचित सजीवता है, इनमें आयु और गहराई अधिक होती है।

मोटे अक्षरों में सजीव-शील धीर की अपेक्षा ललित अधिक होगा, दक्षिण और अनुकूल की अपेक्षा शठ या दुष्ट या उद्धत अधिक होगा, पर मोटे-मोटे अक्षरों में। यह सही बात है कि धीर-शील में अंकुश और अनुशासन की मर्यादा है और सजीवता प्रवाह की स्वतन्त्रता चाहती है, पर हम जानते हैं कि जीवन में श्रम और विश्राम, गति और

प्रयोजन दोनों हैं, बिना व्यवस्था या सीमा के व्यय का अर्थ सजीवता नहीं, बल्कि क्षय है। धीर-शील में सजीवता के साथ स्थैर्य और गांभीर्य्य रहता है और इसलिए ललित-शील की चपल गति आपाततः अधिक सजीव मालूम होती है। झरनों की अपेक्षा नद कुछ अधिक मद्धिम मालूम होते ही हैं। बात यह है कि संस्कृत के शास्त्रीय वर्गीकरण वर्णों की परम्परागत व्यवहार-पद्धति के आधार पर, और प्रायः जीवन में केवल प्रेम-व्यापार को लेकर, किये जाते हैं। शान्त-शील के लिये ब्राह्मण और वैश्यों का ही विधान है—ब्राह्मण अपनी विरक्ति के कारण और वैश्य अर्थानुरक्ति से पित्तपीवी होने के कारण ! मालती-माधव के माधव और मृच्छकटिक या दरिद्र-चारुदत्त के चारुदत्त आज स्थूल दीख पड़ते हैं और उनके जैसा शान्त-शील अन्य वर्णों में भी मिल सकता है—शूद्र भी शान्त स्वभाव का हो सकता है। काव्य को किसी ऐसी सामाजिक मान्यता को प्रश्रय नहीं देना चाहिये जो शाश्वत नैसर्गिकता के बीच कृत्रिम व्यवधान उपस्थित करे। सामाजिक व्यवस्था बदलते ही कालान्तर्गत वर्णों के सामान्य लक्षण बदल जा सकते हैं, परन्तु व्यक्ति की मानवता बनी रहेगी। उसी तरह जीमूतवाहन (नागानन्द वाले) के शील को लेकर उदात्त बनाम शान्त वाला जो झमेला पाया जाता है, वह भी कुछ बालोचित दीख पड़ता है। जीमूतवाहन मालयवती से प्रेम करता है। बुद्ध की तरह शान्त होने के लिए इच्छाओं का निर्वाण होना चाहिये। फिर जीमूतवाहन में दूसरों के कल्याण और रक्षा की इच्छा भी तो इच्छा ही है। शान्त होना ब्राह्मणों का गुण है। उदात्त तो शक्तितेज, दृढ़ संकल्पयुक्त सैनिक, सचिव आदि ही हो सकते हैं, आदि, आदि। आग्रह इसी बात का है कि किसी तरह गरुड़ को अपना मांस खिला देने वाले जीमूतवाहन एक बार फिर उदात्त या शान्त के उदर में समा जाते। जब परशुराम रावण के प्रति अपने व्यवहार में उदात्त-शील का परिचय देते हैं, अज्ञान में राम के प्रति उद्धत हो उठते हैं, और ज्ञान-दशा में उसी राम के प्रति वही परशुराम शान्त हो जाते हैं, तो परशुराम की इस सजीवता और विविधता को यह कह कर टाल दिया जाता है कि महावीर-चरित्र में परशुराम उपनायक हैं और इनके लिये वर्ग के निष्ठुर नियम नहीं हो सकते—मानों ऐसी सजीव [illegible] कोई दोष हो। यह दूसरी बात है कि नायक के चरित्र की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ एक दूसरे से पूर्णतः विचित्र और विदेशी होंगी तो अन्विति और एकात्मता की भावना को ठेस पहुँचेगी और प्रतिमा खंडित हो जायगी। शील की अन्विति के लिये सजीवता का स्वच्छन्द चित्रण घातक हो सकता है। रावण के बीस मस्तक थे, पर मन बीस न थे, भरुण्ड पक्षी के मुख दो थे, पर जब एक ने विषपान कर लिया तो दूसरा भी मर गया। इस भाँति विविधता का अर्थ आत्मघात नहीं है। 'मैकबेथ' एक ही साथ महत्त्वाकांक्षी, प्रभुताप्रेमी महामण्डलेश्वर और शान्ति-आराधक, दरिद्रनारायण का उपासक सात्त्विक विभूति-सम्पन्न महात्मा मसीह या गाँधी भी नहीं

हो सकता था। अधिक-से-अधिक उसके हृदय में निर्दोष की हत्या से प्रायश्चित्त और राजनीतिक परिणामों के भय से उत्पन्न करुण भीरुता का द्वन्द्व ही हो सकता था। ललित-शील नृपतियों के ही भाग की चीज माना गया है। ऐसे राजा के सचिव शासक होंगे और स्वयं राजा आमोद-प्रमोद में लिप्त रह कर पटरानियों की ईर्ष्या और षड्यन्त्र की असुविधाओं के बीच एक नई सुन्दरी से सुहाग कायम करने के अध्यवसाय में ही शील की इतिश्री समझेंगे। इसी तरह नायक में शोभा, विलास, (प्रसन्नवदन), माधुर्य, गाम्भीर्य, (भावों पर विजयी होना), स्थैर्य (लक्ष्यपूर्त्ति के लिये अध्यवसाय), तेज (अपमान का प्रतिकार,) औदार्य (उपकार के लिये, लोक-कल्याण के लिये त्याग) आदि गुण जब एक ही साथ रूढ़ हो कर आते हैं तो कथावस्तु में भी शैथिल्य और विमूढ़ता आ जाती है। यह सही है कि आज कल के नायकों में हठ के रूप में दुर्बलतायें अधिक, तमोगुण अधिक, वाग्विलास अधिक पाया जाता है, पर विशेषणों की यह परम्परागत सूची परि-स्थितियों की परवाह नहीं करती, न हृदय की वृत्तियों के अनुशासन, मर्यादा और निय-न्त्रणों को, भावों के एक वेग में, धता बता देती है। उसी तरह मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, आदि का स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खंडिता, कलहांतरिता, विप्र-लब्धा, प्रोषितपतिका, अभिसारिका रूपों का जो वर्गीकरण है, वह दाम्पत्य सम्बन्धों की सामान्य दशाओं, मुद्राओं और चेष्टाओं को अपने में समेट लेती है। आज कल के नायक-नायिका भी गुप्त स्थान पर मिलते हैं, प्रेमी और प्रेयसी से प्रवास के कारण विप्रलम्भ की स्थिति हो जाती है; कलह भी होता है, अद्वितीय निष्ठा के भी उदाहरण मिलते हैं, नायक नायिका को धोखा भी देता है, आदि। पर शील-रचना सम्बन्ध की इस रूपरेखा में रंग भरने का काम है और इन दशाओं में व्यक्तित्व की विशेषता के परिणामस्वरूप प्रतिक्रिया की भी विशेषता होगी। फिर पुरुष, नारी के भाई-बहन, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, सखा-सखी, सम्बन्धों में शील की जो सात्त्विक अभिव्यक्ति होती है, उसे पूर्णतः विस्मृत कर शास्त्रकारों ने जीवन को एक रंगमहल-सा मान लिया है, जिसमें योगिनियों और निर्मुण्डों (वर्षधार, उपस्थायिक) के सहयोग से केवल प्रेमाखेट चलता रहता है और शील केवल प्रेम के स्थूल रीति-विहित हावों में ही समाप्त हो जाता है।

शील-निदान की शृंखला में आगे जिस क्रम पर हम विचार करेंगे वह है शील का नितान्त सामान्य लक्षण न हो कर, स्वलक्षण होना। सामान्य लक्षण वाले शील किसी दल, प्रदेश, मत, वाद, वर्ण या वर्ग, जाति या वासना के किसी ऐकान्तिक विशेष द्वारा निर्धारित होते हैं। इसी तरह पूँजीवादी, साम्यवादी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सामन्तवादी, क्रोधी, ईर्ष्यालु, शाक्त, वैष्णव, ओझा, तान्त्रिक, श्मशान-जीवी चाण्डाल, संताली और तिब्बती, सैनिक, नेता, शिक्षक, डाक्टर, न्यायाधीश आदि होने के कारण जो शील में भेद पाया जाता है, वह पात्र के अभ्यन्तर के कारण नहीं। पात्र जैसा स्वयं है, उसके

कारण उसका शील-विशेष नहीं, बल्कि जहाँ है, जिस पद पर है, जिस वासना के अधिकार से विवश है, जिस दल में जिस परिस्थिति और जिस मतवाद में है, उनके कारण । न्यायाधीश के शील की तटस्थता—जब वह तथ्यत: निर्दोष पर साक्षी प्रमाणत: दोषी मनुष्य को, या नव विवाहित युवक को, माँ के इकलौते को—फाँसी की सजा देता है—उसके आसन्न और आरोपित दायित्व की है । यदि न्यायाधीश का कोई शील है तो शव भी शील की क्षमता रख सकता है । हाँ, यदि न्यायाधीश के लिये न्याय—मनुष्य के बनाये विधानों पर आधारित न्याय—एक भावना है तो वह शील की अभिव्यक्ति बन पड़ेगी । न्यायाधीश दण्ड तो देता है पर यदि उसके हृदय में करुणा भी है तो हृदय-भूमि की इस समूची अन्तर्दशा का मानचित्र शील को अंकित करेगा । इस करुणा से प्रेरित हो कर वह यदि त्याग-पत्र लिख भेजता है या जीविका का खयाल कर फाँसी दे ही देता है, या अभ्यस्त-सा हो सवेदन-विमूढ़ हो गया है, तो इसकी छान-बीन भी शील के अन्तर्गत आयगी । यदि अपराधी सामने मौजूद नहीं और न्यायाधीश केवल घटनाओं और प्रमाणों की शास्त्रीय बुद्धि से परीक्षा करता है तो प्रभावित या द्वन्द्वग्रस्त करने वाली कोई परिस्थिति ही नहीं हो पाती, इसलिए शील के स्खलन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिए हाईकोट के जजों का कोई शील नहीं होता । उनकी निर्वैयक्तिकता वैयक्तिकता-निर्वैयक्तिकता नहीं, जो शील के अन्तर्गत आ सके । उनकी सहानुभूति दोनों पक्षों के प्रमाणों को समझने की है । डाक्टर सुहागिन से कहता है—"देखिये, आपके पति अधिक से अधिक दो घंटे तक जीवित रह सकते हैं, इन्हें अस्पताल में रखने से कोई फायदा नहीं" । सुहागिन फूट-फूट कर रोने लगती है और डाक्टर नर्स को लिये दूसरे 'केस' को देखने आगे बढ़ जाता है । यहाँ यदि डाक्टर तनिक भी शील-संकोच का अनुभव करता, सुहागिन की भावनाओं को कितनी चोट पहुँचेगी, इस दया से उन्हीं बातों को हमदर्दी और सान्त्वना और भय से कहता, तो उसके शील में हम एक सात्विक माधुर्य और सौम्यता का अनुभव करते । डाक्टर का शील यहाँ एक जीव का नहीं, जीविका का है । अभ्यास, आवृत्ति और संख्या के विस्तार से शील में कृत्रिम, निष्प्राण एकरूपता आ जाती है, और व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, कोमलता और द्रव कुंठित हो जाते हैं । लड़ाई के मैदान में एक साथी को मरते देख दूसरा साथी आगे बढ़ जाता है । अभ्यास प्रकृति का दमन करता है, संगीन की नोक को कुदाल बना देता है । उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के बाद जनता नगर में बड़ी संख्या में एकत्रित हो कर, शीघ्रता और संघर्ष का जीवन बिताने लगी । जनता ने व्यक्तियों को मिटा-सा दिया । गड्डलिका-शील आज के युग की देन है । परिवार—जहाँ हमारी वृत्तियों का पोषण और परिष्कार गहराई से होता है, आज विघटन की ओर जा रहा है, और सम्बन्ध हार्दिक न हो कर व्यावहारिक हो गये हैं । इसी तरह जननेता का हर्ष-करतलध्वनि के बीच करबद्ध, नत-

मस्तक ही खड़े होना, भाषण में घेन, चिघ्घाड़ और क्रन्दन आदि की जुबानी आतिशबाजी करना, नेता के शील का नहीं, बल्कि अनुयायियों के शील का द्योतक है। कुछ बँधे-बँधाये तरीकों से, नाटकीय हावों से, संक्रामक सुविधा से जनता वशीभूत हो जाती है। नेता-वक्ता का शील उन्हीं आवश्यकता और परम्परासिद्ध अनुभव की आवृत्तिमात्र है। हिन्दू यूनिवर्सिटी के शिलान्यास के अवसर पर बैठे राजा-महाराजाओं, बड़े लाट और बड़े रईस-ताल्लुकदारों के सामने गाँधी जी ने जो स्पष्ट और अप्रिय आलोचना कर डाली थी, वह देश की दुर्गति से उत्पन्न वेदना और सत्यनिष्ठा की दिगम्बर निर्भीकता का उदाहरण और एक मौलिक शील-स्वलक्षण वाले जन-नेता के अमोघ आधिपत्य का शिलान्यास था। जनता के निम्न स्तर तक आ कर, मधु-मिथ्या स्तुतियों से उनकी तन्द्रा को आसव पिलाना और अपनी लोकप्रियता बनाये रखना, नेताओं के सामान्य लक्षण-से हैं। परन्तु सत्य, स्पष्टवादिता, शत्रु तक को भी अपनी शक्ति, संकल्प और योजनाओं से अवगत करा देना; घुटने टेक सम्मानजनक समझौते के लिये प्रार्थना करना परन्तु निर्भीक वीरता का क्रान्ति-अंगार हथेली पर ले कर लाभ के लिए, लक्ष्य-पूर्त्ति की ललक में, क्षुद्रता और साधन की अपवित्रता से अपनी उन्नत आत्मा की सात्त्विकता को कलंकित न होने देना—एक शील-विचित्र जननायक की ही भोक्तृत्वपद्धति थी, जिसकी अभिव्यक्ति गाँधी जी के दीर्घकालीन कर्तृत्व की अपूर्व छटा में हुई।

द्वितीय परिच्छेद

आजकल आर्थिक विषमता का प्रश्न इतना विषाक्त और सर्वग्रासी हो गया है कि साम्यवादी दर्शन, सभ्यता और राजनीतिक व्यवस्था की माँग होने लगी है—एक जलती, लपटें फेंकती संघर्ष की भावना, जिसमें रोष, घृणा, हिंसा, विध्वंस आदि मनोविकार का आवाँ सुलगता रहता है और मनुष्य-मनुष्य का सम्बन्ध आर्थिक दृष्टि से, पुरुष-स्त्री का सम्बन्ध आर्थिक और यौन दृष्टि से तथा विचारों,भावों और आस्था का साम्य संगीनों के तीक्ष्ण तर्क से प्रतिष्ठित किया जाता है। साम्यवादी पात्र एक बार भी साध्य के सामने साधन की भावना से विचलित न होगा। वह दलव्यापी धर्मान्धता का एक माध्यम मात्र होता है। अन्धकार में षड्यन्त्र करने में उसकी आत्मा उसे तनिक भी न कोसेगी। अवसर के अनुसार नीति की भंगुरता से वह तनिक भी लज्जित न होगा। उसकी साधारण बातचीत में गरीबों और झोपड़ियों का अतिशयोक्ति से भरा दुर्दशा-वर्णन और सामन्तों, पूँजीपतियों आदि के लिए कण्ठस्थ अपशब्द रहेंगे। वह पूँजीविहीनों, श्रमिकों को साथी कहता चलेगा, चाहे भ्रातृत्व की भावना उसके हृदय को उस क्षण छू तक न गई हो। वह कला, साहित्य आदि में रस का पोषक न हो कर क्रान्ति-संदेश, आर्थिक व्यवस्था की आलोचना और वर्ग-संघर्ष के विमाता-पुत्र की भावना का प्रचार चाहेगा। ऐसा शील सामान्य-लक्षण होता है। यह समूह-व्यक्तित्व है। मन की दशाओं, भावों की अभिव्यक्ति में सामान्य लक्षण और स्वलक्षण के भेद देखे जाते हैं। क्रोध की अभिव्यक्ति हम हानि के कारण को हानि पहुँचाने में करते हैं, या विवश हो कर अपनी निर्बलता की असहायता में हम अपने ही सर को पत्थर पर पटकने लगते हैं। कभी-कभी इस विवशता की अनुभूति में लज्जा से जो ग्लानि होती है, उससे मुक्ति के लिए लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं। पर एक सबल के क्रोध का उदाहरण देखिये। डॉन नामक एक कुँआरा अब वृद्ध हो चला है। कहानी बताती है कि माँ के सिवा उसने किसी नारी से प्रेम नहीं किया। वह चट्टानों के करीब अपनी ही शराब बनाता, अपनी चाय बनाता, अपने ही बर्तन साफ करता, एकान्त का जीवन बिताता है। उस अतीत के युगों की रागरंजित सजीवता अब देखने को नहीं मिलती। पहले की जड़ी-बूटियाँ ताजी खुशबू से भरी और सप्राण होती थीं, अब के डाक्टरों की गोलियाँ मशीन की बनी और स्वाद-विहीन होती हैं। पहले लोग पाकशाला के कलाकार होते थे। पहले सुरा में सोमरस का स्वाद और अमृत रहता था। अब की सुरा में केवल पानी ही पानी है। इतने में सर्जेंट उससे कहता है कि उस पर न्यायालय ने जो जुर्माना किया है, उसे पड़ोसी चुका देंगे, पर वह जेल न जाए। डॉन को एक आदमी

ने, तरुण युवक ने छेड़ा था। डॉन ने उसे बनाकर पीटा और उसे यह सजा मिली। डॉन चट्टानों का बना, पहाड़ के कद का आदमी, जिसमें बर्बरता के साथ औदार्य भी है। वह कहता है—'मैं जुर्माना चुका, या चुकवा देता हूँ तो उस अशिष्ट नराधम को सन्तोष होगा कि आसानी से बदला फिर गया और वह फिर किसी सज्जन को छेड़ेगा। मैं बन्दी जीवन व्यतीत करूँगा, खाली तख्त पर नगी पीठ सोऊँगा; यातनायें सहूँगा, कष्ट झेलूँगा, जिससे शत्रु क्या शत्रु की आने वाली संतान भी लज्जा से कभी सर न उठा सके। मेरा क्रोध यों शांत न होगा'। यह पूर्णतः स्वलक्षण-शील की अभिव्यक्ति है।

क्रोध में अपने को हानि पहुँचाना जिससे शत्रु दण्डित होगा, इस तरह की मौलिक भावना और कल्पना की उड़ान, शील के ऐसे उल्लास और उत्साह का उदाहरण है जो समष्टि-गत नहीं, समूहगत नहीं, वर्गगत नहीं, सामान्य लक्षण नहीं, बल्कि व्यक्तिगत है। कानून की निर्वैयक्तिक निष्ठुरता और निष्पक्षता के सामने यह धीरोदात्त आत्मा झुकती है पर अपनी शान और मर्यादा के लिए। साधारण आदमी जिस कायरता से जेल जाता है, उससे भिन्न वीर की भाँति अपनी हार्दिक न्याय-भावना से प्रेरित हो कर वह भीष्म-भीम गधे पर चढ़ कर गाना गाते बन्दीगृह जाता है। न्याय उसके लिए एक सामाजिक व्यवस्था नहीं, एक आन्तरिक भोग है, परवशानुभूति नहीं, रसानुभूति है।

स्वलक्षण-शील की अभिव्यक्ति में एक उमंग होती है। ऐसा शील शास्त्र और स्वाँग दोनों से मुक्त होता है। स्वलक्षण-शील व्यक्तित्व का जातिगत सामान्यता से पूर्णतः विच्छेद-सा नहीं दीखता, पर भेद-बिन्दु इतना स्पष्ट होता है कि शील एक अपवाद-सा लगता है। इस अपवाद में जाति-धर्म का, वृत्ति का उल्लंघन नहीं, बल्कि यात्रा-भेद से एक नई स्वत-न्त्रता का आलोक देखने को मिलता है। स्वलक्षण-शील परम्परा, परिस्थिति, सामाजिक नीति-धर्म आदि के नियन्त्रणों और प्रतिबन्धों के प्रति एक सरल, अध्ययन-सिद्ध नहीं, अपेक्षा का भाव रखता है। 'महाजनो येन गतः' वाला बहुसंख्यक मार्ग उसके प्रतिभा-प्रकाश से मेल नहीं खाता। उसका शील, रीति, और नीति, पाणिनियों की दृष्टि से निषिद्ध या अशुद्ध भले ही हो, प्रेरणा और व्यापार, बाह्य और आभ्यन्तर की साधु-मैत्री उसकी विशे-षता है। स्वलक्षण-शील निन्दा या स्वीकृति, विधि और निषेध की परवाह नहीं करता। इसलिए स्वलक्षण-शील में साहस अधिक प्रतीत होता है। लोक-लज्जा से उद्भूत भीरुता का वह बहुत दूर तक विजेता मालूम होता है। इसीसे स्वलक्षण-शील में हठ और क्षिप्रता अधिक होती है। वह गणितांकित नहीं हो सकता। वह मूल्यांकन नहीं है। वह अदर के वितान (Tension) से मुक्ति चाहता है। स्वलक्षण-शील की मौलिकता इतर-संभा-वना, जो विपरीत नहीं, भिन्न दिशा है, में अपना मोक्ष पाना है। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं के अतिरिक्त ईशान, वायव्य, नैऋत्य और अग्निकोणों की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। जिस तरह ऊँट के पश्चिम भागने की कपोल-कथा से हम हँस पड़ते हैं

उसी तरह प्रत्याशित संभावनाओं को चुनौती देने वाला शील स्वलक्षण कहलायगा। स्वलक्षण-शील में प्रतीक्षा कम, इच्छा अधिक, प्रयास कम, आकस्मिकता अधिक होती है।

प्रत्याशा की इस पराजय का कारण होने के नाते स्वलक्षण-शील बहुधा हास्य का स्रोत भी होता है। 'गोल्डस्मिथ' का टोनी लंपकिन अपने ही बहनोई को गुमराह करता है और अपने ही बाप के घर को सार्वजनिक भोजनालय बताता है। फिर अपने ही आर्थिक हितों के विरुद्ध षड्यन्त्र कर माँ के विरोधी के रूप में भी अपने ही घर चोरी कराता है, क्योंकि एक ग्रामबाला, जो औरों की निगाह में फूहड़ और बेतरह मोटी है, उसको जँच गयी है। पाठक, श्रोता या द्रष्टा को ऐसा लगता है कि स्वलक्षण-शील पात्र उससे बाजी मार ले गया—समाज को, परम्परा को, रीति-रस्म को, शिष्टाचार के प्रतिबन्धों को, सभ्यता की नाकेबन्दी को चुनौती दे कर, आत्माभिव्यक्ति में सफल हो कर। जहाँ पुत्र माता के पति हो जाते हैं, वहाँ स्वलक्षण नहीं, क्योंकि वहाँ कोई समाज का प्रतिबन्ध नहीं है। ऐसे शील का निर्माण जीवन से नहीं, निसर्ग से नहीं, बल्कि ग्रंथों से प्रेरणा लेता है और मानवीयता के सामान्य लक्षण से पूर्ण और तात्त्विक विच्छेद कर बैठता है। इसका विचार रुग्ण-शील के अन्दर आयगा, नहीं तो हर पागल आदमी स्वलक्षण-मौलिकता का कुंकुम-बिन्दु अपने भाल पर लगाना चाहेगा।

दूसरा दोष यह है कि ऐसे आदमी का शील संयुक्त अन्विति न हो कर, असंपृक्त अंश हो जाता है। पारिवारिक जीवन में, साहचर्य से, भाई-बहन, माता-पुत्र, सखा-सखी, (भाभी-देवर-सम्बन्ध का एक रूप) आदि के सम्बन्ध की पवित्रता भी व्यक्तित्व का एक अंग बन जाती है। मल और दूध, मूत्र और मक्खन के प्रति स्वस्थास्वस्थ विवेक की सत्ता उड़ा नहीं दी जा सकती। यदि यह कहा जाय कि हमारे शैशव, उन्माद और मादकता के आवेश में ऐसे विचार नहीं रहते, तो विशुद्ध शैशव, उन्माद और मादकता का विचार भी शील-निरूपण के लिए विषयान्तर ही है।

दो-एक उदाहरण देख लें। डायोजनिज नामक सन्त और अनुशासन-सबल दार्शनिक एक टब में जीवन-यापन करता था। जाड़े के एक दिन भोर के समय जब सूरज उग रहा था, सिकन्दर आता है और कहता है—'प्रबुद्ध, मैं कौन-सी सेवा आपके लिए करूँ? आज्ञा दें।' एक विश्व-विजेता का प्रश्न था यह। यदि डायोजनिज फल-फूल तक माँगता या कहता—'मुझे कुछ नहीं चाहिए' या कहता—'तुम रक्तपात करना या स्वतन्त्रता का अपहरण करना छोड़ दो', तो उसका शील असाधुओं के परम्परायुक्त शील की आवृत्ति मात्र होता। किन्तु बिना सोचे-विचारे, प्रत्याशित संभावनाओं के रहते भी, डायोजनिज ने कहा—'तुम सूरज की धूप और मेरे बीच खड़े हो, हट जाओ।' डायोजनिज ने माँगा, पर यह संभावना हम लोगों की कल्पना में न आई थी। पर ऐसा भी नहीं लगता कि मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता था। शान्ति ही आनन्द है और शान्ति की, स्वतन्त्रता की यह माँग हमारे हृदय की,

मानवीय स्थल की माँग मालूम होती है। डायोजनिज बाजी मार ले गया। उसके ऊपर सिकन्दर की अलौकिक आभा का आतंक न छा सका। इस अप्रत्याशित या इतर-संभावना के सर्जन से ऐसे स्वलक्षण-शील में विदग्धता का गुण पाया जाता है। पर विडम्बना जहाँ मस्तिष्क की जागरूकता का परिणाम है, वहाँ वह स्वलक्षण-शील हृदय का प्रत्युत्पन्नमतित्व भी है।

शेक्सपियर के 'मेजर फॉर मेजर' में एक अपराधी को फाँसी की सजा दी गई है। वह तृणशय्या पर लेटा है—सुखद आलस्य की गोद में आत्म-विभोर हो कर। कर्मचारी आते हैं, कहते हैं—'चलो टँगने का वक्त हो गया।' अब यदि वह कहता—'एक बार माँ से मिल लेने दो', या 'भाई रिश्वत ले लो, छोड़ दो', आदि, आदि, तो शील सहज तो होता, साथ ही साथ रूढ़िसम्मत भी, यानी मुद्रालय में ढला जैसा। उसकी प्राण-मुद्रा मुद्रित-सी दीखती, आत्म-मुद्रित नहीं। वह कहता है—'अजी, जाओ भी, आज मरने को जी नहीं चाहता। इस मौसम में—(कल्पना से जोड़ लें, सिहरन की वासन्ती सर्दी होगी) भी कोई शरीफ मरेगा?' इतनी भयानक और विषम परिस्थिति के भय-पुलक, हर्ष-पुलक में बदल जाते हैं। इस स्वयं-पर्याप्त, परिस्थिति-विभोर उदात्त आलस्य-शील के अनुपम सौन्दर्य के सामने मूक ही होना पड़ता है। व्यावहारिक बुद्धि इस प्रमादग्रस्त मूर्खता पर हँसती है। पर कौन कह सकता है, ऐसा साहस सौ में एक आदमी में भी होगा? अनेक के बीच एक की ऐसी शीर्ष-भंगिमा मनोहर चीज है, जो बरबस ही अपनी विचित्रता से हमारा प्रसादन करती है। घोर तामसिकता से अवसादन ही नहीं, प्रसादन भी होता है। शुक्ल जी का निष्कर्ष ऐसे शीलों को भूला-सा दीखता है। कौन ऐसी मस्ती से पेश आना नहीं चाहेगा? स्पष्ट है यह पात्र मरने से भागता नहीं, कायर नहीं है। केवल एक काल-विशेष में मरने की क्रिया करना चाहता है। वह कालग्रहवर्ती है, कुछ कोरा रूढ़िबद्ध नहीं। उसका अहं, उसकी आसक्ति, उसके अभ्यन्तर की यह सरल ग्रंथि उसे हृदय के निकट बिठाती है। ऐसे 'हृदय लपेटे अटपटे' सबके ही तो सगे हैं, ऐसों पर तो 'करुणाअयन' भी विहँसते हैं! हृदय के प्रत्युत्पन्नमतित्व का भी यह एक निराला उदाहरण है।

शेक्सपियर के हास्य-प्रधान नाटकों में सर्वप्रिय पात्र फाल्सटाफ रणभूमि में बारूद के स्थान पर ब्राण्डी की बोतल ले जाता है; बर्नार्ड शा का 'आर्म्स एण्ड द मैन' वाला ब्लन्ट-श्ली चाकलेट और क्रीम ले जाता है। पर फाल्सटाफ मादकता की अतृप्त तृषा की तुष्टि के लिए ले जाता है, और दूसरा व्यावहारिक बुद्धि से प्रेरित हो कर, युद्ध के काल्पनिक सौन्दर्य और धर्मान्धता की निस्सारता सिद्ध करने के लिए। शा का पात्र यह प्रचार करने के लिए है कि युद्ध वीर-गति प्राप्त करने वाले, देशभक्ति से प्रेरित हो कर आत्मोत्सर्ग करने वाले त्यागियों की अग्नि-परीक्षा नहीं, यह तो नरमेध से पूँजी बनानेवालों का निष्ठुर कुचक्र है, जिसमें दरिद्रता के शिकार, मृत्यु से जीविका उपार्जित करने को विवश

युवक फँस जाते हैं। फाल्सटाफ का शील स्वलक्षण है, ब्लन्टश्ली शैली का आरोपित या दायित्व वाहक शील है, जो शा के विचारों का बोझ सँभाले है।

यह निर्विवाद है कि स्वलक्षण-शील का गुण गीत्यात्मक (lyrical) होता है, वह प्राण का मुक्तक गीत है। वह दूसरों के छिद्रान्वेषण और आलोचना करने के बदले दूसरों को ही आत्मस्थ करना चाहेगा। ऐसे शील की अधिवादिता भी नैसर्गिक होती है। ब्राउनिंग की एक कविता में एक प्रेमी अपनी प्रेयसी की प्रतीक्षा विरहोत्कंठित मन से करता है। मन की लालसा इतनी तन गई है कि धैर्य का चरम बिन्दु भी निकट आ पहुँचा है। उधर बड़े घर की लाड़ली पिता, समाज, कुल, बन्धु-बान्धव आदि की दीवारों को फाँदकर आज कटिबद्ध हो अपने प्रेमी की होने आयी है और कहती है, 'इस क्षण मैं तेरी हूँ, सर्वात्मना।' प्रेमी निर्निमेष देखता है और फिर प्रेयसी की ही कुन्तल-राशि से उसके गले का पाश बना उसे वहीं घोंट देता है। वह ढेर-सी पड़ जाती है और प्रेमी अपने कपोलों पर उसके कपोलों को रख, फिर उसे अपने कन्धे पर रख, बैठे-बैठे रात गुजार देता है। भोर होती है, पर ईश्वर भी मूक है। उसने भी एक शब्द नहीं कहा। अद्वैत और प्रेम की पूर्णाभिव्यक्ति, परत्व को स्वत्व बनाने की यह शैली यदि मौलिक नहीं, और फिर भी हार्दिक नहीं, तो न मौलिकता ही कोई चीज है, न हार्दिकता ही।

इसी तरह ब्राउनिंग की एक दूसरी कविता में, दवा की शीशियों की कतार देखते-देखते, मृत्युशय्या पर पड़े प्रेमी की स्मृति उसकी प्रेयसी की छवि जगा देती है। बगल में पादरी उससे प्रायश्चित्त या कृत-स्वीकृति की आशा में बैठा है। वह सब कुछ कहता चलता है, फिर एक आकस्मिक प्रत्यावर्तन के आवेश में, एक वैयक्तिक उमंग में, कहता है—'यह भी कैसा पागलपन था, कितना दुःखद, पर बुरा न था'। पादरी रूढ़िगत ढंग से उसका कलुषरेचन कराना चाहता है, पर प्रेमी अपनी भोक्तृत्व-पद्धति से अपनी आसक्ति और अपने अहं को जीवित रखता है और अपने व्यक्तित्व की मर्यादा को ही प्रश्रय देता है। यह है व्यक्ति का निजी धर्माचरण (personal ethies) जिसका सत्य भावों के बाल-सरल उद्घाटन में है। ऐसे लोगों में बेहयाई की भी झलक एक विशेष चश्मे से देखने पर मिलेगी।

प्रेक्षक या पाठक में मूलबन्धुत्व जागरित करने की क्षमता शील-वैचित्र्य का प्रथम और अन्तिम अंकुश है और शील के आश्रय में हमारी श्रद्धा और आस्था का आधार है। मूल बन्धुत्व कर्तृत्व के मूल में भोक्तृत्व के स्थायी उपकरणों से लिप्त रहने की माँग है, कर्मों को प्रेरित करनेवाले शाश्वत सुखात्मक या दुःखात्मक भावों की प्राकृतिक भोग-पद्धति की माँग है। यह व्यष्टि में समष्टि-निवेदन का व्याप्ति नियम है। कोई मानवीय व्यापार नितान्त उद्भिज या खनिज विजातीय या नृम्नयोनि-संबन्धी-सा न दीख पड़े, यह आवश्यक है। अशोक का कलिंग-विजय में द्रवित हो जाना, ह्यूगो के जीन वाल्जीन का धर्मगुरु

के सद्व्यवहार से पर-दुःख-कातर हो जाना, उन्हें नितान्त खनिज होने से बचाता है, नहीं तो वे हृदय की शिला बने रहते और उनके शील का अहल्योद्धार न हो पाता। काम से क्रोध उत्पन्न होता है—गीता की यह चेतावनी हम जानते हैं, पर ऐसा काम बाधित या अतुष्ट काम होगा। शंकर का कामदेव पर प्रलयंकर क्रोध परिस्थिति-सापेक्ष नहीं मालूम पड़ता। यदि शंकर कामोत्तेजित हो किसी अप्सरा से उलझ पड़ते, फिर पीछे सारे षड्यन्त्र का और अपनी आकस्मिक दुर्बलता का ज्ञान होता, तो कामदेव पर उनका क्रोध माननीय-सा दीखता। ऐसा न हो कर समाधि टूटी, इधर-उधर देखा और छिपे कामदेव पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें क्रोध हो आया। काम और क्रोध कारण-कार्य न होकर एक पत्र के दो तात्कालिक पृष्ठ हो जाते हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि मनोविशुद्ध-सहज्ञान-सुख की अपेक्षा सहस्रगुण अधिक आनन्दमय होता है। यह भी सिद्ध होता है कि वास्तव में काम-सुख की प्राप्ति ने शंकर को वंचित किया, अपहृत किया, कुछ आनन्द की वृद्धि नहीं की। इस हानि पर वे हानि के कारण के लिए त्रिलोकनाशी रुद्र हो गये। पर समाधि-सुख की अनिर्वचनीयता, कैलाश का तुरीयस्राव हमारे अनुभव की बात नहीं। इसलिए शंकर का रोष हमारे लिए मूल-बन्धुत्व का रोष नहीं, अन्तरिक्ष के विद्युत् का है। यह सूक्ष्मयोनि-संभवी है और विशुद्ध देवता का है। नारद-मोह और फिर नारद-ज्ञान, तत्पश्चात् नारद का शाप, समझ में आने की बातें हैं। उसकी प्राणशक्ति की गति और क्रियायें मानव का समष्टि-निवेदन है। शेक्सपियर के टाइमन की अतिदान-शीलता को जब कपटशूल मित्रों की कृतघ्नता से आघात पहुँचता है तो वह मनुष्य-जाति का द्रोही बन जाता है—कुसुम से भी मृदुल, वज्र से भी कठोर हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य और स्वर्ण का एक-एक कण उसके लिए उस मूल प्रकृति के प्रतीक बन जाते हैं, जिसका परिणाम कृतघ्नता है। राग का घृणा में यह परिवर्त्तन कालसहधर्मी होने के अतिरिक्त हमारे नैसर्गिक सत्तातत्त्वों में किसी नूतन तत्त्व के आविष्कार-सा नहीं दीखता, बल्कि उन्हीं के घनत्व या विप्लव-सा प्रतीत होता है। इसलिए ऐसे शील को हम हृदयंगम कर सकते हैं।

काव्य के अवतार-विधान में मूल-बन्धुत्व के आग्रह से विशेष घनिष्ठता और प्रासंगिकता है। अवतार शील-निर्माण का बड़ा ही अनाशुतोष परीक्षण है। अव्यक्त और अमल चेतना का अवतरण तीन प्रकार से हो सकता है—(१) बिल्ली की भाँति—बिल्ली ऊँचाई से गिरती है और पंजों के बल ज्यों की त्यों खड़ी हो जाती है। बनयन के पिलग्रिम्स प्रॉग्रेस या स्पेंसर के फेयरी क्वीन के पात्रों का शील इसी कोटि में आता है। संस्कृत नाट्य-साहित्य के इतिहास से परिचित पाठक जानते हैं कि कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के पात्र विवेक और मोह, प्रबोध और विद्या, मति और दम्भ, श्रद्धा और मिथ्यादृष्टि, न्याय और सांख्य आदि में अवतरण को ज्यों का त्यों रख दिया गया है। यह विकार-मुक्त अवतरण है। इनकी सत्ता अर्थसांकेतिक है। यही अर्थ सांकेतिक अवतरण (१)

मार्जारावतरण है । पात्र ऐसे लगते हैं, मानों घुटी खोपड़ी पर हिंगोट का तेल लगा कर कोई कहे—'देखो, मैं मुनि हूँ'। (२) घड़े की भाँति या घटावतरण—घड़ा पृथ्वी पर गिरता है और चूर-चूर हो जाता है, चाहे तो मिट्टी मिट्टी में मिल जाय—यदि वह घड़ा भी कच्चा है । इसमें अलौकिक की अलौकिकता लुप्त हो जाती है और इतनी घोर तामसिकता आ जाती है कि सात्विक ज्योति का नाम ही नहीं रह जाता । दुर्गासप्तशती की चण्डी को इस कोटि में रख सकते हैं । शेक्सपियर के ए मिड समर नाईट्स ड्रीम में परियों के, राजा और रानी के अलौकिक गुणों का केवल वर्णनमात्र हुआ है । जहाँ उनके शील की कर्मों में अभिव्यक्ति हुई है, वहाँ तो वे साधारण मनुष्यों से भी गये बीते हैं । (३) बादलों-सा अवतरण या मेघावतरण—बादल उतरते ही जल बन जाते हैं, जगत् की सीमाओं के अनुरूप अपनी आकृति बनाते हैं, फिर भी उनका तात्त्विक सातत्य बना रहता है । कूपाकार, सरिताकार, घटाकार, जल हो जाता है । राम सीता के विरह में 'खग मृग मधुकर स्रेणी' से विह्वल और कातर हो कर सीता का पता लगाते हैं और सोने के मृग के पीछे दौड़ मायामृगी के व्यंग्य के शिकार होते हैं । एक ओर वे विभीषण-सुग्रीव के साथ पक्षपात करते हैं, दूसरी ओर परशुराम-रावण आदि के सामने, ऋषियों के लिए वन को निरापद करने, अहल्योद्धार करने, शान्ति, आनन्द और करुणा बिखेरने में अलौकिक आभा से युक्त दीखते हैं । केवट और शबरी के राम नितान्त कफ, पित्त और वात वाले मनुष्य ही नहीं है । फिर भी राम अपनी करुणा में केवट पर हँसने, शरणागत विभीषण को अभय-वैभव दान देने, समुद्र पर कुपित होने, जयन्त को सबक सिखाने, शूर्पणखा को लक्ष्मण के पास भेजने आदि में सहोदर-से मालूम पड़ते हैं । यदि किसी पात्र में लम्ब स्थैर्य (vertical rigidity) इतना अधिक हो कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से वह पूर्णतः मुक्त दीख पड़े तो वह केवल आश्चर्य और आतंकपूर्ण आदर का पात्र भले ही हो, भ्रातृभावना अर्जित नहीं कर सकता ।

यहाँ एक प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक दीखता है । वह यह कि यदि अत्यन्त विनीत प्रजा-जन किसी राजा के निकट जायँ और उनके गिड़गिड़ाने पर कुपित हो यदि राजा उन्हें कोड़े लगवाये तो ऐसे राजा का शील मूलबन्धुत्व जागरित करने की क्षमता रखता है या नहीं ? हूण सम्राट् मिहिरकुल मनुष्यों के तड़पने-चिल्लाने पर आह्लाद प्रकट करता है । शुक्ल जी का निष्कर्ष यह है कि हृदय ऐसी विलक्षणता पर स्तम्भित, क्षुब्ध या कुपित होगा, उस आह्लाद में दर्शक या श्रोता का हृदय योग न देगा । हाल में जब एबिसिनिया पर बम गिराये जाने लगे तो आकाश-मार्ग से विमान-बिहार करते मुसोलिनी की आत्मा आह्लाद से प्रफुल्लित हो उठी थी । मार्लो का टेम्बरलेन भी नृशंसता और क्रूरता का दानव-सा दीख पड़ता है। जर्मनी में नाजियों के एक विशेष जीवन-दर्शन से विक्षिप्त होने के परिणामस्वरूप रक्त की अन्धी साम्प्रदायिकता के आत्म-गौरव के फल-

स्वरूप, आह्लादमयी क्रूरता और परपीड़न-विलास की जो सामूहिक लहर चल पड़ी थी, हिटलर-युग के जर्मनी का प्रत्येक यहूदी इसका साक्षी है। ईर्ष्याजनित परपीड़न या आत्म-रतिजन्य स्वपीड़न मनोविज्ञान की प्रतिष्ठित मान्यताएँ हैं। ऐसी अवस्था में पात्र में ऐसे रक्षक गुण न भी हों जिनसे वे हमारे प्रियबन्धु जान पड़ें तो ऐसे गुण तो अवश्य होंगे जिनमे उनके आलंबन के प्रति हमारा बन्धुत्व जान पड़ता है। अशोकवाटिका का रावण सीता की करुण परिस्थिति का निर्माण करता है; वह आश्रय नहीं, उसके शब्द अनुभाव नहीं, उद्दीपन हैं। आश्रय हैं गोस्वामी जी या तरु-पल्लव में छिपे हनुमान्। परन्तु ऐसे शीलों की सत्ता उभयात्मक होती है। एक ओर तो दीन अबला के प्रति क्रूरता से पेश आ कर ऐसे पात्र उद्दीपन-विभाव का काम करते हैं और दूसरी ओर, ऐसे पात्र स्वयं आलंबन भी बने रहते हैं। इनकी क्रूरता के प्रति हम (पाठक, प्रेक्षक या श्रोता) घृणा तथा रोष से भर जाते हैं। घृणा और रोष का हमारे जीवन-तत्त्वों की भोक्तृत्व-पद्धति से सम्बन्ध है। ऐसे पात्र निसर्ग-सापेक्ष तथा प्रकृति-परिमित हो कर हमारे बन्धुत्व को जागरित करते है, बन्धुत्व को समरतत्पर, विरोधाकुल वीरता से भर देते हैं। वे राघव-बन्धु न होकर कौरव-बन्धु हो जाते हैं।

उन्मत्त विजेता का अट्टहास शक्ति की मौलिक वासना का अतिशयोक्तिस्वरूप ही है। कुछ हद तक अत्याचार का कारण जितना ही दुर्बल होगा, अत्याचारी का शील उतना ही अनायास होगा और उसके प्रति हमारी घृणा और क्रोध का घनत्व उतना ही अधिक होगा। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मात्रा-भेद से गुण-भेद आ जाए। शील संस्कृति-कृतघ्न हो यह तो सहा भी जा सकता है, परन्तु निसर्ग-स्वतन्त्र हो, यह मन नहीं स्वीकार कर सकता। कोई मूर्ख की प्रशंसा करता है तो यह रति का व्यभिचार हो कर संकर-व्यापार द्वारा एक स्वतन्त्र रस (हास्य रस) बन जाता है। ऐसा आदमी व्यंग्य-कुशल होकर 'विदग्ध' कहलाएगा। उसे शील-वैचित्र्य के नाम पर फाँसी पर लटका नहीं दिया जायगा। बुद्धि द्वारा निर्मित और बुद्धि को विद्युत् आघात पहुँचाने वाले प्रसूत, व्याख्यात्मक, विकल्पात्मक, उन्मेषनिःशक्त, प्रज्ञासाध्य चरित्र मूलबन्धुत्व नहीं जागरित करते, शील का शल्यपाण्डित्य दिखाते हैं। उनसे केवल क्रीड़ा या विनोद संभव है, परिणय नहीं। साधारणीकरण की क्रिया में असाधारणीकरण भी रहता है। धीरोदात्त, असाधारण साहसी, असाधारण रति के भाव वाले शील के प्रेक्षण में हम पात्र की अतिशयता से अपनी सामान्य साधारणता घटाते है। इस ऋण की क्रिया के अनन्तर जो शेष बचता है, वही शील की स्थिति की आवश्यक माँग है। विशेषता इसी अतिरिक्तता का कार्य है। यही कारण है कि दाम्पत्य जीवन का सामान्य निर्वाह करने वाले पति-पत्नी का कोई शील नहीं होता, क्योंकि इसमें नवोन्मेष नहीं दीखता। जब किसी दम्पत्ति में पत्नीपरायणता या पातिव्रत्य का असाधारण आग्रह हम देखते है तो सावित्री, पार्वती, या गांधारी की संभावना चरितार्थ

होती है । आरुणि की गुरुभक्ति के कारण बाँध पर सो जाने में मूर्खता का सुस्वादु ह्रास भी हाथ लगता है । हम इनको प्रवृत्ति में लीन होते हैं । इसलिए कि अपनी न्यूनता या अविकम्पित सामान्यता का विसर्जन कर दें । अभाव-पूर्त्ति की कामना से अनुप्राणित होकर हम ऐसे शीलों के साक्षात्कार से एक तरह के सम्प्रदान-सन्तोष या निमित्त-लाभ का भोग करते हैं । जो हम न हो पाये, हमारे लिये वे पात्र कर दिखाते । उस वक्त हम 'जायाजीव' हो जाते हैं । संस्कृत में मंच के अभिनेताओं को कभी-कभी 'रूपाजीव' या 'जायाजीव' कहा गया है, क्योंकि वे अपनी पत्नियों की उपार्जना पर जीते थे । ऐसे ही जायाजीव सुख का लोभ और लाभ हमको उनमें लीन करता है । जब ऐसा असाधारणीकरण अप्रिय और अशिव वृत्तियों का होता है तो मूलबन्धुत्व का गत्यात्मक स्वरूप प्रतिकूलबन्धुत्व में देखने को मिलता है। राघव और कौरव-बन्धुत्व की दो शाश्वत दिशायें हैं सहोदर और अन्योदर । स्नेह और ईर्ष्या की भावनाएँ व्यापक और शाश्वत हैं । इसलिए जहाँ हम शील-रमण न रह कर शील-द्रष्टा हो जाते हैं, वहाँ राघव-बन्धुत्व का साक्षात्कार न कर हम कौरव बन्धुत्व का करते हैं, और इस प्रत्यक्ष के प्रति हमारी प्रतिक्रिया पांडव-प्रतिक्रिया होती है, जिसमें हम कटिबद्ध हो, भावोद्वेलित हो हृदय से क्षुब्ध होते हैं। इसलिए ऐसे शील भी मूलबन्धुत्व के भीतर आयँगे ।

जहाँ कलाकार किसी शील का निर्माण जीवन की पद्धति पर न कर, शील को जीवन का सहोदर न बना कर, जीवन को मतिकल्पित व्यवस्था का अनुचर बना देता है, वहाँ शील की अपादान स्थिति हो जाती है, जो पार्थक्य-बोधक है । ऐसे शील रस-शील न हो कर कौतुक-शील हो जाते हैं । बुद्धि द्वारा निश्चित जीवन-दर्शन या सामाजिक व्यवस्था को उदाहृत करने वाले ये शील होते हैं, जिनसे आपके ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, रस-का उद्रेक नहीं । मैन एंड सुपरमैन में स्त्री-पुरुष के मकड़ी-माखी, बाज-लवा, अजगर-आदम सम्बन्ध पर आधारित जो शील-विधान किया गया है, वह नूतन नर-नारी का मालूम पड़ता है और मूलबन्धुत्व की क्षमता नहीं रखता । रति का यह विपरीत मृगया-विधान, जिसमें शिकारी भागता है और मृगी पीछा करती है, अभूतपूर्व-सा दीखता है । स्त्री, प्राणशक्ति के प्रयोजन का अवतार है, पुरुष एक आवश्यक निमित्त कारण है । पात्रत्व प्राणशक्ति का प्रयोजन है, मिट्टी कुदाल के दण्ड के पीछे दौड़ती है, जिसमें प्रयोजन चक्र चलता रहे और जाति की सत्ता बनी रहे । व्यक्ति का आचरण एक निष्ठुर नियति की राग-बधिर अनिवार्यता की वैज्ञानिक व्यवस्था हो जाता है । शा के संसार में लैला-मजनू, पद्मावती-रत्नसेन, रोमियो-जूलियट, एन्टनी-क्लियोपेट्रा, शकुन्तला-दुष्यन्त, कृष्ण-राधा के प्रेम की विशेषता के लिए स्थान नहीं ! ऐसा प्रेम सिर्फ एक भारी गप्प है । ऐसा प्रेम, भावना-विलास का व्यक्तिगत मोह है, अतएव शा के प्रबुद्ध संसार में वह स्थान नहीं पा सकता । शा इसे व्यावहारिकता में बाधा पहुँचाने वाली रुग्ण भावुकता मानते हैं और

प्रेम में प्रयुक्त होने वाले 'मेरे हृदय की रानी' और 'मेरे हृदय के राजा' आदि संबोधनों को स्वप्न-संगीत मानते हैं। उनके दूसरे नाटक में एक पात्र, एक दृश्य में, एक सुन्दरी पर अपने प्रेमोद्गारों का पीयूषवर्षण करता है और सुन्दरी के हटते ही गृह-[illegible] से भी प्रणय प्रारम्भ कर देता है। प्राण-शक्ति की भूख तृप्त होती है। बात यह है कि शा के पात्र आत्म-हनन और रस-निर्वासन के पात्र हैं। उनकी [illegible] है। उनकी प्रतिभा आदमकद नहीं। शा द्वारा निर्मित पात्रों में शील का केन्द्र सर ही है। शा गले से ऊपर के शील के विशेषज्ञ हैं। हार्डी का क्रिस्टफर कोनी, मुर्दों के साथ कब्र में दफनाये पैसों को निकाल कर, शराब पी लेता है। मस्तों की, गप्पियों की यह टोली जीवन की चार्वाक-शैली अपनाये फिरती है। क्रिस्टफर का कहना है कि मौत को जिन्दगी के साथ चार पैसे भी क्यों चुराने दिया जाए। शील के द्वारा चोर के मुख पर, यह एक तमाचा है। बाद में इस पर पंचायत बैठती है। क्रिस्टफर की इस अधार्मिकता की निन्दा भी होती है; पर, प्रधान न्यायाधीश का फैसला यह है—'भई, यह क्रिस्टफर की बदमाशी है। महज चार पैसे के लिए कब्र खोदना ठीक नहीं, छै पैसे हों तो बात कुछ और है'। यह है जिन्दादिलों की पूँजी-सापेक्ष साधुता। उपभोग की इस खैयामी बेखुदी से वे हमारे अंतस्तल में पड़ी वासना का मर्म छू देते हैं, और मूलबन्धुत्व अर्जित कर लेते हैं। यही बात यदि शा को दिखानी हो तो उनका पात्र आँकड़ों की दशमलव-साधुता से यह सिद्ध कर देता कि कब्र में गड़े मुर्दों के साथ दफनाई पूँजी बंध्या-सी पड़ी रहती है और व्यवसाय में उसके उपयोग से समाज का कितना हित होगा। और, वह किसी तुषार-गणित की बुद्धि के द्वारा निश्चित योजना से कब्र की खुदाई करता, मुर्दों को फेंकवा देता और श्मशान को उपजाऊ खेत बनाता। इतिहास को, या एक विशेष योनि के जितने संस्कारों को, हृदय अमिट रूप से ग्रहण करता है, उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। शिक्षित सभ्यता अपनी बुद्धि की छुरी चलाती और मानसिक आलस्य का कद्दू कट जाता। शा के 'शैतान का चेला' नामक नाटक के नायक की ऐसी ही विशुद्ध बौद्धिक प्रगल्भ सत्ता है। शा के पात्र बड़े ही वाचाल और तर्कप्रवीण होते हैं। विचारों का, दृष्टिकोणों का विरोधाभासों का, मल्ल युद्ध देखते ही बनता है 'शैतान के चेले' के पिता की मौत होती है और वह कवाब की माँग करता है। वह पादरी की बीबी को यह कह कर चौंका देता है—'घृणा के स्वाँग के पीछे तुम मुझ से प्रेम करती हो'। वह पातिव्रत्य को कोरी भावना या समाज की जर्जरित रूढ़ि सिद्ध करता है। पीछे शत्रुओं से पादरी को बचाने के लिए उसका ओवर-कोट ले शूली तक चूमने को चल पड़ता है। फाँसी देने वाले शत्रुओं से वैसे ही तन कर बोलता है, और अपने प्रति प्रकट किये गये कृतज्ञता के उद्गारों को निरी मूर्खता समझता है, मानता है। ऐसा शील विशुद्ध विवाद-शील है और हमें परास्त करके छोड़ देता है, हृदय पर राज्य नहीं करता।

हक्सले के 'द ब्रेव न्यू वर्ल्ड' के वैज्ञानिक शील, जो श्वानों की राल-व्यायाम पद्धति पर बनाये गये हैं, मौत के नाम पर आह्लादित और 'माता' शब्द की हास्यास्पदता पर चकित होते हैं। यन्त्र-मानवों का यह समुदाय शील मस्तिष्क के सामान्यीकरण, सरलीकरण के दृष्टान्त हैं, साधारणीकरण के नहीं। यह कार्य के लोक-व्यवहार की ऐसी नूतन सृष्टि है, जिसमें व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव में भेद नहीं। मनुष्य रासायनिक ग्रन्थियों का एक यन्त्र है और उसका शील हमें ऐसा लगता है जैसे बालि के लड़कों को रावण की आकृति लगी—जब वे उसे एक विचित्र जन्तु समझ क्रीड़ा के लिए अस्तबल में ले गये। ऐसे पात्र मूल-बन्धुत्व अर्जित नहीं करेंगे। वे रज-वीर्य के बने नहीं मालूम होते, बल्कि रज-विद्युत् के।

पिठरपाक दर्शन का शब्द है। उसका व्यवहार निदर्शन की सुविधा से किया गया है, प्रदर्शन के लोभ से नहीं। पीलुपाक और पिठरपाक क्रमशः वैशेषिक और न्याय के परिवर्तन-सिद्धान्त हैं। पीलुपाकवालों का कहना है कि ताप से कच्चा घड़ा (अवयवी) अपने परमाणुओं (अवयवों) में विशीर्ण हो जाता है। फिर इन लाल परमाणुओं से एक दूसरा घड़ा तैयार होता है। इसके विपरीत लोक-सम्मत-सिद्धान्त, जो न्याय सिद्धान्त से मेल खाता है, पिठरपाक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार घट और उसके परमाणुओं में रंग का परिवर्तन एक साथ होता है, कोई दूसरा घड़ा उत्पन्न नहीं होता। पात्रों के सम्बन्ध में दोनों पद्धतियाँ देखी जाती हैं और पात्रों में पिठरपाक परिवर्तन ही निसर्ग-सम्मत है।

वनवास के ताप में राम के चरित्र का कच्चा घड़ा रख दिया जाता है। राम वन जाने के पहले भावना से अधिक कर्त्तव्य-पालन में उत्साह पाने वाले जीवनभोक्ता हैं। वनवास में राम, सीता के विरह में बिलखने, लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर रोने, वन का कष्ट झेलने और रावण से भयंकर युद्ध करने को बाध्य होते हैं। अब यदि सीता-वनवास के समय राम अपने कर्तव्य से मुकर जाते तो मर्यादा की दृष्टि से तो अलग, शील की दृष्टि से भी वे अन्य राम दीख पड़ते—ऐसा लगता कि राम ने आज्ञा-पालन कर, दूसरों के प्रति करुणा कर, लोक-रक्षा और लोक-रंजन कर यह ज्ञान प्राप्त कर लिया कि यह मार्ग बड़ा ही कष्टकर है, इस झमेले में कौन पड़ने जाए। उनके शील के ज्ञान-पक्ष के अणु का पकना, लोक-सम्मति, संकोच और लोक-संग्रह से हट कर उपभोग के रंग में होता; कर्म के अणु-युद्ध, स्वावलम्बन, समुद्र-सेतु-बन्धन आदि के बदले अब राज-सुख, दाम्पत्य-सुख, सन्तति-सुख आदि के रंग में पकते। भाव-पक्ष के अणु, करुणा और पर-हित में निहित शान्ति के रंग से बदल कर भय, कायरता आदि के रंग में रँग जाते। इसी तरह इन तीनों परिवर्त्तित अणुओं और उनके रंगों से एक दूसरे राम होते, जो एक धोबी क्या, वशिष्ठ के कहने पर भी बधिर बने रहते। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं का आविर्भाव शील का लक्षण हो सकता है, पर एक ही परिस्थिति में

भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ शील का नैरात्म्यवाद है, क्षणिकवाद है, जिससे किसी अन्विति की संभावना नहीं। यदि राम जटायु का श्राद्ध नहीं करते, विभीषण को संकोच से संपदा नहीं देते, शबरी के घर नहीं जाते, जयन्त को दण्डित नहीं करते, तो परिस्थिति की नाट्य-शाला में टँगे चित्र की भाँति वे विकार-मुक्त होते। इसलिए उनकी भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ ठीक हैं; पर साथ ही वैयक्तिक सुख और लोक के आदर्श, प्रेम-भावना और कर्त्तव्य के द्वन्द्व में कर्त्तव्य में ही अपने को सुखी जानना, राम के समस्त व्यक्तित्व की बीज-कौमुदी है। (इसलिए 'भावना बनाम कर्त्तव्य'—ऐसी परिस्थिति की आवृत्ति में कर्त्तव्य-पालन की आवृत्ति ही उनके शील की अनिवार्यता होगी)। इसलिए राम के वनवास की अग्नि के बाद जब उनके चरित्र का घड़ा पक कर तैयार हुआ तो घड़ा वही था, भले ही रंग बदल गया हो। नीति-निपुणता, धैर्य, पिता का मरण और भरत का वियोग; तप को ले कर कुछ उन्मन अवसाद की भावना; हनुमान् सुग्रीव, अंगद आदि साथियों के प्रति स्नेह के साथ कृतज्ञता की भावना; और दुष्टों के दमन से सन्तोष और हृदय का हल्कापन आदि, इस वर्ण-परिवर्त्तन के उदाहरण होंगे। ऐसा चित्रण, ऐसा शील-विधान पिठरपाक शील-विधान है, जिसमें व्यक्तित्व के तीनों सत्ता-तत्त्व संपृक्त रहते हैं, और एक साथ बदलते हैं।

इसी प्रकार यदि किसी ऐसे शील का विकास दिखाया जाए, जिसके आरम्भ की अभिव्यक्ति एक सन्त के इन्द्रिय-दमन और आध्यात्मिक अनुशासन के रूप में हो और कथा में प्रलो-भनों का कुछ ऐसा आकर्षण और सशक्त सान्निध्य हो कि यह सन्त-प्रकृति व्यक्ति घोर कामुकता में ग्रस्त हो जाय तो शील की सत्यता के लिए हमारी माँग क्या होगी? हम यही चाहेंगे कि प्रारम्भिक अभिव्यक्ति में ही इस विस्फोट की संभावना की बीजावस्था की ओर संकेत कर दिया जाय, जिससे हम धवल आध्यात्मिकता के साथ संपृक्त इस वासना को ऐसे व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग मानते चलें। यही नहीं, यदि पूर्वावस्था की स्मृति जीवित रहे और स्मृतिजन्य द्वन्द्व या आत्मग्लानि बनी रहे तो हमारी सहानुभूति अपेक्षाकृत तीव्रतर होगी। परिवर्त्तन समूची मानवता का एक साथ होगा—आध्यात्मिकता में कामु-कता का मिश्रण होगा और कामुकता में आध्यात्मिकता का। यदि ऐसा न होता तो इश्कमजाजी का इश्कहकीकी का जीना नहीं कहा जाता और सूर-तुलसी का, कामियों से सन्तों में परिवर्त्तन, हमारे लिए कुतूहलमात्र होता, एक अद्भुत चमत्कार होता। तुलसी राम को भी कहते हैं—

> "कामिहि नारि पियारि जिमि लोभहिं प्रिय जिमि दाम।
> तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।"

तुलसी का परिवर्त्तन हुआ है, रंग बदला गया है, पर मायके तक दौड़ जाने वाले, सर्प को रस्सी समझ लेने वाले तुलसी ही बदल गये हैं, नये तुलसी नहीं आ टपके हैं।

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

जहाँ साधना से योगी पूर्णतः वीतराग हो जाते हैं, वहाँ एक निरपेक्ष शील का आवि-र्भाव होता है। ऐसे शील काव्य के विषय नहीं। हैमलेट का अपने पिता के भूत से साक्षात्कार होता है और माता की जघन्य अपवित्रता का ज्ञान होता है, तो एक साथ हैम-लेट के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व शक्तियों में संशय का घुन समा जाता है। माता अपवित्र तो रक्त का स्रोत अपवित्र, पुत्र के शरीर का कण-कण अपवित्र ! और वह चाहता है कि उसकी ठोस मांस-अस्थियाँ ओसकणों में पिघल कर विलीन हो जाएँ ! नास्तित्व की इच्छा, जो उतनी शाश्वत है जितनी अस्तित्व की वासना, उसे पंगु बना देती है ! उसकी अपनी प्रेयसी औफलिया भी आखिर औरत ही तो है ! और सती भी तो कलंकित हो जाती है ! कर्म में विलम्ब और फिर कर्म में विस्फोट इसी अनिश्चय की अवस्था और विक्षिप्त तथा अव्यवस्थित चित्त के द्योतक हैं। ह्यूगो के जीन वाल्जीन में, पादरी के सम्पर्क के बाद, जो मौलिक क्रान्ति होती है उसके बीज पहले से ही उसके शील में थे। उसने बड़ी कठिनाई, द्वन्द्व-यातना के बाद चोरी करने की कोशिश की। जेल के नारकीय जीवन ने उसके ज्ञान के अणुओं को नर-द्वेष के रंग में रँग कर, भावाणुओं को प्रतिशोध में रँग कर और कर्माणुओं को अपहरण, हत्या आदि में रँग दिया होता, और इन नये रंगों के अणुओं से एक क्रूर हत्यारे और नर-द्वेषी के शील का निर्माण किया होता, तो हम अपरितुष्ट रहते, क्योंकि हिंसा, अपरहण आदि से संकोच करने वाले पारिवारिक जीन वाल्जीन का शील खंड-खंड हो जाता और यह दूसरा वाल्जीन होता। इसलिए जब विप्लव की भयानकता लिये सहानुभूति, भ्रातृत्व और करुणा की बाढ़ उसके हृदय को एक बार डुबो देती है तो यह आकस्मिक परिवर्त्तन, दलित शील-धर्म का पुनर्जागरण और पुनरुद्घाटन है। हार्डी के हेन्चार्ड के जीवन में ऐसा परिवर्त्तन होता है कि उस परिस्थिति में शील की सजीवता के साथ निजधर्मिता का निर्वाह बड़े ही कुशल कलाकार का काम था। हेन्चार्ड एक अकिंचन से कैस्टरब्रिज का मेयर हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में पुराने दायित्वों, छोटी बातों, राह के कीड़े-मकोड़े से लगने वाले सम्बन्धियों आदि के प्रति वह उपेक्षा दिखा सकता था। आवेश में आकर उसने स्त्री को बेचा तो आवेश की अवांछनीयता का पाठ उसे भुलाना चाहिए था। पर, हेन्चार्ड का शील, उसी आवेश, उसी त्याग, उसी प्रायश्चित्त, स्पष्टवादिता और अहंकार की घोर अतिवादिता के तत्त्व का सातत्य लिये हुए है, किसी बिलकुल ही नये शील का आविर्भाव नहीं हो गया है, जिसे हम पहचान न सकें।

'पिठरपाक' विकास शील के मूल वन्धुत्व धर्म की नहीं, बल्कि मूलबीजत्व धर्म की माँग है। परिवर्त्तन के साथ-साथ, जिस बीज-भाव, जिस आदि संकल्प, के तप से शील संवर्धित हुआ, उससे सर्वथा भिन्न शील के पल्लव, पुष्प या फल नहीं होने चाहिए। यह बीज-भाव (जैसे, प्रभुता का लोभ, ईर्ष्या, प्रतिशोध, प्रेम, महत्त्वाकांक्षा, यश.कामना) शील की आकृति

में परिवर्त्तन लाने की स्वतंत्रता परिस्थिति या आवेष्टन को देता तो है, पर यह स्वतंत्रता ब्योरों तक सीमित रहती है। व्यक्तित्व का पर्याय बातचीत के कामचलाऊ समझौते में व्यक्ति का मुखमण्डल या मुखाकृति भी होता है। प्रकृति को यह स्वतन्त्रता है कि शीतला का अभिशाप बनकर वह आये। परन्तु जिस विशिष्ट आकृति से व्यक्ति का व्यावर्त्तन होता है, उसकी मूल रेखाओं, उसके आधार-मान को यदि मिटा दिया जाय तो हम कहेंगे यह दूसरा व्यक्तित्व है। आग में जले चेहरे को यदि हम बिल्कुल न पहचान पायें तो हमें विश्वास हो जायगा कि चेहरा दूसरा है। इस तरह अपनी प्रेयसी के जले चेहरे पर भी हम रो न सकेंगे, क्योंकि रोने के लिए यह आवश्यक है कि हम कह उठें 'आह, वह कमल-सा चेहरा, और उसकी यह दुर्गति ! विधाता, यह तूने क्या किया ?' जब तक हम अल्पातिअल्प सादृश्य से भ्रम में पड़े रहते हैं और हमारा निर्णय स्तम्भित रहता है तब तक की अनिश्चय-अवस्था भी हमारे हृदय के टुकड़े-टुकड़े करती रहेगी। पर यदि हम बिल्कुल न पहचान सकेंगे तो हम आगे बढ़ जायेंगे और मनुष्य होने के नाते एक हल्की सी हमदर्दी ही दिखा सकेंगे। यह दया या सहानुभूति हमारे शील की अभिव्यक्ति होगी—उस जले व्यक्तित्व के अतीत की मधुर स्मृति के प्रति प्रतिक्रिया नहीं। यह अनुभव एक नये साक्षात्कार-सा होगा—पुराने परिचय की प्रेममयी स्मृति और वेदनामयी तुलना लिये नहीं। आकृति से यदि हम न भी पहचान सकें तो स्वर, शब्दों, या हावों से भी अभिन्नता का बोध हो सकता है। उसी तरह शील की आकृति में निराशा, विश्वासघात, भूगर्भराशिप्राप्ति, संस्कारकृतघ्न रति आदि आघातों से विप्लव-सा परिवर्त्तन हो सकता है, पर यह परिवर्त्तन सर्वथा भिन्न की सृष्टि नहीं होगा। व्यक्तित्व एक मांसल आकृति न भी हो पर हर शील की एक मानस मूर्त्ति हो जाती है। परिस्थितियों के बीच मनुष्य जो कर्म करता चलता है, जिन वचनों का व्यवहार करता चलता है और जिन भावों की दुबिधा में पड़ा रहता है, उन सबसे शील की आकृति बनती चलती है। यह शील की गति-सापेक्ष अभिव्यक्ति होती है। पर शील के पीछे स्थिर, तात्त्विक रूप से जो प्रेरणा-संकल्प रहता है, वह शील की रूपाकृति की सामान्य रेखाओं को हृदय-पट पर अंकित कर छोड़ता है, जिससे शील के विकास को हृदयगंम करने में सुविधा है। किसी रसिक का भक्त होना हम समझ सकते हैं पर निर्गुण या योगी होना शील का पीलुपाक विकास होगा। यही कारण है कि तुलसी और सूर के कामातुर पूर्व और सगुणोपासना के अपर को तो हम समझ सकते हैं, परन्तु स्त्री के मायके तक जानेवाले तुलसी तथा चिन्ता वेश्या पर मरनेवाले सूर, कबीर के निर्गुणवादी विरोधाभासों, प्रतीकों और पहेलियों के माध्यम से बोलने लगते तो इसे हम संभावना का बलात्कार कहते। कोई आवश्यक नहीं कि एक दयालु व्यक्ति सदा दया करता चले—डंक मारने वाले बिच्छू पर भी। पर संसार की दुःखानुभूति से विराग-विह्वल हो महाभिनिष्क्रमण करनेवाले बुद्धदेव के मार्ग में यदि कोई घायल पक्षी गिर पड़े और बुद्धदेव उसे एक बार अपनी गोद में न लें, उस पर करुणा के हाथ न फेर दें, उनकी रक्षा के लिये

कातर न हो जायँ, बल्कि पैरों से टाल कर किसी बिहार के एकत्र जिज्ञासु शिष्यों की टोली की ओर बढ़ जायँ तो हम समझेंगे, शील-विधान की चेतना ऊर्ध्वश्वास ले रही है।

उत्तरार्द्ध का विक्षिप्त नरद्वेषी टाइमन (Shakespear का पात्र) पूर्वार्द्ध के लोकप्रिय रसिक टाइमन से भिन्न नहीं, क्योंकि एकान्त में पलायन करनेवाला, घृणा और विद्वेष की भट्ठी में जलने वाला, विक्षिप्त टाइमन, मूलतः आत्मरत शील वाला टाइमन ही है। पूर्वार्द्ध का टाइमन कोई परोपकारी, करुणासबल, बन्धुत्व-भावुक हृदय वाला नहीं। वह तो चाटुकारी, मिथ्या उक्तियों और आत्मपूजन के चरणोदक का प्यासा है। हिरण्यकशिपु और टाइमन सगोत्र हैं। आत्मरति की बीजेच्छा से उत्पन्न उसके शील की दो आपाततः विपरीत अभि-व्यक्तियाँ, उसकी सामाजिक सदस्यता के दो ध्रुव-सीमान्त एक ही जीवित और अखण्ड निसर्ग-प्रवाह के भिन्न क्रम बन जाते है। संगीत से हम उदाहरण ले सकते हैं। राग असावरी को आप चाहें तो त्रिताल या झपताल या अन्य किसी ताल में गा सकते हैं। ताल, संगीत में, काल-तत्त्व का विधान है। मूल रागिनी देश-तत्त्व है। अब ताल के भेद से तानों के वितान, शब्दों की मात्रा की मर्यादा के भीतर अनुशासन आदि बातों में भेद हो सकता है। परन्तु स्वरों के उस गुणात्मक-वनियोग में, जिससे मूल रागिनी अन्य रागिनियों से पृथक् पहचानी जाती है, हस्तक्षेप करना, उस गति के सतीत्व को ही नष्ट करना नहीं है, उसके अस्तित्व को खण्डित करना है। फिर ताल का कठोर से कठोर निर्वाह इस संकर-सन्तति को अपांक्तेय बनाने से नही रोक सकता। वही हालत शील के भोक्तृत्व पक्ष के इस बीज-संकल्प की है। स्वतंत्र से स्वतंत्र स्वधर्म-शील में भी इसका निर्वाह आवश्यक है। डायोजनिज और मृत्यु दण्ड वाले व्यक्ति के उदाहरण जो पहले दिये गये हैं, उनमें भी इसका निर्वाह है। डायोजनिज को, प्रकृति के सरल जीवन और संतोष की शांति से उत्कृष्ट या अतिरिक्त क्या मिल पाता सिकन्दर के वैभव और पराक्रम से? विश्व-विजेता शारदीय सूर्य की सुनहली धूप नहीं दे सकता—जिसे हर गरीब मुफ्त पाता है और जिसका आनन्द उसी को अधिक मिलता है जिसके तन पर जाड़े में वस्त्र नहीं। उसी तरह आलस्य-विलास की बीज-तालिका से, बन्दी की अतुलनीय चिन्ता-मुक्ति का रहस्य-द्वार खुल जाता है। इससे एक बात होती है। हमें घटना-वैचित्र्य या शील-वैचित्र्य के लिए एक अंकुश मिल जाता है और साथ-साथ एक अस्पष्ट आशा भी हमको गुदगुदाती रहती है। इस आशा के कलेवर को हम निश्चित नहीं कर सकते पर इसकी गति-दिशा की एक मार्मिक पूर्वानुभूति करते चलते हैं। परशुराम-लक्ष्मण-संवाद तथा अन्य स्थलों पर जब हम लक्ष्मण के शील से इस तरह परिचित हो जाते हैं कि वे राम के विरोध में प्रलाप, दर्प आदि का सहन नहीं कर सकते और तर्कस से तर्क करने-वाले हैं, तो शूर्पणखा के भाग्य का पूर्वाभास हमें मिल जाता है, और भरत पर उनका बिगड़ना भी खलता नहीं। केवट भी भय से कहता है—"चाहे लक्ष्मण हमें तीर से मार दें पर हम बिना पैर धोये पार न ले जायँगे"—जिसमें लक्ष्मण इस दीन के कठिन आग्रह पर पिघल

जायँ। कुत्ता कभी-कभी छड़ी देखकर ही भूँकता है, सजा खाने तक नहीं रुकता। छड़ी तथा कुत्ते का सामीप्य देख हम कुत्ते की असुविधा या भय का पूर्वाभास कर लेते हैं, चाहे उसका स्वरूप—केवल भूँकना, आक्रमण करना या भागना आदि—भले ही निश्चित न कर सकें। इस बीजभाव को पुष्ट करने के लिए, घटनाओं की आवृत्ति की जाती है जो प्रच्छन्न अभिन्नता से शील की मूल रागिनी को गुँजाती चलती हैं। इससे लाभ यही होता है कि विभिन्न कर्मों और वचनों के बीच भी हम पहिचानते चलते हैं कि पात्र न तो केवल 'यह' है न केवल 'वह', बल्कि यह 'वही' है। प्रत्यभिज्ञा की माँग इस पिठरपाक विकास का एक निष्कर्ष हो जाता है। आजकल हम सिनेमा में पहले नायक में शृङ्गार का स्त्रैण आग्रह पाते हैं, फिर अचानक दृश्य बदलते ही शील का 'क्लैब्य', 'शौर्य' में बदल जाता है। कंघी के कामी जब अचानक मुष्टिक के महावीर और मल्ल के भीम बन जाते हैं तो पहिचानना थोड़ा कठिन हो जाता है। देश में पूर्ववत् स्थिति बनी हुई है। परिस्थिति में कोई परिवर्त्तन नहीं। फिर भी एक ही शील दो मूलतः भिन्न तत्वों से निर्मित-सा प्रतीत हो तो प्रत्यभिज्ञा में बाधा होनी है। मान लें किसी गाँव में दो भाई रहते हैं। छोटा भाई बड़े भाई के प्रति श्रद्धा रखता है, क्योंकि बड़ा भाई रुपये-पैसे के मामले में घोर ब्रह्मचारी है और खुद छोटे भाई को कुछ पैसों के लिये कमजोरी है। गाँव भी बड़े भाई को देवता मानता है। अब मान लीजिये, बड़ा भाई किसी स्त्री से प्रेम करता है। प्रेयसी को, इस प्रणय-भेद को जानने वाले एक मद्यप से पिण्ड छुड़ाने के लिये ५०) की जरूरत है। बड़ा भाई गाँव के एक समृद्ध पर श्रद्धालु निवासी के घर चोरी करता और पकड़ा जाता है। अब यदि छोटा भाई ईर्ष्या या द्वेष से प्रेरित हो, साधुता के ब्रह्मचारी के अचानक स्खलन से उत्पन्न आनन्द से कहता फिरे—'जानते हैं कि नहीं? ब्रह्मचारी जी व्यभिचारी निकले। मुझे नहीं मालूम था कि मेरे भाई साहब एक ही साथ दो-दो थे'—तो यूरप के वैज्ञानिक और उनके पट्टशिष्य शील-निर्माता कहेंगे—"छोटे भाई की श्रद्धा जिस भाँति समाज में परम्परा से प्रतिष्ठित आचार-मूल्यों के संस्कार के कारण स्वाभाविक थी, उसी भाँति द्वेष का यह पित्त-वमन भी स्वाभाविक है। छोटा भाई सदा अपने को बुरा समझता था। आज उस अभाव-भावना से उत्पन्न ग्लानि, संकोच या विघात की निसर्ग-सम्मत मुक्ति-वेला है। उसी की मुक्ति ने इस अश्रद्धा का रूप धारण कर लिया है। यह मनोवैज्ञानिक यथार्थ का उदाहरण है, क्योंकि इसमें मनुष्य के रसातल में सोये बर्बर-विशुद्ध विसर्ग का विस्फोट है, जो सभ्यता के कृत्रिम हठयोग और प्रतिबंधों से बाधित नहीं।" पर शील के इस रहस्यवाद को दूर से ही प्रणाम। श्रद्धेय के प्रति पूज्य भावना और ईर्ष्या की अमंगल कामना, दोनों ही एक ही आलम्बन के प्रति दिखलाने से, शील की प्रतिक्षण नूतन सृष्टि होती रहती है और तब पहचानना कठिन हो जायगा कि व्यक्तित्व एक ही है। स्वाभाविक प्रतिक्रिया तो ऐसी होनी चाहिए कि छोटा भाई लज्जित होता। यही नहीं, वह जाकर अपने हृदय-मंदिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा को खण्डित करने वाले उस

पतित बड़े भाई के प्रति क्रोध भी करता, भर्त्सना करता—पर इस क्रोध के पीछे उसे आराध्य की प्रतिमा खण्डित होने का विषाद होता; मोह और आसक्ति अब भी उसका पीछा नहीं छोड़ती; वह स्तब्ध हो जाता; स्वप्न-भंग के कारण उसकी आँखें पथरा जातीं ! पर अपने बड़े भाई के कलंक और पतन पर आह्लाद प्रकट करना—यह तो एक नये शील की अभिव्यक्ति होगी !

प्रतिनिधित्व करनेवाले या [illegible] शीलों में प्रत्यभिज्ञा की कठिनाई बहुधा देखी जाती है। मैथिलीशरण गुप्त की 'पञ्चवटी' में भी शूर्पणखा की यही हालत है। परम्परा से प्रतिष्ठित और पञ्चवटी में पहले-पहल आनेवाली शूर्पणखा एक कामी नारी है। वह वासना से अंधी है और अपने रूप-जाल में वीरव्रती लक्ष्मण को फाँसना चाहती है। रूप, लावण्य या भय से प्रीति उत्पन्न करना शायद उसके शील का केन्द्रीय संकल्प है। परन्तु शनैः शनैः यह शूर्पणखा बर्नार्ड शा की अर्वाचीन नारी हो जाती है और स्त्री-जाति की असहायता, पुरुषों के अन्याय, आचार-शील की मीमांसा, पाप-पुण्य आदि के पक्ष-विपक्षों को लेकर वाद-विवाद शुरू करती है और त्रेता की शूर्पणखा के नाखून बीसवीं शताब्दी के पुरुषों के मुँह नोचने लगते हैं। बात यह थी कि मैथिलीशरण जी की ऐतिहासिक बुद्धि असंतुलित हो गई और अतीत को वर्त्तमान-सा सजीव बनाने की अपेक्षा वे वर्तमान को ही अतीत में ले गये। शील का यह विपरीतावलोकन समीचीन नहीं। गुप्त जी की शूर्पणखा पर तिथि की मुहर लग जाती है। मिल्टन का शैतान प्रारम्भ में ईश्वर द्वारा अपने अहंकार और द्वेष आदि प्रवृत्तियों के कारण स्वर्ग से निष्कासित होता है। आगे चल कर व्यक्ति-स्वातंत्र्य की समानता का, न्याय का, वह धर्म-योद्धा बन जाता है। हैमलेट जहाँ जंगम मंचों की लीला-मण्डली वालों से बातें करता है वहाँ महारानी एलिजाबेथ के राज्यकाल के मंचों और अभिनेताओं के अभिनय की त्रुटियों की आलोचना, संशोधन और मार्ग-निर्देशन करने लगता है। स्पष्ट मालूम होता है कि यह डेनमार्क का कोमल-प्रकृति राजकुमार नहीं, विक्षिप्त पुत्र नहीं, बल्कि शेक्सपीयर का ध्वनि-दत्तक है। Merry Wives of Windsor के फाल्सटाफ और Henry IV के फाल्सटाफ की तुलना की जाय तो इसी खण्डित प्रतिमा और बाधित प्रत्यभिज्ञा के उदाहरण मिलेंगे।

संश्लिष्ट-विविधता शील को स्तूप-निःस्पंदन से बचाती है। यह शील में मूलबीजत्व की नहीं [illegible] प्राण-हरीतिमा और शाखा-स्वातंत्र्य की माँग है। Ben Jonson के नाटकों में यदि पति एक बार पत्नी के सतीत्व के प्रति सशंक हो जाता है तो बराबर छिद्रों से देखता है, प्रत्येक परिस्थिति में, प्रत्येक दृश्य में, भय और शंका से मरता रहता है। ऐसा न होकर—किसी पात्र को केवल पति के रूप में न रखकर—उसे भाई के रूप में, मित्र के रूप में शासक के रूप में, नेता के रूप में रख कर उसके हृदय की विविधता का साक्षात्कार करना चाहिए। किसी प्रोफेसर का शील यदि दिखाना हो तो केवल बुद्धि-पुरस्सर

व्याख्या, ओजस्वी भाषणों, गंभीर मुद्रा, नीले-मोटे फ्रेम के चश्मे के भीतर से झांकती आँखों, प्रतिभा की यहूदी या अरबी जिद के रूप में नुकीली दाढ़ी, और विचित्रवीर्य की भाँति निस्सन्तान होने की दयनीयता आदि का दिखाना ही पर्याप्त न होगा। सिनेमा में प्रोफेसरों का शील-निर्माण इन तत्वों से होते मैंने देखा है—(१) विद्यार्थियों की निरंकुशता और प्रोफेसर के अनुशासन का असामर्थ्य (२) मोटी किताब को चश्मे के भीतर से पढ़ना—भरसक लेटे-लेटे (३) अब्बर वोका जब्बर वोकी का व्यंग्य-दाम्पत्य या (४) प्रोफेसर की स्त्री का वन्ध्या होना। प्रोफेसर का शील उसे उसकी कल्पना और विचार के संसार तथा नग्न एवं निर्मम वास्तविकता के संसार के द्वन्द्वों के बीच रखने से देखा जा सकता है। उसे विद्यालय की प्रतीक सत्ता के बीच लीला करते देखें, फिर उसके मानवीय मूलबन्धुत्व के मर्म का स्पर्श करें। माता के लिए कोने में अनाथ बच्चे की भाँति रोते उस विद्वान् की कराह सुनी जाय। उसकी कामुकता के साथ सम्पृक्त मूल्यों और आदर्शों का ध्रुव तप देखा जाय, वितर्क-जाल में फँसे, आस्था की उत्तुंग भव्यता के लिए घुट-घुट कर मरते उसे देखा जाय; सूक्ष्म से सूक्ष्म सौन्दर्य के रसास्वादन की क्षमता रखनेवाले उस चिन्तक को कोई मूर्ख, वज्र-जड़ पदाधिकारी तुंदिल वणिक्, संतोष और कृपि-जीवन की विरक्ति का पाठ पढ़ाने लगें तो देखिये, घृणा के बलगम के साथ कितने कीड़े, कितने ताप में खौलते, इन उपदेशकों के मुख पर पड़ते हैं। और, पहली तारीख को मधुकरी की लज्जा और ग्लानि से भरी प्रोफेसर की झोली जब विद्या की वेश्या-वृत्ति पर पश्चात्ताप करती है तो संस्कृत-शील के उस रस-शिलाजीत के स्राव की कल्पना कीजिये। और, दुनिया में सुन्दर से भी सुन्दरतम प्रोफेसर के उस अहंकार को देखा जाय तो साधारण जनों, परित्यक्तों, अपने ही शिष्य-पुत्रों के चरण-रज छू अपने को धन्य समझता है और इस तरह बलशालियों और धनिकों के मुँह पर तमाचे लगाता है। आप देख सकेंगे कि विविधता के प्राणपल्लव किस तरह अपना वसन्तोत्सव मनाते हैं। नहीं तो शायद व्यक्तित्व के शिशिर का ठूँठा पीपल ही हाथ लग सकता है।

इससे पहला लाभ यह होता है कि ऐसे शील के सौन्दर्य में रुचि-पोषण अन्त तक बना रहता है, प्रेक्षक जगे रहते हैं। इसके अतिरिक्त, आवश्यक रूप से जिन भिन्न परिस्थितियों की उद्भावना करनी पड़ती है, उनसे शील संघटित ही नहीं घटित भी होता चलता है। टीका की कम आवश्यकता पड़ती है। शील का वर्णन नहीं होता, उसका सक्रिय साक्षात्कार होता चलता है। ऐसा शील स्वयं-सिद्ध-सा हो जाता है—हम साक्षी और न्यायाधीश दोनों होते हैं। जीवन के सत्य का प्रसार और शील का वर्द्धमान देश-विस्तार होता चलता है। 'संश्लिष्ट' से आग्रह इस बात का है कि क्षण भिन्न हो, पल्लव की दिशायें भिन्न हों, पर बीज की भिन्नता न हो, नहीं तो प्रत्यभिज्ञा में बाधा पहुँचेगी।

विकल्प-क्लिष्ट शील सामान्य प्रत्यय हो सकते हैं, सत्ताभिव्यक्त व्यक्ति नहीं। उनके शील की अभिव्यक्ति नहीं होती, ज्यामिति होती है। यह बीच का गणित होता। विचार वस्तुगत हो सकते हैं, पर व्यक्तित्व वस्तुगामी होता है। विकल्प-शील वस्तुगत होता है। कौतुक-शील जीवन के साथ क्रीड़ा करनेवालों का होता है। विकल्प-क्लिष्ट शील ग्रंथों से सशरीर उठाये गये विचारों से निर्मित होता है। मार्लो का मेफिस्टफालिस स्वर्ग से निष्कासन की वेदना के कारण मानवीय हो जाता है पर गेटे का वही पात्र कहता है—'मैं अवयवी से पृथक् वह अवयव हूँ जो अहंभावना और विरोधी-निषेध के मूल में है।' यहाँ दर्शन की दुरूह, चट्टानी, बर्फीली धारणा हृदय को स्पर्श नहीं कर पायी है। Priestley के Dangerous Corner नामक खेल में Stanon स्त्री-पुरुषों की एक पूरी टोली के बीच सम्बन्धों के रहस्य और आँख-मिचौनी को इस आसानी से, लापरवाही और स्पष्टता से भाँप लेता है मानों वह दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न हो। पति-पत्नी एक साथ बैठे हैं और पूरी मण्डली में वह कुछ घटनाओं और मुलाकातों के आधार पर कह देता है कि देखो तुम्हारी पत्नी अमुक पुरुष से प्रेम करती है। वैवाहिक जीवन की पूज्य भावना को ठेस लगाता वह इस निर्ममता से एक के बाद दूसरे रहस्य का उद्घाटन करता चलता है कि खेल के अन्त तक पात्रों की दुनिया खंड-खंड हो जाती है। स्वयं उसने चोरी की है। सभी कोसते हैं, तुम्हारे कारण अमुक आदमी ने आत्म-हत्या कर ली पर वह चोरी की परिस्थिति, घटनाओं के कर्म और हत्या के दूसरे कारणों की ओर संकेत करता, सबको चौंकाता चलता है, मानों भावुकता उसे छू तक नहीं गई हो। जिन्दगी एक गेंद है और वह खिलाड़ी—हार-जीत चाहे जिसकी हो। जिन्दगी में बहुत से रहस्यों के खतरनाक कोने होते हैं, उनमें झाँकने से अप्रिय सत्य भी हाथ लग जाते हैं। सत्य का श्वान 'कुंभकरण सम सोहत नीके'। उसे जगाना नहीं चाहिए। पर एक Stanon है जो बातों को समझ भर लेता है। वह आचरण की कार्य-अनिवार्यता को जान लेने के बाद अधिक माथापच्ची करना नहीं चाहता। ऐसे कौतुक-शील का वही महत्त्व है जो सौन्दर्य की रुचि में फैशन का। कौतुक-शील की विशेषता यह है कि उसकी सामूहिक पैमाने पर अनुकृति हो सकती है। उसका सर्जन नहीं होता है। अनुकृत कौतुक-शील हृदय की अवकाश-दशा में बुद्धि का धूमपान है।

अट्ठारहवीं शताब्दी की अंग्रेज नारियों का कुत्तों के प्रति असाधारण राग, पति का नाम सभ्य समाज में लेने को अश्लील समझना, नरम तकियों में धड़कन के बीमार की भाँति धँस जाना और सांस्कृतिक सिर-दर्द के विलास में रत रहना; एलिजाबेथ के समय नाटकों में आये लड़कों का घर बेच झगड़ा करने की शिक्षा लेना; पंजाब में शोक-समारोह के रीति-निर्वाह के लिए पेशेवर वियोगिनियों का करुण क्रन्दन करना; किसी के मरने पर शोक का लिखित प्रस्ताव पास करना आदि इस कौतुक-शील के अन्दर ही आयेंगे। पर विकल्प-शील तो जैसे कौओं को डराने के लिये चूना और कालिख से पोती हाँड़ी है। विकल्प-

क्लिष्ट शील वादमूलक है। कहीं-कहीं हृदय का पुट भी दे दिया जाता है, जैसे पुआल पर पानी का। अचेतन तथा विरल-विशेष के अणुवादी जेम्स ज्वायस के 'युलिसिस' में तो विचार, भावना, स्मृतियाँ, पाण्डित्य से भी आगे जाकर आविष्कार तक पहुँच गई हैं और लेखक भाषा का भूतनाथ हो गया है। माध्यम का यह 'अगड़बमबमवाद' साबरमंत्र की सनक है ।

जब पात्र बोलने लगते हैं तो ऐसा नहीं मालूम होता है कि उनसे कहे बिना रहा नहीं जाता, बल्कि यह कि उनके बिना नाटककार या उपन्यासकार से कहा नहीं जाता । विकल्प-क्लिष्ट शीलों के व्यापार वाणी (स्वगत या संभाषण) तक सीमित रहते हैं । ऐसे शील सभ्य-शील, शिक्षित-शब्द-शील होते हैं और उनके ऊपर भाषा का भूत सवार रहता है, जैसे अपने ही पैरों की धूल उड़ कर अपने सर पर पड़ने लगे । उदाहरण के लिये Priestley के Time and the Conways और I have been Here Before को लें । Time and the Conways में Alan नाम का पात्र कहता है—'नहीं, समय एक सपना है ; यदि सपना नहीं होता तो यह सभी वस्तुओं का सर्वनाश कर देता—सारे विश्व का। और, फिर उसे हर दस सेकेण्ड पर पुनर्निर्मित करता । पर यह मिटाता नहीं । हम वास्तव में अपने अस्तित्व के क्षेत्र-विस्तार की सम्पूर्णता हैं, अस्तित्व के काल की संपूर्णता हैं; और जब हमारे इस जीवन का अन्त होता है तो हमारे सभी अस्तित्व, सभी समय-खंड हम से मिल जायँगे और तब हम, शायद, दूसरी 'काल-सरणि' में प्रवेश करेंगे और इस तरह दूसरा सपना शुरू होगा ।" उसके बाद कुछ पीने और खाने की निरर्थक गप करने के अतिरिक्त Alan का कोई विशेष महत्त्व नहीं । बात यह है कि 'सरणिवाद' वाले सिद्धान्त से Priestley चमत्कृत हुए । इसलिए इस पात्र को माध्यम बनाया। ऐसी माध्यम-सत्ता में, प्रतिनिधि-पात्रत्व में, शील नहीं। I have been Here Before में Dr. Gorther और आगे बढ़ जाते हैं । वे साधारण स्मृतियों की चर्चा करते हुए बतलाते हैं कि कभी-कभी भविष्य की बात हम वर्तमान में देख लेते हैं और वास्तव में यह भविष्य का साक्षात्कार नहीं बल्कि अतीत का साक्षात्कार है । "हम एक नहीं, हमारी चेतना के कितने खण्ड हैं । हर चेतना-खंड के साथ काल की एक विशेष सरणि लगी रहती है। कभी चेतना का दूसरा खण्ड अतीत और वर्त्तमान के संधि-स्थल को मिला देता है, आदि-आदि ।" Priestley के इस नाटक से काल के 'सरणिवाद' का एक अस्पष्ट संकेत भले ही मिल जाय, उनके पात्र तो बैठ कर गप करते हैं और बीच-बीच में कोई दार्शनिक विवेचन प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसा शील सजीव नहीं। हम किताब पढ़ते हैं, उसकी दुनिया साकार नहीं होती। 'सहमति' या 'मतभेद' की ही संभावना रहती है—मन का तो स्पर्श तक नहीं होता ।

शील रूप-प्रधान न हो कर जहाँ संस्कार-प्रधान होते हैं, उनका सौन्दर्य शृंखला-सापेक्ष होने से अर्थसबल हो जाता है, परन्तु संस्कार को काव्य में निसर्ग-सिद्ध होना चाहिए ।

निसर्ग+संस्कार अशुद्ध, तथा संस्कार = निसर्ग शुद्ध तालिका है । जब मनुष्य को परिवेष्टन, समाज और सभ्यता की एक विशेष जल-वायु और प्रगति-क्रम के बीच रख उसके शील का सहानुभूति द्वारा विकास दिखाया जाता है तो उसकी सार्थकता और सापेक्षता बढ़ जाती है और साथ-साथ एक विराट् साम्राज्य की ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है जिससे शील की नितान्त आकस्मिकता भी नियन्त्रित हो जाती है । वासनाओं के अतिरिक्त संस्कार भी व्यक्तित्व के सूक्ष्म निर्णायक हो जाते हैं । जहाँ अशिक्षित ग्रामीण अट्टहास करता है वहाँ अर्थ की सूक्ष्म असंगति की परख रखनेवाला संस्कृत व्यक्ति केवल अधरों के स्मित प्रस्फुटन से अपने को अभिव्यक्त कर लेता है । अंग्रेजों के बच्चे भावुकता-प्रदर्शन के प्रति अभद्र भावना लेकर ही पलते हैं । उनके मूक कम्पित अधरों में घुटती वेदना इसी संस्कार की देन है । बहुत फेन फेंकनेवाले वक्ताओं के प्रति वहाँ एक अविश्वास और विरुचि-सी हो जाती है । यह क्रिया बुद्धि की नहीं, बल्कि उस अनवरत संस्कार की है जिसने अब भय और जुगुप्सा के संयोग से हृदय में एक अयत्नज मिश्र-भाव की प्रतिष्ठा कर दी है । इस तरह संस्कार प्रेम, क्रोध, घृणा, द्वेष आदि सरल भावों के अतिरिक्त मिश्र-भावों की सृष्टि करते हैं । यह सही है कि संस्कारवाद जहाँ वर्जित अति तक पहुँच जाता है, वहाँ इसकी क्रिया भौतिक और यान्त्रिक होकर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को हर लेती है । मनुष्य को केवल उसकी शिक्षा, उसकी आर्थिक दशा, उसके पूर्वजों की विचार और स्वास्थ्य-परम्परा का एक परिणाम दिखाना संस्कारों को स्थूल और भौतिक बना देना है, और तब उनका काव्यमय सौन्दर्य नष्ट हो जाता है । किसी पौत्र के अस्वस्थ विचारों और दाम्पत्य जीवन की झिझक को उसके पितामह के उपदंश का परिणाम दिखाना विज्ञान के भीतर आता है, कला के भीतर नहीं । उसी तरह यदि आर्थिक व्यवस्था को भाज्य मान लें, और व्यक्ति की प्राप्त सुविधाओं को भाजक, तो उसके शील की लब्धि प्राप्त करना बच्चों का अंकगणित होगा । इसी तरह के स्थूल प्रारब्धवाद के हाथों में Kipps (Wells का एक पात्र) एक कन्दुक बन जाता है । Galsworthy के Loyalties में ऐसी ही वर्ग-निष्ठा का स्थूल आग्रह है । पर जहाँ प्रकृति का मधुर और शान्त अथवा भयानक और निष्ठुर शृंगार मूक प्राण-प्रवाह द्वारा मनुष्य का शील-निर्माण करता चलता है, वहाँ संस्कार-शील का रूप दिखाई पड़ता है । जहाँ शताब्दियों की समाधि में सोयी पूर्वजों के नैराश्य और करुण-विनाश की स्मृतियाँ भग्नावशेषों में वर्त्तमान हैं, वहाँ के वातावरण में पले व्यक्ति के शील में स्वभावतः ही प्रारब्ध की ध्रुवता की अनुमति और तज्जन्य चित्त की विषादमयता रहेगी । हम एक विराट्-सातत्य, एक रहस्यमयी विधातृशक्ति की कल्पना से एक ही साथ ऊँचा उठते और भय खाते हैं, साथ ही व्यक्ति की लघुता में एक उदात्त व्याप्ति और सर्वकालीनता का साक्षात्कार करते हैं । शान्ताराम के 'आदमी' नाम के चित्र में नायक, वेश्या को बधू बनाकर लाता है । उसकी माता पूजा करनेवाली, भगवान के निकट सात्त्विक

वैष्णव सरलता से भरे हृदय की उपासना में सदा लगी रहनेवाली वृद्धा है। ऐसे परिवार में माता के सान्निध्य से वेश्या-वधू के हृदय में अपने बीते जीवन की स्मृतियाँ जग जाती हैं और अतीत के संस्कार वर्तमान के निष्कलुष पूतस्नेह संस्कार से टकराते हैं और तब वर और वधू के हृदय की पीड़ा मर्म की चीज हो जाती है। संस्कार-प्रधानशील स्मृति-प्रधान-शील है। स्मृति में ही अमरत्व, मनुष्य का शाश्वत व्यक्तित्व है। जहाँ कठिन, कँकरीली पहाड़ी भूमि पर व्यक्तित्व का पोषण होता है, वहाँ यदि शील में कुछ कठिनाई आ जाय तो यह उस मिट्टी में साहचर्य की युग-युग से चली आनेवाली स्मृति, या अपने ही जीवन-काल के बीते कालों की स्मृति से निर्मित होगी।

'चन्द्रगुप्त' नाटक के सिंहरण में विनम्रता के साथ निर्भीकता का योग, चन्द्रगुप्त में पराक्रम के साथ उदारता और शील-माधूर्य संस्कार की देन हैं। प्राकृतिक मौलिकता की अवस्था में तिल अलग और चमेली अलग है, पर संस्कार का कैसा निराला सौन्दर्य तिल की अन्तरात्मा में चमेली की गन्ध के बस जाने में है। एक आतंकवादी तथा साथ ही सिद्धान्त-वादी पिता के परिवार में जो कलह, क्रोध तथा विक्षोभ का वातावरण हो जाता है, उस वाता-वरण में पलते किसी सत्यशील की दलित आत्मा यदि मिथ्या की शरण ले, फिर पिता की सिद्धान्तवादिता के प्रति आदर की भावना से उत्पन्न ग्लानि के कारण निर्भीकतापूर्वक दोष स्वीकार करे, और इसके बीच दण्ड आदि के प्राकृतिक भय, अपनी नीचता, और सत्य के प्रकट होने पर पिता की क्या दशा होगी, इसकी आशंका से उत्पन्न लज्जा आदि भावों के आपस में टक्कर होते चलें तो शील का सौन्दर्य दसगुना बढ़ जायगा, जब कि भय और साहस के स्थूल चित्रण वाले शील में उतनी कोशिश नहीं होगी। ऐसा शील कर्म और वचन तक ही सीमित रह कर रूप-प्रधान बन जायगा। मूल्यों की भावना संस्कार-सापेक्ष है। संस्कारों से प्राण को धारणा भी मिल जाती है। कहीं-कहीं संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं कि प्रवृत्ति दब-सी जाती है। संस्कार-प्रबल शील में धारणाओं की हार्दिक अनु-भूति और प्रभाव का सौन्दर्य देखनेयोग्य होता है—चाहे वह प्रभाव शिव हो या अशिव।

देश-भक्ति, वंश की मर्यादा का अभिमान ('प्राण जाइ बरु वचन न जाई' इसमें बुद्धि नहीं, प्रबल स्मृतियाँ हैं, जो हृदय की भावना बन गयी हैं'), अपने महत्त्व को और दूसरों की विनम्र दासता को एक सरल न्याय के रूप में देखना ('टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के ताल्लुकेदार और जमींदार रामानन्द तिवारी), शिक्षक की उपदेश देने और मान-सजग होने की प्रवृत्ति, हिन्दुस्तानी कचहरियों का रिश्वत को दस्तूरी कहना और यह सोचना कि वह मुवक्किल के साथ एहसान कर रही हैं, और इधर मुवक्किल की भी उपकृत, अनुगृहीत मनोवृत्ति आदि संस्कार-शील के अन्तर्गत आयेंगे। कोई वेश्या-पुत्र यदि अपनी बहन के साथ किसी मनचले को मनमानी करता देखे और उसके हृदय में उसी क्षण रोष उत्पन्न हो, तो शील की वह अभिव्यक्ति आकस्मिक और सहज होगी। पर वही यदि शिक्षित और जाग्रत चेतना

का व्यक्ति हो, और इस वृत्ति-मात्र की जघन्यता और गलित अभिमान-दयनीयता के साक्षात्कार से घृणा की जीवित कुम्भीपाक-अनुभूति करता, घुटता चले तो उसका शील अमोघ होगा।

जहाँ माता, पिता, नेता, भाई, स्त्री, मित्र अपने संस्कार हमें देते चलते हैं, वहाँ वे सभी गुरु हो जाते हैं। गुरु हमें स्मृतियों द्वारा द्विज बनाता है। संस्कार गोविन्द के नहीं, गुरु के होते हैं। कोई हताश बालक आहत पक्षी की भाँति गुरु की शरण लेता है और कहता है, 'गुरुदेव, मेरा जीवन निरर्थक है। लोगों ने कह दिया कि तुम विक्षिप्त हो और मेरी साधना छिन गई।' गुरु कहता है, 'कौन बेहूदा कहता है कि तुम अयोग्य हो? ईसा को भी उन्माद का रोग था। तुम अपने भविष्य की कल्पना शिखर से करो' और बालक की रीढ़ तन जाती है। प्रतिभा की लुप्त स्मृतियाँ जगमगा जाती हैं, और विश्वास के नाभिकुण्ड से निकला आशीर्वचन शील के पार्थ का सारथी बन जाता है।

मेरे एक मित्र बहुधा कहा करते हैं—'भई, राम में अविश्वास करना तो संभव हो भी सकता है पर 'रामचरितमानस' की भक्तिवाले गोस्वामी जी में अविश्वास करना तो मेरे बस की बात नहीं।' यह संस्कार शील की उक्ति है। 'रामचरितमानस' पढ़ कर किसी में राम के प्रति भक्ति हो जाय, इस शील में स्वाभाविक भावुकता होगी, पर साक्षी के प्रति सत् से भी अधिक आस्था या आसक्ति उन मित्र के उस साहित्यिक संस्कार का सौन्दर्य है, जिसके द्वारा वे काव्य में भाव और उसकी अभिव्यक्ति की सच्चाई के उदाहरणों में वर्षों से रमण करते चले आ रहे हैं। यह उक्ति बुद्धि की नहीं। यह एक ही साथ रस-शील, स्वलक्षण-शील और संस्कार-शील का उदाहरण है।

रूपप्रधान शील से मेरा तात्पर्य उस शील से है जिसकी छवि हम केवल उसके रूप, कर्मों या वचनों की शारीरिक स्थूलता या बौद्धिक प्रवीणता के आधार पर बनाते हैं। रूप-प्रधान शील बाह्योन्मुखी होता है। दूसरी बात जो अधिक महत्व की है, वह यह कि ऐसे शील का निर्माण प्रकृति से, जन्म-मात्र से मिली वासनाओं या शक्ति-कोष से ही होता है। किसी रण-क्षेत्र में कोई योद्धा साहस से अनेक कर्म दिखाता है, किसी कूटनीतिक गत्यवरोध में कोई लालबुझक्कड़, शत्रु की वास्तविक शक्ति का सही अनुमान कर ऐसे-ऐसे दाँव-पेंच लगाता है कि विरोधियों को मुँहकी खानी पड़ती है, तो ऐसे शील को रूप-प्रधान शील ही कहेंगे। अभिमन्यु गर्भ से ही व्यूह-भेदन का पण्डित हो कर निकला। पर, उसके व्यूह-विज्ञान के अदभुत कौशल या उसकी मृत्यु में उतना करुण सौंदर्य नहीं, जितना गुरु-सम्बन्धी, बन्धु, गोत्रज आदि को सामने देख कर अर्जुन के धनुष-बाण धर देने में है। साधारण बात के लिए, आखेट के लिए, मृगों का, पशुओं का वध करना क्षत्रियों के लिए कुछ बात नहीं। पर, गुरु के प्रति नतमस्तक आदर, श्रद्धा और तथा अनुग्रह के जो संस्कार, हृदय के नैवेद्य बन गए हैं, उनके सामने वैभव के सुहाग-शृंगार निःस्वाद ही नहीं, अरुचि

के वमन से मालूम होते हैं। अर्जुन का शील स्मृतियों का शील, अन्तस् का शील हो जाता है। रूप-प्रधान शील की प्रत्येक अभिव्यक्ति वर्त्तमान के 'तत्क्षण' की होती है। संस्कार-शील की अभिव्यक्ति से हम व्यक्तित्व के जीवित अतीत और वर्त्तमान के संगम का साक्षात्कार करते हैं। यदि शील का कोई व्याकरण हो सकता है, तो हम कहेंगे कि वह संस्कार-शील व्यक्तित्व के भूत के तात्कालिक वर्त्तमान की योजना है। संस्कार-शील में कोई आवश्यक नहीं कि सदा उसकी आकृति अन्तर के द्वन्द्व या पेट के मरोड़ के रूप में रहे।

किसी मनुष्य के यहाँ फकत चन्दे की आशा वाले कौई कौम के खादिम साहिब पहुँचते हैं। चंदे वालों के मारे वह परेशान है। उसे चन्दा का प्रस्ताव करनेवालों की सूरत से ही नफरत हो गई है। खैर, तो खादिम साहिब फरमाते हैं, 'मैंने आपकी बड़ी शुहरत सुनी है, हमें आपके इमदाद का भरोसा है',—और वे एक छपी रसीद उसके सामने रख देते हैं। वह झुँझला कर रसीद फेंक देता है और कहता है—'रास्ता नापिए'। पर, खिदमत के बन्दे खामोश कत्र होने लगे। आप भी कहते जाते हैं—'आपके पैसों से विधवाओं की परवरिश होगी—आप हिन्दू विधवाओं की हालत जानते हैं।' 'बस, बस, अब कहना बन्द कीजिए, दीजिए रसीद।' और, वह पचास रुपये की रसीद ले लेता है। कारण, उसने अपने परिवार में विधवाओं की दुर्दशा, उपवास, गाली, केश पकड़ कर घसीटे जाने आदि के दृश्य देखे हैं और 'विधवा' नाम के प्रति, रूप सामने रहे या न रहे, उसके हृदय में करुणा का 'संस्कार' (भाव का विवेक नहीं) बन गया है। उसके हृदय में यह द्वंद्व होता ही नहीं कि 'पैसे देता हूँ तो ठग को देता हूँ, नहीं देता हूँ तो विधवा के लिए कुछ नहीं किया।' झटके से होनेवाले इस काम में संस्कार या स्मृतियों की वह तीव्र शक्ति है जो संस्कारविहीन व्यक्तित्व में शायद रूप के साक्षात्कार पर भी न जगे। जैनेन्द्र की 'पत्नी' नामक कहानी की नायिका के शील का सौंदर्य संस्कारों की हार्दिक स्वीकृति में है। इसीसे पत्नी की आसक्ति और पीड़ा इतनी मार्मिक हो गई है। जौहर की परंपरा, लड़कियों के वध करने की प्रथा वंश-संस्कार की प्रबलता के उदाहरण है। पर, जहाँ जौहर की प्रथा पति के प्रेम से प्रेरित नहीं (और कोई आवश्यक नहीं कि पति की मृत्यु के बाद हर पत्नी के हृदय में साहचर्याभाव इतना खले कि मृत्यु सुखद मालूम हो) वहाँ वह आत्मरति या मान का रूढ़ रूप धारण कर लेती है, और रीति शिष्टाचार हो जाती है। जहाँ मान की यह भावना बड़ी ही उग्र होती है, वहाँ संस्कारों का जीवित गौरव देखने में आता है, जिसके सामने जीने की प्राकृतिक वासना का कोई चारा नहीं। पूर्वजों और कुल के गौरव की स्मृति, भविष्य में नीच कहलाने की लज्जा—भविष्य भी संस्कार के अंतर्गत आता है पर अतीत के ही रंग में रँग कर—सती को लपटों की गोद में झोंक देगी। सती का जलने के पहले अभिसार-श्रृंगार, आग की सेज की भयंकर कल्पना को दबाता है। उसका उत्सर्गोन्माद संस्कार-शील की सूक्ष्म मनोहरता के अन्दर आयेगा। संस्कार जहाँ हमें वज्रजड़ बना देते हैं—

जैसे लड़कियों के वध में—वहाँ शील ऐसा लगता है मानो मनुष्य की स्वाभाविक या सामान्य प्रकृति का ही नाश हो गया। ऐसे निसर्ग-प्रणाश दोष से शील को मुक्त होना चाहिए जिसमें साधारणीकरण हो सके।

निसर्ग-प्रणाश :—निसर्ग-प्रणाश काव्यगत शील का सत्यानाश है। जहाँ मनुष्य की वृत्तियों, भावों तथा कार्यों की हार्दिक व्यंजना का लोप सा दीख पड़े और मानवीय प्रवृत्ति या निवृत्ति सामान्य नैसर्गिकता का अतिक्रमण कर जाय वहाँ निसर्ग-प्रणाश का दोष लगता है। हार्दिक कारण-भूमि का सर्वथा अभाव रहने से शील नल-नील के पत्थर जैसा लगने लगता है, जो पानी पर तो तैर सकता है पर जिस पर जीवन की दूब हरी नहीं हो सकती। किसी आलम्बन के प्रति आश्रय अनुकूल अथवा प्रतिकूल भाव से प्रेरित होता है। पर जहाँ भाव-मात्र में स्पन्दन-विहीनता आ जाय, वह निस्संगभाव से चिन्तन भी न कर सके, बल्कि जड़-निर्मम बना रह जाय, तो रूपविधान के लक्ष्य की इतिश्री हो जाती है। मनुष्य के शील में सत्त्व, रजस्, तमस् की प्रेरक शक्तियाँ, किसी प्राणान्दोलित क्षण में, अन्तःप्रविष्ट रहती हैं। संस्कृति तथा संस्कार भी जीर्ण अथवा सबल होकर निसर्ग में घुलमिल जाते हैं। शरत बाबू की किरणबाला तथा सावित्री वैधव्य की भारतीय संस्कृति तथा संस्कार के ही कारण अपने सतीत्व का अखण्ड निर्वाह कर लेती हैं। ऐसे अनुशासन में अस्वाभाविकता या कृच्छ्र साधना नहीं। उनके प्राणों में ही सांस्कृतिक 'अहं' कुछ ऐसा घुलमिल गया है कि वे आदर्श का कल्पित दंभ नहीं मालूम पड़तीं। वे प्रेम का मानसिक सुख तो लेती चलती हैं, परन्तु संभोग की कामुकता से कभी भी आकुल नहीं होतीं। वेश्या राजकुमारी भी व्रती है और उसकी अद्वितीय निष्ठा में कहीं भी असाधु दमन या आत्म-प्रवंचना नहीं है।

जहाँ शील निसर्ग-प्रणाश से बचता है, वहाँ शील का सौंदर्य बिन्दु-सौंदर्य के रूप में देखने को मिलता है। महत्त्वाकांक्षा की कालभैरवी, विनाश की रौरव पिशाचिनी लेडी मैकवेथ, लोभ के कारण, इतनी क्रूर हो गई है कि उसे अपने पितातुल्य स्वामी-अतिथि, वृद्ध Duncan के वध की बात सोच थोड़ी भी ग्लानि नहीं होती। वह अपने ही हाथों से अपने स्तन के दूध पीनेवाले शिशु को मारकर उसकी खोपड़ी का भुरता बना सकती है; अपने सेनापति के लड़खड़ाते पैरों को धिक्कारती है; माता और पत्नी दोनों ही रूपों की स्वाभाविक कोमलता जैसे उसे छू तक न गई हो। लेकिन उसकी एक आकस्मिक दुर्बलता का बिन्दु-आलोक उसके मृतशील को सुधाकल्प कर देता है। वह वृद्ध राजा जब सो रहा था तब उसका शान्त मुख लेडी मैकबेथ के पिता के चेहरे से कुछ मिलता-जुलता था कि आह विवशता, उसका सारा संकल्प, उसकी सारी निष्ठुरता रो उठी और उलटे पाँव लौट आई, वध न कर सकी! मर्म के कोने में पड़े इस दृश्य-बिन्दु का सौन्दर्य —बस, एक छोटी बात का सौन्दर्य—उस शील को रजस् की

ऐकान्तिक प्रबलता तथा सत्त्व के तिरोभाव से बचा लेता है । यही नहीं, उसकी असाधारण कठोरता, इस द्रव के बाद, काव्य की रस-सिद्धि के लिए और भी श्रेयस्कर हो जाती है । इससे भिन्न, जहाँ Iago को शेक्सपियर परपीड़न-रति का विशुद्ध राक्षस बना देता है, आलोचकों की लाख वकालत उसके शील को निसर्ग-प्रणाश दोष से नहीं बचा सकती ।

दो उदाहरण और लें । सुरापान तथा नृत्य-प्रमोद में डूबा रहनेवाला वेश्यागामी यदि पुत्रशोक का समाचार सुन घर न आये, न दो आँसू गिराये, तो ऐसे मनुष्य के प्रति हमारे हृदय में क्रोध तथा घृणा का संचार होगा । ऐसी अनासक्ति को हमारा हृदय समझ सकता है, क्योंकि वेश्या और सुरा नाम के दो आसक्ति-केन्द्र जो प्रत्यक्ष हैं । आसक्ति से उत्पन्न उच्चाटन देखने को मिलता है । पुत्रशोक के समाचार के साथ ही सुरा पिला कर मत्तसंज्ञ बना देनेवाली वेश्या हमारी घृणा का सह-आलम्बन बनती है और इस तरह हमारी घृणा का प्रकृत आलम्बन थोड़ी सहानुभूति भी अर्जित करता है । यह श्याम पर कुब्जा का टोना है, ऐसा हम सोचते हैं । इसी तरह पुत्रशोक में विलाप न कर कोई भक्त गृहस्थ शव को अपने इष्टदेव के मन्दिर की चौखट पर रखकर कहे, 'लो, इतने दिनों तक तुम्हारी सेवा की, झाड़ू लगायी, नैवेद्य अर्पित किया; पर तुम्हारी भूख शान्त न हुई । अभी खा लो, फिर श्राद्ध के दिन पेट भरना ।'—तो व्यंग्य के इस गरल कटाक्ष में रतिभावना का उपालंभ-अंग भी होगा कृतघ्नता के प्रति जुगुप्सा भी; और, साथ ही काँटे बोनेवाले के लिए फूल बोने का आत्मगौरव भी । अपराधी के हृदय में उदारता के द्वारा लज्जा उत्पन्न करने की यह सहज कूटनीति है, जिसमें आहत भक्ति की निराशा क्रुद्ध हो उठती है । यह अभिव्यक्ति का गूढ़ कपट है, कुछ निसर्ग-प्रणाश नहीं । इससे भिन्न एक उदाहरण लें ।

पुत्रशोक में कोई पिता किसी होटल में जाय और कहे, 'अजी मेरा बेटा आज चल बसा । अच्छा था, होनहार था । जिन्दा रहता तो कोई बड़ा ओहदा पाता । हाँ, देखो, एक क्वार्टर प्लेट रोगनजोश और एक प्लेट कोफ्ता देना !'—तो चार्वाक का ऐसा दत्तक फुफेरा निसर्ग-प्रणाश का ही उदाहरण होगा । लेखक की दार्शनिक उर्वरता उसे बचा नहीं सकती । निसर्ग-प्रणाश के दोषी प्रायः वैसे ही कलाकार होते हैं जो उपदेश, बज्रघोषी नाटकीयता, कुतूहल तथा विश्वामित्र-प्रयास के फेर में पड़ जाते हैं । याद रहे कि विश्वामित्र ने एक नई सृष्टि-रचना की अनधिकार चेष्टा की थी । 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में रामानन्द तिवारी के बेटे की कम्युनिस्ट धर्मपत्नी पर भाग्य का जो व्यंग्य सिगरेट की छीना-झपटी वाले दृश्य में पड़ता है, उसका मूल कहाँ है ? उसका मूल प्रणय की उस कृत्रिम प्रतिष्ठा में है जो विशुद्ध बौद्धिक धरातल पर स्थित है ।

एडिपस तथा एलेक्ट्रा कम्प्लेक्स को लेकर जो कुरुचिपूर्ण शील-चित्रण आजकल किये जाते हैं उनकी होली जला देनी चाहिए । स्वयं एडिपस की रति-कथा अज्ञान की घटना है । माता के साथ रति तथा पिता का वध—ये दो अपराध वह अनाजाने कर बैठता है ।

भेद खुलने पर उसके पश्चात्ताप की भयंकरता निसर्ग-प्रणाश के प्रति ही एक घातक प्रतिक्रिया है । अपनी आँखों को आप निकाल फेंकनेवाला एडिपस जहाँ पाशविक संस्कार-कृतघ्नता के मलस्नान की चेतावनी है, वहाँ आजकल के रट्टू उसे निसर्ग की मुक्ति का उदाहरण मान बैठे हैं । सम्बन्ध, संस्कार तथा चेतना के विकास के साथ काम के स्वरूप में भी भेद होना अनायाससिद्ध है । फ्रायड ने यह बताया कि लड़का माता के प्रति रति-भाव तथा पिता के प्रति अरि-भाव रखता है । यह बहुत ही सीधी-सी बात है और शुरू की । अब कोई प्रौढ़ तनय अनिवार्यतः माता के प्रति मैथुनरत तथा पिता के प्रति वधोद्यत दिखलाया जाय तो ऐसे काव्यकर्मा को हम क्या कहेंगे ?

अपने को सिद्ध माननेवाले ये विद्याविशारद सदा ज्ञान के अनुत्तीर्ण स्नातक हैं । जिस तरह काम लज्जा को खाता है उसी तरह ज्ञान-सन्तति लज्जा भी काम को खाती है । नारी के माता, पत्नी तथा भगिनी भिन्न रूप हैं और भिन्न रूपों के प्रति भिन्न रस का उद्रेक स्वभाव की माँग है । जो भिन्न रूपों का अन्धकार में नखास्वादन करते हैं उन्हें अलबत्ता कोई भेद नहीं मालूम होता । काम की भाँति मोक्ष के ऐकान्तिक आग्रहवालों में हम अहं, आसक्ति तथा ग्रंथि का सर्वथा अभाव पाते हैं । अतएव योगी अथवा निष्काम स्थितप्रज्ञ गीतापुरुष का शील मूलबन्धुत्व अर्जित नहीं कर पाता । निसर्ग-प्रणाश दोष यहाँ भी लगता है । कृष्ण के उपदेश के बाद अनासक्ति-दीक्षित अर्जुन जब धनुष-बाण उठा लेते हैं, तब हमारे काम के नहीं रह जाते । किसी सव्यसाची की हस्तकला कुतूहल भले ही उत्पन्न करे, और कुछ नहीं कर पाती । लेकिन जयद्रथ के वध न होने पर चिता जलाने वाले, अभिमन्यु-वध से शोकाकुल होनेवाले, अहं तथा आसक्ति के अर्जुन ही हमारे काम के हो सकते हैं । शकुन्तला की विदाई के समय 'पति के पहले जागियो, पीछे सोइयो, सौतों से डाह मत करियो'—आदि कह देने से 'समभावः सुखदुःखेषु' का मंत्र जपने वाले कण्व से काव्य-हृदय की हत्या हो जाती । वहाँ तो प्रियंवदा अनसूया के साथ माधवी, वनज्योत्स्ना, मृगशावक आदि की वियोगदशा की मर्मव्यंजना कर कवि ने निसर्ग की व्यापक सजीवता की रस-सिद्धि की है ।

क्या कारण है कि शील का सुन्दर से सुन्दर, मोहक से मोहक रूप, अभ्यन्तर के द्वन्द्व या खण्डित दशा में ही, लोग पाते हैं । नाटकों, उपन्यासों, कहानियों में इसकी इतनी धूम क्यों है ? कारण यह है कि द्वैध एक ही साथ भय और आशा की स्थिति है । भय की अवस्था शूली पर चढ़े रहने की है । आशा की अवस्था भी शूली से उतार कर शेर की पीठ पर बिठाये जाने की है । भय और आशा और आशा में भय के लगे रहने से प्रेक्षक यह निश्चय नहीं कर पाता कि सामने खड़ी परिस्थिति में व्यक्ति कौन-सा मार्ग अपनायगा । अनिश्चय की अवस्था तृष्णा की अवस्था है, जो जीर्ण नहीं होती । दूसरी बात, दो भिन्न आकर्षणों से हमारे ध्यान को अवकाश ही नहीं मिल पाता कि वह

आश्रय या आलम्बन को छोड़ अपने 'अहं' की भी कुछ खोज-खबर ले । यदि किसी पात्र के बारे में हम निश्चित हैं कि उसके सामने वचन-प्रतिपालन का ही एक आदर्श और मार्ग है तो हम सोच लेंगे कि आनेवाले दृश्यों में वह वचन का पालन करेगा ही । पर यदि वचन प्रतिपालन का अर्थ अर्जुन का कृष्ण से (सखा, गुरु, हरि से) लड़ना है तो दो आकर्षणों की युगपत् सक्रियता से हमारा ध्यान कभी अपने अहं की स्थिति की ओर नहीं जायगा । तीसरी बात यह है कि द्वन्द्व से शक्ति का व्यय दूना होता है और अवलोकन की दो दिशाओं में होता है, और इसीलिए हमारी अनुभूति की गहराई भी, सजीवता की चेतना का घनत्व भी, द्विगुणित हो जाता है । द्वन्द्व की अनुभूति सदा दुःखात्मक होती है । द्वन्द्व से प्रेक्षक या पाठक के हृदय मे करुणा का उद्रेक होता है । सीमा-सापेक्ष स्थिति में करुणा या दुःख की अनुभूति सुख की अनुभूति से अधिक मार्मिक होगी ही । हम जब बहुत सुख में होते है तो कोई जरूरी नहीं कि दूसरे भी सुखी हों, या दूसरे सुखी हों तो कोई जरूरी नहीं कि हम भी सुखी हो जायें । पर अपरिचितों के दुःख से भी करुणा की उत्पत्ति हो जाती है । करुणा सबसे व्यापक अनुभूति है, क्योंकि वह व्यक्ति को समष्टि की ओर ले जाती है । दुःख में ही हम सचमुच स्वेच्छा से दूसरों के हो जाते हैं । कौन नहीं जानता कि प्रेम में मिलन के क्षणों का सुख आसन्न-वियोग की आशंका अथवा वियोग की स्मृति से कितना बढ़ जाता है ? द्वन्द्व प्राण की कुम्भक अवस्था की माँग करता है । इसलिए वृत्तियों का व्यायाम अपनी चरम सीमा को पहुँचा होता है । ऐसी एकाग्रता स्मरणीय होती है । भावों के सम-शान्त-सहज प्रभाव की अपेक्षा टक्कर से उत्पन्न आवर्त्त या उद्वेग आदि में ऐसा असाधारणीकरण रहता है, जिसके लिए जीवन की कला में हम फिर से सृष्टि करते हैं । शील वीचि का होता है, जल का नहीं । द्वन्द्व से हम यह देख पाते हैं कि शील-गत सत्य कोई रेखागणित का सरलीकरण नहीं है । व्यक्ति एक मिश्र विविधता है, स्थिर सरलीकृत एकता नहीं । इस द्वन्द्व को समाज के प्रति, दल के प्रति, किसी मतवाद के प्रति व्यक्ति के संघर्ष के रूप में हम पा सकते हैं । पर सब से अनोखा सौन्दर्य आन्तरिक गृह-युद्ध में है । हृदय-गुफा के अन्धकार में अन-मान के आलोक से झाँकने में जो सूक्ष्म सौन्दर्य हाथ लगता है वह बाह्य संघर्षों की शारी-रिकता में नहीं । क्या यह संघर्ष बुद्धि बनाम हृदय का होता है ?

बुद्धि स्वयं पंगु है, केवल कर्म भी शील के अन्तर नहीं आते, जब तक कर्म के पीछे इच्छा या भावों का आकर्षण या विकर्षण न हो । यह ठीक है कि बुद्धि इच्छाओं का पथ-प्रदर्शन कर सकती है, उसकी गति में बाधा और विलम्ब उत्पन्न कर सकती है, पर जहाँ बुद्धि के विपरीत या अनुकूल कर्म होता है वहाँ भी वह मूलतः हृदय के अनुकूल ही होता है । हृदय के विपरीत मनुष्य जा नहीं सकता । बुद्धि कहती है—'चोरी करोगे तो जेल जाओगे ।' अन्तरात्मा कहती है—'अधर्म है, अपराध है' । बुद्धि की जेलवाली

धमकी एक भय बन जाती है। उसी तरह ईश्वर और जन-मत की कल्पना भी भय का रूप धारण करती है। चोरी से प्राप्त पूँजी से मौज करने की ललक, या चोर या मित्रों के प्रति वफादारी का स्वाभिमान या भूखों मरते परिवार की प्राण-रक्षा की कल्पना से उठे करुण भाव इच्छा बनते हैं, हृदय बनते हैं। यदि चोरी अन्ततः की जाती है या नहीं की जाती है, तो इच्छा की इच्छा पर विजय होती है, द्वन्द्व हृदय-हृदय के बीच होता है। बुद्धि और हृदय का द्वन्द्व नहीं होता, व्यास-यजमान सम्बन्ध होता है। गुरु-शिष्य-द्वन्द्व अचिन्त्य है।

दूसरी बात। हत्या में पीड़ा नहीं होती। पीड़ा केवल आत्म-हत्या में होती है। पाप में, आखेट में, युद्धोन्माद में हत्या होती है, पर मनोरंजन होता है, तृप्ति होती है, पीड़ा नहीं होती। पर न्यायाधीश जहाँ बुद्धि को हटा कर हृदय से अपराधी में मिल जाता है वहाँ अपराधी की फाँसी उसके लिए आत्म-हत्या हो जाती है, और तब उसे पीड़ा हो सकती है। बुद्धि की गति केवल स्वार्थ में है। परोपकार को भी बुद्धि स्वार्थ ही बतायगी पर जहाँ बुद्धि की गति केवल स्वार्थ में है वहाँ हृदय की गति स्वार्थ और परार्थ दोनों में है। हृदय के लिए दोनों एक भावना हो जाते हैं। एक अहं की अनुभूति के द्वारा, दूसरा सहानुभूति या तादात्म्य के द्वारा मानने के लिए पहचानना नियम है। पर पहचानने के लिए मानना अस्वाभाविक है, ऐसा खुफिया-विभाग वाले ही कर सकते हैं।

इस तरह बुद्धि किसी कर्म की ओर प्रवृत्ति का समर्थन करे अथवा विरोध, व्यक्ति जो निश्चय करता है वह बुद्धि के अनुकूल हो या विपरीत, हर हालत में हृदय का ही निश्चय रहता है। इसलिए शील का अध्ययन हृदय का ही अध्ययन है। बुद्धि परिणाम, सफलता, विफलता, सम्बन्धों, प्रयोजनों, हानि-लाभ आदि की संभावनाओं को तर्क के रूप में रखती है। परन्तु शील के अध्ययन के लिए बुद्धि की शिक्षा और मंत्रणा तभी प्रासंगिक होगी जब हृदय उन परिणामों की भयंकरता या सुखदता, सम्बन्धों और प्रयोजनों तथा हानि-लाभ के दुःख-सुख की अनुभूति, भाव के रूप में करता चलेगा। बुद्धि कहती है—'रेल का इंजन कितना भारी होता है। उसकी रफ्तार कितनी तेज होती है। नीचे पड़ोगे तो पिस जाओगे, अँतड़ियाँ फट पड़ेंगी, खोपड़ी पर लाखों मन का बोझा पड़ेगा।' अब इन बातों से व्यक्ति का हृदय कल्पनाशक्ति के सहयोग से एक मूर्त नाटक करता है, जिसमें उसका सिर इतने भारी इंजन के नीचे दबता है और फेफड़े फटने की एक चीख उसके हृदय से निकल जाती है। इस तरह भय का भाव हो गया। उधर हृदय सोचता है—'जिस भाई को इतना माना, जिसे पढ़ाने के लिए डोम को भी सरदार कहा, उसने आज ओहदा पाने पर मुझे पहचाना तक नहीं। मैं इतना तुच्छ हूँ? गाँव वाले सुनेंगे, क्या कहेंगे? दुष्ट रामलोचन कितनी खुशी से मेरी बेइज्जती का ढिंढोरा पीटेगा। इससे तो मौत अच्छी। मैं मर जाऊँगा। घर तार जायगा, भाई के यहाँ भी। तब सब लोग

मेरी लाश को, मेरी दुर्दशा को देखेंगे । जेब में पड़ी मेरी चिट्ठी पढ़ेंगे । मेरा भाई आयगा । ग्लानि, लज्जा और शोक से वह पागल होगा और सारे गाँव के लोग उस पर थू-थू करेंगे । मेरी पिछली करनियों को सुनने पर तो बच्चू को रोने के लिए आँख नहीं मिलेगी । आह ! कितना सुखद होगा वह दृश्य !' इस सुख की इच्छा और उस भय में द्वन्द्व होते-होते एक इच्छा दूसरी पर विजयी होगी, कुछ ऐसा नहीं कि बुद्धि पर हृदय या हृदय पर बुद्धि की विजय हो ।

घड़ी की सुई बतलायगी कि दंगल खत्म होने में, बाजी मारने के अवसर में, कितनी देर है । मगर दंगल तो दो पहलवानों के बीच होती है । हाँ, घड़ी पहलवानों की आत्मा में प्रवेश कर जा सकती है—अधीरता भय, उत्साह, निराशा आदि के भाव बन कर ।

इसका अर्थ यह नहीं कि बुद्धि को शील से हम पूर्णतः पृथक् कर सकते हैं । दो आदमी लड़ रहे हैं, इसमें प्रोत्साहन देने वाले, तालियाँ पीटने वाले, हिम्मत को बहुत-कुछ पक्षपात के द्वारा बढ़ा-घटा सकते हैं, हालाँकि वे स्वयं युद्ध में भाग नहीं लेते । द्रष्टा कह सकते हैं—'देखो सामने गड्ढा है ।' ईश्वर के यहाँ Seraph को केवल पंख, Cherub को केवल आँखें होती हैं । पंख में गति है । आँख में दृष्टि । आँख द्वारा भय का कारण देख लेने पर पंख खण्ड-खण्ड हो जाते हैं, शिथिल पड़ जाते हैं, या वापस आने को प्रयत्नशील हो जाते हैं । पर काव्य में, शीलविधान में, चेतावनी से उत्पन्न भय द्वारा उत्साह का विघात और समर्थन से उत्पन्न आशा द्वारा उत्साह की वृद्धि दिखलाना श्रेयस्कर होगा । जहाँ उपन्यासों में या नाटकों के संभाषणों में बुद्धि ग्रन्थ-दर्शन करती चलती है, वहाँ शील और वाणी अथवा विचार का संबंध भी नहीं होता । जहाँ हृदय बुद्धि के तर्कों, दृष्टान्तों, आँकड़ों का मूर्त्त विधान करता है, भावों के द्वन्द्व में पड़ा चलता है, वहीं शील की दृष्टि में हमें सजीव अभ्यन्तर का साक्षात्कार होता है ।

बुद्धि एक ही जगह हृदय को जहाँ खण्ड-खण्ड करती है, उसका सबसे करुण और सूक्ष्म-सुन्दर स्वरूप है, अनिश्चय की अवस्था । आँखों का खुला रहना और बन्द रहना दोनों स्वाभाविक हैं । प्रत्यक्ष के लिए खुलना और फिर बाह्य जगत् से विश्राम के लिए पलक मूँद लेना सामान्यतः प्राकृतिक है । आलोक का दिवा-निशा-विधान नैसर्गिक आवश्यकताओं पर आधारित है । हृदय जहाँ आँखें मूँद विश्वास कर लेना चाहता है, बुद्धि वहाँ अन्वेषण अथवा विश्लेषण करने को बाध्य करती है । हृदय के भाव-लोक, कल्पना-लोक, सहानुभूति या रहस्यानुभूति को स्वप्न-निस्सार बताकर बुद्धि खल-शिष्ट-स्मित के साथ आदाब बजा किनारे खड़ी होती है । उधर हृदय आस्था-पूजा, अवलम्ब, उपासना की अमर इच्छा लिये कराहता है । लामिया पर अपोलो नियस की दृष्टि पड़ जाती है और उस दृष्टि से फूटी किरणें सपनों को लूट लेती हैं । और कोई, कह नहीं सकता कि 'आँखें फूटीं या पौ फूटा !' हैमलैट की ट्रेजेडी इसी दृष्टि से विश्वसाहित्य की सबसे बड़ी

ट्रेजेडी है, क्योंकि यह ट्रेजेडी मनुष्य की पहली और अन्तिम ट्रेजेडी है। परलोक और इहलोक का अभिसार रहस्य-श्रद्धा हृदय के कुरुक्षेत्र में होता है। To be or not to be के अनिश्चय से प्राणसंकल्प की यम-विरंचि दशा से बढ़कर करुण दशा संस्कृत-शील वाले के लिए है ही नहीं। इस सापेक्ष जगत् में निरपेक्ष आस्था या अनास्था की शान्ति-कामना, (जब तक बुद्धि की आँखें फोड़ नहीं दी जातीं, जिह्वा काट नहीं दी जाती) दुःख की सब से भयंकर स्थिति है। मनुष्य के हृदय-मन्दिर में एक ही साथ महमूद गजनवी और सोमनाथ की स्थिति से बढ़कर करुणोदात्त अनुभूति (Tragic experience कोई नहीं। और, सभी परिस्थितियाँ अन्तरिम हैं, अन्तिम नहीं। अन्तरिम (Interim) ट्रजेडी और अन्तिम (Ultimate) ट्रेजेडी के इस वर्गीकरण पर पाठक कुछ सहानुभूति से सोचें। दर्शन पढ़कर मन्दिर में दर्शन करने जाना निरर्थक हो जाता है। (Lear Othello) की ट्रेजेडी, विकारों की 'अहं' की है। लेकिन इस पीड़ा की अनुभूति ग्रीस के निवासियों ने, विक्टोरिया के जीवन-काल के कवियों ने (Arnold Tennyson Clongh) की और आजकल के लोग भी कर रहे हैं। Waste-land इसी मानी में हृदय की मरुभूमि का, एक चिरस्मरणीय प्रतीक-रूपक है।

ऐसी अवस्था में भी बुद्धि के प्रभाव को हार्दिक बनाकर दिखाना चाहिए। तभी शील की सजीवता आयगी। बुद्धि के विवाद से वियोग की अवस्था हो जाती है। उधर हृदय संयोग-सुख चाहता है। प्रेम में न तो मिलन न सम्बन्ध-विच्छेद की अवस्था है, यत्र अनबन की अवस्था है। एक ही साथ दोनों रहते है, परन्तु अहं और आसक्ति दोनों जगे हैं। इस अवस्था में यह नहीं कहा जाता—'मुझे प्यास लगी है, पानी पिलाओ' बल्कि यह कि —'है कोई पानी पिलाने वाला, कोई पिला देना, मुझे प्यास लगी है'। उधर पानी का ग्लास हाथ में नहीं दिया जाता, निकट रख दिया जाता है। इस अर्थ में एक गज की दूरी भी सौ गज की दूरी है, दस गज की दूरी भी सौ गज की है, और सौ गज की दूरी भी सौ गज की है।

द्वन्द्व चित्रण मे भावों की भीड़ नहीं लगने देनी चाहिए। जब चित्रकूट में सन्तों की बहुत भीड़ हुई तो तुलसीदास जी चन्दन घिस रहे थे, रघुवीर तिलक ले रहे थे और तुलसी ने राम को पहचाना तक नहीं। जहाँ बहुत से भावों की उधेड़बुन में शीलवान् पड़ा रहता है वहाँ उसकी स्थिति द्वन्द्व की नहीं होती, (Distraction) या विक्षेप की हो जाती या वह भावों के विलास में निमज्जित-सा दीखता है, और पाठक यह सोचता है कि जो डूब गया है उसके ऊपर किस तरंग से पानी का कितना बोझ आया, इसकी गिनती कौन करे? इसी से द्वन्द्व-चित्रण में विपरीत और अत्यन्त निकट संचारियों को ही लेना चाहिए। मान लीजिये, कोई व्यक्ति आकर किसी से सहायता माँगता है। वह सोचता है, घर में लड़की की शादी है। समधी से बड़ी सजधज की बरात

की धमकी दी है। कहीं रुपये के अभाव से नाक कट गई तो? रुपये रहने पर तो एक की जगह दो देकर उनके मूँह पर जूते चला सकूँगा। परन्तु यह जो निगग चला जायगा। इसके सामने रोना क्या रोऊँ? जो कृपा की याचना करने आया उससे दया की भीख माँगू? वह कौन है? अरे, वह तो विश्वनाथ है। रोज की भाँति आज भी चीटियों को चीनी खिला रहा है। चीटियों को चीनी खिला रहा है? अरे, क्या इससे उसके घर की चीनी खत्म हो जायगी। छिः छिः, 'तुलसी पंछी के पिये घटे न सरिता नीर'। मगर शादीवाली बात ठहरी और यह तो कहता है—'इसका लड़का मरणशय्या पर पड़ा है।' आज यह बच्चू चल पड़े हैं और रो रहे हैं। पारसाल पानी वाले झगड़े में इसी ने तो कहा था, देख लूँगा आप को!' अब मरे! साँप को दूध पिलाऊँ। आदमी भी कैसा बेहया होता है कि जिससे अकड़ कर बात की है, उसके सामने फिर गिड़गिड़ाकर भीख माँगता है। पर ऐसी हालत तो भगवान् करता है। भगवान् मेरी भी ऐसी हालत कर सकता है। 'दिया दूर नहिं जात'। आपत्ति और अभाव में ही तो धर्म की परीक्षा भी वह लेता है। बिहारी की सुनो—हरामी ने चलने के वक्त उसे मना किया कि वह मेरे पास न आये। मेरा अपना ही खर्च नहीं चलता तो मैं दूसरों को क्या दूँगा? और यह भी कहा कि मदद तो मैं उन्हीं का करता हूँ जिससे कुछ मतलब ऐंठना रहता है। पर पारसाल ललकारनेवाले यही सज्जन थे। शादी में कहीं नाक कटी तो? न दूँ तो दरिद्र समझा जाऊँ। फिर वह पाजी कहेगा—'कहा न था? गये न? पानी खो आये।' तो शत्रु के ललकारने पर दूँ? परन्तु बलि की भी न निभी। यश को देखूँ या बरात में अपनी शान को, आदि-आदि। यदि इतनी धाराओं और प्रतिधाराओं का दिग्दर्शन—यही क्या, लोग उपन्यासों में मीलों तक यही दिखाते हैं—कराया जाय तो अन्त में सहायता देने या न देने के कर्म से शील की प्रेरणा-तालिका को हम जान न सकेंगे। नहीं दिया तो ईर्ष्या से, या बरात के भय से, या बिहारी की बात पर क्रोध कर कि 'जाओ, तुम्हारे कहने में न आऊँगा', आदि-आदि। यदि दिया तो पता नहीं, ईश्वर के भय से या मरणासन्न पुत्र की करुणा से या शत्रुओं को उपकृत करने की भावना से, या बिहारी से क्रुद्ध हो उसे गलत पैगम्बर सिद्ध करने के लिए, या विश्वनाथ से उत्साह पाकर। यदि सबके योग से तो योग बड़ा हो जाने पर मूल प्रेरणा हम भूल जायँगे। इसी से कुछ मितव्ययिता, कुछ अनुशासन की माँग द्वन्द्व-चित्रण में करनी होती है।

सिनेमा में शील-विधान का कुछ ऐसा गैबी गजब है कि गाने के लिये रोया जाता है। औचित्य और भावों की सहज पद्धति छोड़ दी जाती है। दूसरा गजब है, सिनेमा में अभ्यन्तर का गाने के छन्दों में बद्ध होकर आना। आजकल अभ्यन्तर का साक्षात्कार करानेवाले कलाकार पात्र के विचारों में प्रोषितमतित्व तथा विषयान्तरों का बाहुल्य यथार्थ-

वाद के नाम पर दिखाते हैं। किसी व्यक्ति की मूँघी जूही पर, फटी-पुरानी जूती पर दृष्टि पड़ती है, बस, अब जो विचारों, भावों का ताँता शुरू होता है तो रुकने का नाम नहीं। यह कलाकार का अपना उन्मादचक्र हो जाता है।

बाह्य द्वन्द्व में भी भीड़ से जो हानि है, उसकी पुष्टि राजनीति में आप देखकर समझते हैं। निर्वाचन को लेकर अनेक नेताओं का एक ही साथ जो अवतार होता है उससे जनता कितनी घबरा जाती है! कोई कहता है—'ब्राह्मणो, क्षत्रियों ने तलवार से राज्य किया है, इन्हें मिटाना है, इसलिए तुम एक हो जाओ, हमें वोट दो!' कोई कहता है, हरिजन ही वास्तविक जनता हैं। इसलिए वे एक रहें तभी मानववाद की सृष्टि होगी! कोई पुराने पण्डित जी, जिन्हें 'अमरकोष' भी कंठस्थ है, रामराज्य के लिए सिद्ध वशिष्ठ ढूँढ़ते हैं। इधर स्वतन्त्रदल वाले कहते हैं—'सभी मानते हैं कि योग्य और साधु व्यक्ति चुने जायँ। हम कांग्रेस के बाहर हैं, इसलिए हम योग्य और साधु दोनों हैं!'

इधर कांग्रेसी गजराज के लिए एक नहीं, कितने ग्राह मुँह बाये मँझधार में बैठे हैं। ऐसा द्वन्द्व एक केन्द्र पर विपरीत दिशा से आ भिड़नेवाले दो ज्योतिर्बाणों की भाँति न होकर, सूर्य-मंडल की तरह, एक केन्द्र से अनेक दिशाओं में फैलनेवाले किरणजाल की भाँति हो जाता है, और इस प्रकार उस पर आँख नहीं टहर पाती। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि ऐसे द्वन्द्व में केवल दो प्रतिद्वन्द्वी भावनाओं का ही सरलीकृत संघर्ष हो, बल्कि यह कि द्वन्द्व को जाल नहीं हो जाना चाहिए। अखाड़े में आप इसका तमाशा देख सकते हैं। गामा जब जिवेस्को से लड़ता होगा तो उस द्वन्द्व के नाटकीय संघर्ष में दर्शक रम सके होंगे। पर वही गामा जब एक साथ पच्चीस शिष्यों को जोर कराने लगे, तो वह द्वन्द्व न होकर तमाशा हो जायगा और हम केवल कुतूहल का हल्का आनन्द ले सकेंगे। हमारा 'अहं' भी जगा रहेगा और हम साथियों से बातें भी करते रहेंगे।

आगे जिस बात पर विचार करेंगे वह यह है—सुन्दरतर द्वन्द्व स्वार्थ-स्वार्थ के बीच होता है, अथवा आदर्श-आदर्श के बीच, अथवा स्वार्थ-आदर्श के बीच? स्वार्थ और आदर्शका द्वन्द्व, श्रेय और हेय का द्वन्द्व, विजातीय शक्तियों का द्वन्द्व मालूम होता है। यदि वासनाओं को कुचलकर कोई कर्त्तव्य-पालन करे, तो ऐसा मालूम होता है कि वह निश्चय सरल था। यह द्वन्द्व उतना मरोड़ उत्पन्न नहीं करता। पर जहाँ अपने दो भाई विपत्ति में पड़े हैं, दोनों की पुकार दो स्थानों से आती है, या जहाँ मित्र एक ओर पुकार रहा है, और पुत्र दूसरी ओर, और द्वन्द्व विशुद्धतः स्नेह का है, तो इसकी गहराई न मालूम कितनी गुनी बढ़ जायगी। इसी तरह जहाँ अहिंसा और न्याय के बीच संघर्ष हो और मूल्यों के दो समान औचित्य अपनी रक्षा के लिए हमारे पुरुषार्थ से याचना करें, वहाँ द्वन्द्व की मार्मिकता बढ़ जायगी। पहले दृष्टान्त में भावतत्त्व की आत्महत्या है, दूसरे में धर्मतत्त्व की। भाव द्वारा धर्म की हत्या या धर्म द्वारा भाव की हत्या तो हमारे हृदय में एक प्रच्छन्न तथा सूक्ष्म घृणा और क्षोभ

का अर्थसिद्ध संस्कार छोड़ जायगी। सिनेमा के लिए अध्ययन और अध्ययन के लिए सिनेमा छोड़नेवाले आवारे अथवा संयमी कह कर टाल दिये जा सकते हैं। पर अध्ययन के क्षेत्र में दर्शन और साहित्य के आनन्द के द्वन्द्व में पड़ा पाठक या सर्वथा दो नवीन और समान उत्कृष्टता की ख्यातिवाले चित्रपटों में किसे पहले देखा जाय, इस द्वन्द्व में पड़ा प्रेक्षक अधिक गहराई की चीज है, क्योंकि वह आत्मा द्वारा आत्मा की हत्या की पीड़ा लिये हुए होगा।

जहाँ भावना और कर्त्तव्य में द्वन्द्व होता है, वहाँ पात्र संघर्ष के निमित्त कारण-से दीखते हैं। पर जहाँ भावना बनाम भावना, कर्त्तव्य बनाम कर्त्तव्य का द्वन्द्व चलता है, ऐसा मालूम होता है कि पात्र द्वन्द्व का उपादान कारण भी हो। ऐसी अनुभूति होती है कि ईश्वरप्रदत्त भावसार दो भागों में विभक्त हो गया हो। यही गृह-युद्ध है। भावना बनाम कर्त्तव्य वाले द्वन्द्व गृह-युद्ध-से न दीख कर विषवृक्ष से दीखते हैं। भावना के आँगन में कर्त्तव्य का विषवृक्ष, या कर्त्तव्य के आँगन में भावना का विषवृक्ष लग गया है, इसे उखाड़ फेंकना है, ऐसा मालूम पड़ता है। पर प्रथम कोटि के द्वन्द्व में पात्र अपने हृदय में दो आकर्षण-सिद्धान्तों को महाभारत की जड़ कुरुक्षेत्र नहीं बना रहता। वह तो अर्जुन की भाँति, नकुल, सहदेव, युधिष्ठिर, भीम आदि के दुःख और दुर्योधन, भीष्म, द्रोण आदि के दुःख से अपनी भावात्मक सत्ता को केवल 'केवलपूर्ण' पाता है।

'केवलपूर्त्ति' का क्या अर्थ है? मैं इसका व्यवहार इस अर्थ में करता हूँ कि द्वन्द्व के विरोधी भावों को पात्र की भावभूमि के सम्पूर्ण विस्तार और गहराई को भर देना चाहिए। इसके लिए किसी तीसरे योग की आवश्यकता न पड़े। किसी परिस्थिति में पात्र की भाव-भूमि की गहराई और विस्तार को देखिये। मित्र के प्रति प्रेम और पुत्र के प्रति प्रेम, दो 'प्रेमों' की मात्रा पूरी परिस्थिति को भर देता है। अब उस परिस्थिति में माता या पिता के प्रति प्रेम का दिग्दर्शन अप्रासंगिक होगा। 'केवलपूर्त्ति' की अवस्था एक विशेष परिस्थिति में, केवल पुत्र-प्रेम और मित्र-स्नेह से, पात्र की संपूर्ण सत्ता के भावसरोवर के परिपूर्ण हो जाने में होगी। केवलपूर्त्ति की यह अवस्था प्राप्त होने पर जब द्वन्द्व की ऐसी परिस्थिति में भाव-विघात की दशा आयगी, तो पात्र, विघात का निमित्त ही नहीं, उपादान कारण भी हो जायगा। ऐसी हालत में यदि पीड़ा होगी तो उसका क्षय आत्म-क्षय होगा।

गृह-युद्ध में परिवार का पितामह करवटें बदलता है और दूसरे परिवार से युद्ध के लिए कटिबद्ध हो उत्साह दिखाता है। प्रेम-प्रेम का द्वन्द्व आत्महत्या (Suicide) तथा प्रेम और घृणा का द्वन्द्व हत्या (Murder) के रूप में होगा। पाठक जागरित मूल-बन्धुत्व के द्वारा बन्धुपात्र की आत्महत्या में अपनी ही आत्महत्या की वेदना का अनुभव करेगा। भ्रातृहत्या (Fratricide) आत्महत्या (Suicide) के भीतर आती है।

Les Miserabeles का जावर्ट सरकारी कर्मचारी के कर्तव्य और वालजीन जैसे देवनागरिक को सुख पहुँचाने के कर्तव्य के बीच पड़ा-पड़ा अन्ततः आत्महत्या कर ही बैठता है ।

अभ्यन्तर का सौन्दर्य द्वन्द्व में नहीं बल्कि भाव के विविध और गूढ़ स्वरूप-चित्रण में है । स्वरूप की विविधता तथा गूढ़ता के अतिरिक्त उसकी प्रच्छन्नता और सूक्ष्मता से भी शील-चित्रण का मूल्य बढ़ता है ।

अभ्यन्तर चित्रण में स्वरूप की विविधता—उदाहरणार्थ, प्रेम की बात लीजिए । यदि एकान्त में प्रेमी को प्रेयसी से, लुक-छिपकर, नदी के किनारे अथवा ढहे मन्दिर के पीछे मिलते, राग-रंजित उच्छ्वासों का मुक्तक-विलास करते दिखाकर संतोष-लाभ कर लिया जाय, तो ऐसा चित्रण प्रेम का होगा, एक विशेष प्रेमी का नहीं—वह भी एकांगी । प्रेयसी किसी परीक्षा में फेल कर जाय, तो उसके यहाँ किसी दूती से "बधाई ! भगवान् करे, आप की कीर्ति इसी तरह दिन–दूनी, रात–चौगुनी बढ़ती जाय"—लिफाफे में बंद कर भिजवा देनेवाला भी प्रेमी हो सकता है—यदि पास कर लेने से, उच्च शिक्षा के लिए, प्रेयसी के बम्बई चले जाने का खतरा हो । प्रेयसी को चिढ़ाने में मधुर विनोद है, कोई क्रूर हिंसा नहीं । इसी तरह त्याग, साहस, श्रम, लंबी प्रतीक्षा, शंका, ईर्ष्या, आहत स्वाभिमान, क्षणिक आवेश, प्रलोभन, आकस्मिक मोह-भंग (जैसे, अचानक इस बात को जान लेना कि प्रेयसी पहले किसी दूसरे से प्रेम करती थी), सम्बन्ध के जीर्ण हो जाने से विरुचि, आरोपित भावुकता (जैसे, किसी की माता दमे की मरीज रही हो और उसके यहाँ एक ऐसी भिखारिन आ जाय जिसे खाँसी के मारे बोला न जाय और पुत्र भिखारिन में ही माता का आरोप करके अधिक से अधिक दे देने के लिए भाव-विह्वल हो जाय), भयानक तथा दारुण परिस्थिति में स्वार्थ-बुद्धि का अभिचरण—इन सभी से गुजरते शील को देखकर किसी एक तत्त्व के कई रूप हाथ लगेंगे । याद रहे कि यहाँ संश्लिष्ट विविधता की बात नहीं होती, जो शील में विरोध-सहिष्णुता की उदार स्वीकृति है ।

गूढ़ता—गूढ़ता में अनुभूति की तीव्रता तथा अभिव्यक्ति की बाधा दोनों होती हैं । अभिव्यक्ति की ऐसी बाधा उत्कृष्ट व्यक्तित्व में एक अनायास धीर-गंभीर संयम तथा सरल संकोच के कारण होती है । भरत-भाव गूढ़ भाव है । इसमें आत्मपीड़न का सात्त्विक सौंदर्य है, उद्धार की राजसिक आकुलता नहीं । 'गूढ़' को भ्रम से 'कूट' नहीं समझ लेना चाहिए । 'कूट' में कपट है, अर्थ की चाणक्य-कुशलता है, परन्तु 'गूढ़' में मौन मरण है ।

ऐसे शील के लिए स्वगत (अथवा चित्र, स्मृति-चिह्न आदि से बातें करना) तथा कर्म के द्वारा अभिव्यक्ति (जैसे बहते आँसुओं को, किसीको देख, पोंछ लेना, या

घृणा के संदर्भ में अप्रिय के प्रति धिक्कार की एक हिमदृष्टि) अधिक समीचीन पद्धति है। शील की ऐसी गूढ़ अभिव्यक्ति दुःखात्मक भावों में ही हो सकती है। जड़ता गूढ़ नहीं होती, प्रगाढ़ भले ही हो। कोई मूर्ख गूढ़ नहीं होता। वैदग्ध्य भी गूढ़ नहीं। इसलिए हास्यकर या हास्यास्पद शील में गूढ़ता का प्रश्न नहीं उठता। इसी तरह अद्भुत लगनेवाले शील, ललित शील, उद्धत शील, शठ शील, अथवा वीर के शील में गूढ़ता का प्रश्न नहीं उठता। गूढ़ता, वेदना, घृणा, शोक, करुणा, ग्लानि, लज्जा आदि की ही चीज है। प्रिय के कल्याण के लिए, जान-बूझकर, उसका हृदय अपने से तोड़ने वाला गूढ़ स्नेही होगा—यदि प्रेमी के इस आत्मपीड़न के उदात्त स्वाँग को प्रिय न समझ सके, जिससे प्रेमी की सात्त्विक विवशता की वेदना और बढ़ जाय। पिता की हत्या करने वाले के यहाँ जीवन-निर्वाह करने के लिए विवश किसी मानी पुत्र की गूढ़ घृणा की कल्पना कीजिए, जिसमें वह स्वामी के साथ-साथ अपने से भी घृणा करता है, और जान-बूझकर ऐसे अपराध करता है जिससे उसकी ताड़ना हो, उसका अपमान हो, उसे बराबर अपनी अधम दशा का त्वरित ज्ञान बना रहे। यदि अपने छोटे भाई की मृत्यु के बाद, बड़ा भाई (अथवा पुत्र-सखा-तुल्य दुलारे, नटखट देवर के मरने के बाद कोई भाभी) छोटे की शय्या रोज सजाकर इस आशा में सोये कि छोटा कहीं-न-कहीं से सदा की तरह किसी से झगड़ा करके, चोरी के आम थैली में छिपाये आ जायगा, तो ऐसी आशा स्थायी उन्माद का ऐसा स्वरूप है जो गूढ़ है, पर कोलाहल-पूर्ण नहीं; किसी से कुछ कहा नहीं जाता, केवल मज्जा में आशा की ऐसी अंधी गुद-गुदी बन गई है। ऐसे भाव हड्डी पकड़ लेते हैं।

प्रच्छन्नता—प्रच्छन्नता ऐसे आवरण की अवस्था को कहेंगे, जिसमें घूँघट और रूपश्री दोनों को देखा जा सके। इसमें शील की अभिव्यक्ति भावों की कूट स्थिति दिखलाकर होगी। बहुत से ऐसे पिता होते हैं जो पुत्र-प्रेम में अपवाद-कथन या निन्दा की शैली अपना लेते हैं, "इतना बिगड़ गया है कि सवा सौ रुपये से कम खर्च लेता ही नहीं। अब इसी छुट्टी में, देखिए न, मसूरी जाने की रट लगाये हुए है। उस छुट्टी में बंगलोर, उसके पहले कश्मीर। नाकों दम है। इस बार आता है तो वह डाँट डाँटूँगा कि... ।"

खीझ के इस झीने आवरण से झाँकती पिता की प्रच्छन्न गौरव—भावना और भी रुचिकर हो जाती है।

सूक्ष्मता—भावों की वुद्धि-संस्कृति के माध्यम से गुजरने पर शील की अभि-व्यक्ति में सूक्ष्मता आ जाती है। चित्त की उपदशाओं (मूड्स) तथा परिष्कृत रुचि की असामान्य संवेदनाओं का इसमें योगदान रहता है। समुद्र की लहरों की टकराहट सुननेवाले, व्योमगंगा में छिटके तारों में से किसी एक तारे को आँख मटकाते देखने-

वाले, खँडहरों की विजन नीरवता में उन्मन-उन्मन भटकनेवाले, विराट् आकाश से रहस्य-संदेश सुननेवाले, प्रेयसी के 'चंदा' या 'नरगिस' नाम पर मुग्ध होकर कल्पना-लोक में विचरनेवाले, रूप पर संगीत-साहित्य की स्मृतियों का आरोप करनेवाले, गन्ध-सौरभ का सुख अधिक चाहनेवाले पात्र के शील का सौंदर्य सूक्ष्मतर होगा ही। अर्थ की अपेक्षा यश का, बल की अपेक्षा प्रतिष्ठा का सुख चाहनेवाले पात्र की भी यही बात है। एक ही आलम्बन के प्रति भावों के त्रैत (Trivalence) का अनुभव करनेवाले पात्र के शील में एक ही साथ विच्छित्ति तथा सूक्ष्मता का 'रस-चमत्कार' आ जाता है।

किसी दया-मायावाले मुक्तहस्त, उदार व्यक्ति के यहाँ उसके किसी परिचित आदमी का पुत्र एक बार, दो बार, तीन बार, रुपये माँगने आता है। वह देता चलता है। चौथी बार वह आता है तो वह बिगड़ उठता है और कहता है, "तुम्हें थोड़ी हया भी तो होनी चाहिए। जिसने दो बार बात रख दी, उसके यहाँ तीसरी बार जाने में जो संकोच नहीं रखता, उसका गला घोंट देना चाहिए। अब तुम्हारे चलते महेशजी (लड़के के पिता तथा उदार व्यक्ति के परिचित) से संबन्ध भी छूटा। हम जानते हैं कि वे हमें कभी नहीं क्षमा करेंगे। मेरे रहते तुम खाने बिना परदेस में मरो, तो मैं अब कौन-सा मुँह दिखाऊँगा। नीच कहीं के! तुम चले भी तो तब, जब जान लिया था कि मेरे पास पैसे नहीं हैं। अभाव की वेला में तुमने हमारा अपमान किया है। हमसे 'नहीं' कहलाया है। तुम्हारी मदद करनी चाहिए थी। उल्टे हम तुम्हारे ऊपर क्रोध कर रहे हैं। यह सब तुम करा रहे हो।"

स्पष्ट है कि इसमें उस याचक के प्रति दया का भाव, फिर अभाव की परिस्थिति में सहानुभूति को चुनौती देनेवाले के प्रति क्रोध तथा साथ ही क्रोध करने के कारण पश्चात्ताप भी है। त्रैत स्थूल रूप से केवल तीन प्रतिक्रियाओं का संयोग-शृंखला को नहीं कहेंगे। उसमें तीन से अधिक प्रतिक्रियाओं का समावेश भी किया जा सकता है।

अभ्यन्तर के इस "सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा" वाले भाव-प्रयोग में स्नान-करनेवाले सभी व्यक्ति आर्य हैं। इसीसे पात्रों का आर्य-अनार्य वर्गीकरण, उनके शील-चित्रण की अनुदार ही नहीं, त्वचा-स्पर्शी दृष्टि का द्योतक-सा लगता है। उदात्त शील वालों के लिए कुलीन या उच्चासन होना आवश्यक नहीं।

किसानों, गड़ेरियों, शाकवणिकों, मजदूरों, मधुकरी से जीनेवाले सूरदासों में भी अन्तरात्मा के सात्त्विक सौंदर्य, संकल्प की अमोघता तथा अजेयता, तेज, घृणा, प्रेम, रोष आदि की तीव्रता और गंभीरता हम देखते हैं। गुदड़ी के लालों के जो शील-पारखी होते हैं, वे अंतर की मणिदृष्टि से सम्पन्न होते हैं। लेकिन, आजकल तो अन्त-र्दृष्टि की उदारता के नाम पर, तुच्छ में उदात्त की कल्पना के नाम पर, चाट और

गर्म मसाले के सुर्ख मिजाज और जर्दरू पात्र, राजनीति, अर्थनीति, मनोविज्ञान, और दर्शन के नये वादों की अराजकता लिये, नायक शिरोमणि के रूप में दिखाये जाने लगे हैं। जड़वादी दर्शन की शीघ्रता, संशयवादिता, परम्परा-निरपेक्षता, अशुचि आचरण, आस्था के शून्य में मुँह बा-बाकर ली जानेवाली फैशनेबुल जम्हाई—इन सभी उपकरणों से बने पात्र जब सामने आते हैं तो देखते ही बनता है।

शील का चित्रण सामाजिक सदस्यता, वर्ण, आश्रम तथा अवस्था के भेदों की उपेक्षा नहीं कर सकता। कोई केवल व्यक्ति नहीं होता, भाई होता है, बाप होता है, दर्जी होता है, ग्वाला होता है, शिक्षक होता है, औघड़ होता है, युवा होता है, बालक होता है, वैष्णव होता है, गांधीवादी होता है, देशभक्त होता है, साम्यवादी होता है, शराबी होता है। इन उपाधियों का भोग करता हुआ शील परिणामी शील होगा और मांस-पेशियों से भरा-पूरा लगेगा। परम्परा के कारण विशेष उद्योग, आयु, दायित्व, विभाग, व्यसन, आदर्श से पोषित शीलों के प्रति एक सामान्य धारणा की स्मृति बन जाती है। यह स्मृति किसी नये पात्र को हृदयङ्गम कराने में सहायक होती है। ग्वाले का दूध में जल मिलाना, दर्जी का कतर-ब्योंत करना, औघड़ का भक्ष्याभक्ष्य का भोग करना, मारवाड़ी का 'माल चोखो है' सिद्ध करने के लिए सौगन्ध खाना, गवैये का गाना गाने के पहले जुकाम तथा फँसे गले के नखरे करना, कट्टर सनातनियों और कबीरपंथियों की निराली पंक्ति–मीमांसा करना, पीकर आनेवाले के कदमों का लड़खड़ाना और डींग के हाथी का सौदा करना—ये कुछ ऐसी परिचित आकृतियाँ हैं, जिनसे प्रत्यभिज्ञा को पुष्टि होती है। व्यक्तित्व और प्रतिनिधित्व का जीवित और संतुलित समन्वय शील को सरल, सजीव और यथार्थ बनाता है।

प्रबन्धकार या नाटककार कभी-कभी घटना को, मात्र-वैचित्र्य से बचाकर, व्यापक दिखलाने के लिए, प्रभाव को लोक-विस्तृत करने के लिए, तथा वस्तु-विन्यास को भरा-पूरा दिखलाने के लिए, कुछ शीलों का निर्माण करते हैं। ऐसे शीलों का निर्माण जिन पद्धतियों पर होता है, उनमें कुछ सामान्यतः उल्लेखनीय हैं—

(१) **समानान्तर पद्धति**:—एक ही प्रबंध में पृथक्-पृथक् दो कृतघ्नों का शील-चित्रण इसी समानान्तर पद्धति में आता है। यह नीम-करैले की पद्धति है। इसमें कटु स्वाद की लोक-व्याप्ति हो जाती है। यह आवृत्ति के द्वारा व्याप्ति की सिद्धि है।

(२) **विपरीत पद्धति**:—सदाचारी और दुराचारी, भावावेशी तथा बुद्धिमान, कृपण तथा उदार व्यक्तियों का एक ही स्थान पर चित्रण नीम-द्राक्षा की पद्धति है, जिससे वैपरीत्य से व्याप्ति की, सम्पूर्णता की, सिद्धि होती है।

(३) **समानान्तर विपरीत :**—अभिन्न आलम्बन के प्रति, अथवा उभयनिष्ठ प्रेरणा के कार्य-स्वरूप, दो विपरीत प्रतिक्रियाओं, संकल्पों या कर्म-भोग में यह पद्धति देखी जाती है। एक ही प्रेयसी को पाने के लिए रत्नसेन योगी बन निकल पड़ता है, तथा अलाउद्दीन तलवार लेकर। लोक-संग्रह का आदर्श एक को गांधी-विनोबा के सर्वोदयवाद की ओर ले जाता है, तथा दूसरे को वर्ग-संघर्ष के घृणा-वाद, विध्वंस-वाद की ओर। 'भंटा इक को पित करत, करत एक को बाय'।

(४) **शेषपूरक पद्धति :**—पूरकशेष शील वे होते हैं जो सामान्यतः गौण होते हैं तथा जिनके दिखा देने से ऐसा मालूम होता है कि जीवन का बचा शेष (अति प्रमुख पात्रों से बचा जीवन का शेष) पूरा हो गया। हार्डी के उपन्यासों में गौण पात्रों की टोली रहती है। प्रेमचन्द्र जी के 'गोदान' में भी यही हालत है। 'गोदान' के व्यावहारिक अध्ययन में हम इसकी चर्चा सविस्तर करेंगे। ये प्रायः प्रमुख पात्रों या घटनाओं पर टीका करते, श्लेष्मप्रधान प्रकृति के मध्यम मार्ग से चलते, वर्त्तमान का भोग करते चलते हैं। ये हास्य के अविरल स्रोत होते हैं। इनकी बोलचाल सरल, स्वाभाविक, चित्रमयी तथा गोचर रूपकों से भरी होती है। वे जीवन की दुरूहताओं, दूर क्षितिज के इंगितों, तथा सूक्ष्म-सौरभ वाले परिष्कृत क्षणों से दूर रहते हैं। ये कीच बनकर खिले रहना चाहते हैं, कमल बनकर मुरझाना नहीं चाहते। इनके बिना जीवन का सत्य अतिरंजित, एकाग्र तथा अधूरा मालूम पड़ता है। इनके माध्यम से सीमासापेक्ष जीवन की समता, सामान्यतया, जड़ता, तथा रागात्मक सरलता के दर्शन हो जाते हैं। ये कथा की इति में और आदि में भी सुलभ और सहायक होते हैं, साथ ही कथा के 'इत्यादि' के रूप में भी। इनके द्वारा इंगित किया जाता है—"और इसी तरह, ऐसे ही कई लोगों के जीवन में शील और प्रारब्ध की घटनाएँ देखने को मिलती हैं।" किसी विरलशील या प्रारब्ध की कथा के उपसंहार के बाद भी, ये चलते चले जाते हैं; और बच जाती है प्रकृति—नदी, तराई, उपत्यका, या शाल्मली का कोई वृक्ष—जो अपनी अविच्छिन्न शून्यमनस्कता में पूर्ववत् जड़स्थित रहती है।

करुणोदात्त (Tragic) शील:—करुणोदात्त शील चरम उत्कर्ष के शील माने जाते हैं। करुणोदात्त शील एक अनिवार्य विरोध, एक व्यापक व्यंग्य के परिणामी शील होते हैं। 'परिणामी' से तात्पर्य मात्र कर्मवाच्य-शील के शीलों से नहीं है। वे प्राणवन्त

होते हैं, संघर्ष-समर्थ होते हैं। लेकिन उनके प्रारब्ध की कार्य-कारण-व्याख्या उनके कर्मों से नहीं हो सकती। प्रारब्ध उनके कर्मों से अतिरिक्त पड़ता है, इसलिए अवसान-वेला तक प्रेक्षक या पाठक के मन पर प्रारब्ध के दुस्तर तथा महाभयानक रहस्य का प्रभाव ही अधिक मार्मिक होकर पड़ता है।

ऐसे शील की कथा से हमारे मन में वीर तथा करुण रस की प्रपानक-अनुभूति होती है। यह भाव-द्वैत नहीं, भाव का गुणकल्प है, जिसमें दोनों भावों का पृथक् आस्वादन नहीं होता।

अरस्तू की तरह कहने वाले कह सकते हैं कि करुणोदात्त नायक के पतन को देख हम भय से भर जाते हैं। इसलिए भयानक की भी स्वतन्त्र सत्ता मान लेनी चाहिए। बात जँचती नहीं। इतनी विराट् शक्तियों से वह नायक संघर्ष करता है तथा वह स्वयं इतना बड़ा वीर होता है कि हम उसके पतन पर सोचते हैं, "जब ऐसे की यह हालत है तो हम जैसों की क्या हो सकती है, इसलिए बचकर चलना चाहिए।" इसलिए भय तद्भव है, मौलिक नहीं। यह वीरता भी जितनी दूसरों के विध्वंस या पराजय करने की क्षमता में नहीं, उतनी सामरिक उत्साह तथा पीड़ा सह सकने की, स्वाभिमान को अक्षुण्ण बनाये रखने की निस्सीम शक्ति में, संकल्प की वज्र-कठोरता में है। प्रारब्ध से पराजित होकर भी जो मन में हार न माने, वही सच्चा वीर है। जो पसीना पोंछते-पोंछते दस हजार आदमियों को मार डाले वह विस्मय से भले ही भर दे (जैसे कोई द्रुत में तबला पर त्रिताल बजाने वाला), लेकिन वीर नहीं है। दस हजार तीर एक साथ झेल कर भी अपना तीर छोड़ता जाय, या हार न माने तब न वीर! तन चला जाय, धन चला जाय, लेकिन मन न माने, तब न मानी!

लेकिन मात्र स्वार्थ-साधन के लिए कोई मर भी जाय तो उसके लिए बन्धुत्व की भावना नहीं होगी। करुणोदात्त नायक जिन शक्तियों से संघर्ष करता है, वे अखिल मानवता से शिवमूल्यों या स्वभाव-धर्म का विरोध या उन पर व्यंग्य करती-सी मालूम पड़ती हैं। इसलिए ऐसा नायक सबका बन्धु हो जाता है। उसका पतन तथा भौतिक क्षय हमें करुणा से भर देता है। इतनी दुर्धर्ष शक्तियों से संघर्ष करनेवाला बन्धु कोई साधारण बन्धु तो है नहीं, संकल्प, साहस, शक्ति तथा मर्यादा (या स्वाभिमान, प्रतिष्ठा नहीं) की असाधारण विभूति है। साधारण की यह असाधारण विभूति हमें विस्मय से, (और चूँकि बन्धु है, इसलिए गौरव से) भर देती है। इसलिए करुणोदात्त नायक अद्भुत वीर-सा लगता है।

समवेदना (Pity) को जो लोग (Awe) कहने लगे हैं, वे इसी आधार पर कहते हैं। आतंक के साथ गौरव और आदर के भाव का आ जाना इसलिए संभव

होता है कि करुणोदात्त नायक में आत्मबल की अतिशय पूँजी दीख पड़ती है। यहाँ आत्मबल से अभिप्राय मनोबल से है, कुछ ज्ञानियों, योगियों या भक्तों की आध्यात्मिक विभूति से नहीं। यह ऐसा मनोबल है जो अहं की निरपेक्षता का रजस् की अजेयता का, दृश्य प्रस्तुत करता है। यह ऐसा 'अहं' है जो, 'मम' का भी गला घोंटकर अपनी मर्यादा बचाने की दृढ़ता रखता है। ओथेलो के लिए डेस्डेमोना 'मम' है।

करुणोदात्त शील की तालिका तमस् और सत्त्व के ऊपर रजस् के प्राबल्य में है। तमस् में इच्छा के साथ आलस्य, जड़-तन्द्रा का भोग और अन्धकार भी है। रजस् में 'अहं' की आक्रामक गति है। सत्त्व में आलोक के साथ शान्ति और केन्द्राभिमुखी विलयन की वह ऐकान्तिक प्रवृत्ति है, जिसे 'निवृत्ति' की संज्ञा देते हैं। यह ज्ञानियों और भक्तों की चीज है।

ज्ञानी और करुणोदात्त नायक, दोनों निरपेक्ष अद्विनीयता चाहते हैं। पर जहाँ ज्ञानी निवृत्ति के द्वारा केन्द्र के स्थिरबिन्दुत्व का समाधि-भोग करता है, वहाँ करुणोदात्त नायक त्रिज्या की वृद्धि के द्वारा, परिधि के विस्तार के द्वारा, निरपेक्ष अद्वितीयता चाहता है।

इस वर्द्धमान परिधि का वह स्वयं बन्दी हो जाता है। बन्दीगृह के प्राचीर को बढ़ा देने से बन्दी की मुक्ति नहीं होती, बन्धन और भी उच्चरित हो उठता है। सबको हटाकर, अहं के कारण सबका निषेध कर, करुणोदात्त नायक अकेला हो जाता है। इसीलिए सूनापन अथवा एकान्त की उदासी जितना उसे सताती है उतना किसी को नहीं। लियर सोचता है, अपनी लड़कियों पर, विशेषत: कौर्डेलिया पर उसका निरपेक्ष अधिकार है। कौर्डेलिया पति के प्रति प्रेम की याद दिलाकर सीमा-सापेक्षता ला देती है। लियर दमन करना चाहता है। प्रवृत्ति की ओर उसके अहं की, रजस् की, दर्प की यह गति है। फास्टस ज्ञान और विलास की निरपेक्ष भूख में विश्व को, अतीत को समेट लेना चाहता है; तब शैतान के सेनानी—सचिव Mephistopheles से (रजस् से) उसका बन्धन संपन्न होता है। सापेक्षताओं पर सर पटक कर मर जाना अच्छा, पर मुड़ना ठीक नहीं—यही करुणोदात्त शीलवालों की भोक्तृत्व पद्धति है। सबसे भारी व्यंग्य तो यह है कि सत्त्व अन्तरात्मा में, रजस् का शमन नहीं करता। वह या तो अन्तस्सार (Vital Principle) को विभक्त करता है या अतिरिक्त विद्युत् प्रदान करता है। यदि किसी परिस्थिति में थोड़ा स्वार्थी बन जाने से रक्षा या निर्वाह हो सकता है, तो ऐसा न कर वह उदार बन जाता है। सत्त्व का यह घातक आवेश दु:ख का कारण बन जाता है। शत्रु के साथ दया कर सकते हैं या तो साधु या करुणोदात्त शीलवाले—एक खिन्न वत्सलता के कारण, दूसरा उसे तुच्छ समझ कर।

करुणोदात्त शील बिल्कुल बुरा नहीं होगा, बिलकुल अच्छा नहीं होगा—इसको लेकर खंडन-मंडन चला करता है। आत्यन्तिक साधुता का पतन न्यायबुद्धि को क्षुब्ध करता है

आत्यन्तिक दुष्टता का पतन न्यायोचित होकर संतुष्ट करता है। इसलिए लोग कहते हैं, करुणोदात्त नायक के लिए दोनों अतियों की ऐकान्तिकता ठीक नहीं। इसके विपरीत, लोग कहते हैं, चाहे अच्छा हो या बुरा, बड़े पमाने पर हो। अपराध की वृद्धि सामाजिक न्याय की दृष्टि में दंड की वृद्धि करती है, निन्दा की वृद्धि करती है। लेकिन भावोत्कर्ष की दृष्टि से बड़ा अपराधी अद्भुत तो होकर ही रहता है। इसी तरह महात्मा गाँधी या ईसा की हत्या में, इस दृष्टि से मार्मिकता बढ़ जाती है। यह बात परीक्षा से ठीक नहीं उतरती। महात्मा गाँधी और ईसा में तो "बायाँ गाल भी उधर कर दो" (Turn the left cheek also) का अविरोध-दर्शन है। उनके रजस् की गति में अहं नहीं, अहं की लय है। वह तो रूप से रजस् है, तत्त्व से सत्त्व। उसी तरह बहुत बड़े रक्त-पातकी के पतन के तमाशे में अद्भुत तो है, करुण नहीं।

मार्लो के टैम्बरलेन को ट्रेजडी कहने वाले रसज्ञ नहीं, हठवादी हैं। Tamberlane की वीरता पीड़ा सहने की नहीं, पहुँचाने की है।

करुणोदात्त नायक में तो यह पीड़ा इसलिए बढ़ती जाती है कि वह स्वाभिमानी है। चूँकि स्वाभिमानी है, अच्छा है; इसलिए उसका विरोध रुकता नहीं। विरोध बढ़ने से उसकी पीड़ा बढ़ती है, क्योंकि नियति उसके साथ परिहास करती है। नियति भी ऐसी कि नायक से कोई समानता नहीं।

यदि हम पूर्वोल्लिखित (रजस् के माध्यम से मनुष्य के अहं की निरपेक्ष अद्वितीयता की अभिव्यक्ति को) सिद्धान्त मान लेते हैं तो Antigone और Brutus के शील-प्रारब्ध की भी कसौटी मिल जाती है। स्वभाव-धर्म की प्रेरणा यह है कि भाई की विधिवत् अन्त्येष्टि की जाय। राजसत्ता की आज्ञा है, न की जाय। दोनों निरपेक्ष विधियाँ हैं। Antigone स्वभाव-धर्मवाले निरपेक्ष को अपना लेती है। उसी तरह Brutus देश-भक्तिवाले निरपेक्ष को अपनाकर स्वभाव-धर्मवाली मित्रता के निरपेक्ष की हत्या कर पीड़ा सहता है। लेकिन Brutus की ट्रेजडी उच्चकोटि की नहीं है, नाटक में उसे नायक भले ही मान लिया जाय।

हैमलेट का शील किसी परिभाषा से मेल नहीं खाता, यहाँ तक कि डाण्टन ने उसके शील को 'केवल एक' बताया है, और शुक्ल जी भी उसकी चर्चा करते हैं। यदि विचार किया जाय, तो पता चलेगा कि हैमलेट भी निरपेक्ष अद्वितीयता का भूखा है—बौद्धिक निश्चय के क्षेत्र में।

मृत्यु, सदसत्, प्रतिशोध का औचित्य, सतीत्व, निसर्ग, आत्महत्या, पिता की आज्ञा, जीवन की निस्सारता आदि के विचार-जाल से मुक्त होकर वह एक सुचिन्तित तथा बोधप्रद मार्गदर्शन निकाल लेना चाहता है, लेकिन ऐसा कर नहीं पाता। कर्मपंगु-से दीखनेवाले हैमलेट में रजस् कल्पना या बुद्धि की तप्त सक्रियता द्वारा अपनी अभिव्यक्ति

आत्यन्तिक दुष्टता का पतन न्यायोचित होकर संतुष्ट करता है। इसलिए लोग कहते हैं, करुणोदात्त नायक के लिए दोनों अतियों की ऐकान्तिकता ठीक नहीं। इसके विपरीत, लोग कहते हैं, चाहे अच्छा हो या बुरा, बड़े पमाने पर हो। अपराध की वृद्धि सामाजिक न्याय की दृष्टि में दंड की वृद्धि करती है, निन्दा की वृद्धि करती है। लेकिन भावोत्कर्ष की दृष्टि से बड़ा अपराधी अद्भुत तो होकर ही रहता है। इसी तरह महात्मा गाँधी या ईसा की हत्या में, इस दृष्टि से मार्मिकता बढ़ जाती है। यह बात परीक्षा से ठीक नहीं उतरती। महात्मा गाँधी और ईसा में तो "बायाँ गाल भी उधर कर दो" (Turn the left cheek also) का अविरोध-दर्शन है। उनके रजस् की गति में अहं नहीं, अहं की लय है। वह तो रूप से रजस् है, तत्त्व से सत्त्व। उसी तरह बहुत बड़े रक्त-पातकी के पतन के तमाशे में अद्भुत तो है, करुण नहीं।

मार्लो के टैम्बरलेन को ट्रेजडी कहने वाले रसज्ञ नहीं, हठवादी हैं। Tamberlane की वीरता पीड़ा सहने की नहीं, पहुँचाने की है।

करुणोदात्त नायक में तो यह पीड़ा इसलिए बढ़ती जाती है कि वह स्वाभिमानी है। चूंकि स्वाभिमानी है, अच्छा है; इसलिए उसका विरोध रुकता नहीं। विरोध बढ़ने से उसकी पीड़ा बढ़ती है, क्योंकि नियति उसके साथ परिहास करती है। नियति भी ऐसी कि नायक से कोई समानता नहीं।

यदि हम पूर्वोल्लिखित (रजस् के माध्यम से मनुष्य के अहं की निरपेक्ष अद्वितीयता की अभिव्यक्ति को) सिद्धान्त मान लेते हैं तो Antigone और Brutus के शील-प्रारब्ध की भी कसौटी मिल जाती है। स्वभाव-धर्म की प्रेरणा यह है कि भाई की विधिवत् अन्त्येष्टि की जाय। राजसत्ता की आज्ञा है, न की जाय। दोनों निरपेक्ष विधियाँ हैं। Antigone स्वभाव-धर्मवाले निरपेक्ष को अपना लेती है। उसी तरह Brutus देश-भक्तिवाले निरपेक्ष को अपनाकर स्वभाव-धर्मवाली मित्रता के निरपेक्ष की हत्या कर पीड़ा सहता है। लेकिन Brutus की ट्रेजडी उच्चकोटि की नहीं है, नाटक में उसे नायक भले ही मान लिया जाय।

हैमलेट का शील किसी परिभाषा से मेल नहीं खाता, यहाँ तक कि डाण्टन ने उसके शील को 'केवल एक' बताया है, और शुक्ल जी भी उसकी चर्चा करते हैं। यदि विचार किया जाय, तो पता चलेगा कि हैमलेट भी निरपेक्ष अद्वितीयता का भूखा है—बौद्धिक निश्चय के क्षेत्र में।

मृत्यु, सदसत्, प्रतिशोध का औचित्य, सतीत्व, निसर्ग, आत्महत्या, पिता की आज्ञा, जीवन की निस्सारता आदि के विचार-जाल से मुक्त होकर वह एक सुचिन्तित तथा बोधप्रद मार्गदर्शन निकाल लेना चाहता है, लेकिन ऐसा कर नहीं पाता। कर्मपंगु-से दीखनेवाले हैमलेट में रजस् कल्पना या बुद्धि की तप्त सक्रियता द्वारा अपनी अभिव्यक्ति

करता है। हैमलेट की अच्छाई, उसका सत्व उसके रजस् का शमन नहीं करता, उसे विभक्त करता है ।

ऐसे भी शील मिलेंगे जिनमें उल्लास उत्तरी ध्रुव को छूता है, तो निराशा और निर्जीविता दक्षिणी ध्रुव को। कभी उदारता, नम्रता और अहिंसा की भावना वर्जित अति को पहुँचती है तो कभी स्वार्थकृपणता, अहं और हिंसा दूसरे छोर को। फेफड़ों में भरी प्राण की प्रचुरता कभी चंचल हाव, विनोद-विलास, मित्र-मंडली की ओर, तो अन्तस्तल की मर्य्यादा-भावना कठोर अनुशासन, साधना, एकान्त गौर गंभीरता की ओर। फिर भी बीजसंकल्प का अध्यवसाय स्वाभिमान के बल पर अन्त तक चलता रहता है। लेकिन ऐसे शील में वह पवि-कठोरता और उदात्तता नहीं, जो अपेक्षित है। सूनापन या डोलायमान स्थिति करुणोदात्त नहीं, कुछ हल्की चीज है, हालाँकि विरलविशेषों की प्रतिभा ऐसे शीलों में होती है ।

आजकल शील-वैचित्र्य के अधम से अधम (यानी विकल्पमूलक) नमूने देखने को मिलते हैं, लेकिन काव्य से 'वत्सों' का, छोटे बच्चों का, शिशुओं का शील-चित्रण जाने क्यों और कब उठ गया ! आज पारिवारिक जीवन की सरलता, और सहज रुचिरता कहाँ चली गई ? क्या आजकल के बच्चे बड़े होकर ही निकलते हैं ?

जिज्ञासा के यमवृद्ध बालक नचिकेता में भी एक सरलता है—"पिता जी, इन बूढ़ी गौओं को देकर क्या कीजियेगा ?"—जो आजकल के लड़कों में नहीं मिलती। आजकल वयस्क मतदाताओं को छोड़ छोटे बच्चों को कोई नहीं पूछता। अपने प्रेम, लोभ, खीझ, असहाय रोष, कपट-क्रन्दन, कोपलीला, प्रतिस्पर्द्धा, अनुकरण आदि से जो बालक घर को गुलजार किये रहते थे, वे क्या हुए ? लड़कों के वृद्ध होने की ललक की कल्पना कीजिए ! आपका कभी किसी बाल-चाणक्य से काम पड़ा है, जो एक समूह को दो टोलियों में विभक्त कर एक जिरगे का सरदार बन जाता है ? सहज भाव से तुक की या बेतुकी बातें करनेवाले बालक क्या हुए ? 'शेखर' की तरह दंभियों को छोड़िए। बूढ़ी दादी के भक्त और बूढ़े दादा को चिढ़ानेवाले, टेढ़े के सामने भीगी बिल्ली बन जानेवाले लड़के क्या हुए ? एक ही साथ ढेलवाँस और वंशी लिये हुए हलधर और मुरलीमनोहर के द्वन्द्वसमास से लगनेवाले लड़के क्या हुए ?

"मैया, ('माता' भी नहीं) मैंने मक्खन नहीं खाया। दिन भर तो गौ चराता हूँ, साँझ को घर आता हूँ। तुम्हीं कहो, फुर्सत कहाँ मिलती है ? मैं बच्चा ठहरा, बालक। देख तो, मेरी बाँह कितनी छोटी है। मैं छींका कैसे पा सकता हूँ, भला ? ये हमारे साथी मेरे शत्रु हैं शत्रु, मेरे पीछे पड़े हैं । जबर्दस्ती इन्होंने मेरे मुँह में मक्खन लगा दिया है । तू, मेरी माता, कितनी भोली है, जो इनके कहने में आ जाती है। अब समझा, सब कुछ जान लिया ! तेरे मन में भी काला है। आखिर मैं दूसरे

की कोख का ठहरा। तू अब अपनी 'लकुटी कमरिया' ले, तूने बहुत नाच नचाया... माँ !"

यह एक बालक की वकालत है। कार्य-भार का तर्क, Alibi का तर्क (दिन भर तो वन में रहता हूँ), फिर बाँह का तर्क, फिर गवाहों के वैमनस्य का तर्क, चोरी के पकड़े गये माल की व्याख्या, (जो फिर एकबार गवाहों पर आरोप है, माता को और जज को, फुसलाने की चाल, यदि वह भी पुरअसर न हो स्वयं न्यायाधीश पर लांछन, फिर असहाय बन कर करुणा अर्जित करने की चाल, और ऐसे न्यायालय को अधिकार-सीमा को ही छोड़ देने की धमकी !

क्या यशोदा माता सिसककर–सिसककर हँसने और 'तैं नहीं माखन खायो' (मेरे लाल) कहने के अतिरिक्त भी कुछ सोच सकती थीं।

काश, अणुवीक्षण के एकाक्ष दंभियों से साहित्य का पल्ला छूट जाता और भारत के साहित्यकार सूरदास की तरह शील की सहज सरस्वती में गोते लगाते और मनो-विज्ञान के बुद्धि-लब्धगणित में बार-बार बी० ए० फेल नहीं होते !

शील-निरूपण :

सिद्धांत और विनियोग

द्वितीय खंड

शील-निरूपण : विनियोग

की कोख का ठहरा। तू अब अपनी 'लकुटी कमरिया' ले, तूने बहुत नाच नचाया...
माँ !"

यह एक बालक की वकालत है। कार्य-भार का तर्क, Alibi का तर्क (दिन भर तो वन में रहता हूँ), फिर बाँह का तर्क, फिर गवाहों के वैमनस्य का तर्क, चोरी के पकड़े गये माल की व्याख्या, (जो फिर एकबार गवाहों पर आरोप है, माता को और जज को, फुसलाने की चाल, यदि वह भी पुरअसर न हो स्वयं न्यायाधीश पर लांछन, फिर असहाय वन कर करुणा अर्जित करने की चाल, और ऐसे न्यायालय को अधिकार-सीमा को ही छोड़ देने की धमकी !

क्या यशोदा माता सिसककर–सिसककर हँसने और 'तैं नहीं माखन खायो' (मेरे लाल) कहने के अतिरिक्त भी कुछ सोच सकती थीं।

काश, अणुवीक्षण के एकाक्ष दंभियों से साहित्य का पल्ला छूट जाता और भारत के साहित्यकार सूरदास की तरह शील की सहज सरस्वती में गोते लगाते और मनोविज्ञान के बुद्धि-लब्धगणित में बार-बार बी० ए० फेल नहीं होते !

शील-निरूपण :

सिद्धांत और विनियोग

द्वितीय खंड

शील-निरूपण : विनियोग

गोदान

'गोदान' उपन्यास के नामकरण में रस-सिद्धि तथा शील-प्रकाश का बड़ा ही व्यंग्य-मर्म-संयोग है। इस उपन्यास का चरम तथा प्रधान लक्ष्य करुण रस का आनन्द है। किसान होरी की सबसे बड़ी लालसा गो-स्वामित्व की है। एक गाय उसके दरवाजे पर बँधी रहे तो बस वह सीना तान कर चल सकता है। इस लालसा का तिरोभाव कभी नहीं होता। यह कुछ ऐसी साध है और होरी के जीवन में उसकी कुछ ऐसी अन्तर्व्याप्ति है कि लगता है कि यदि उसकी प्राण-वायु एक भूत है तो गौ उसकी स्पर्श-तन्मात्रा। उसके जीवन-मंत्र का अर्थ ही है एक गौ। यदि होरी मात्र पयःपान का लोभी होता, तो वह स्वल्प सहानुभूति का ही पात्र हो पाता। आर्थिक विवशता के जिस हेतु-संदर्भ को प्रेमचन्द जी ने खड़ा किया है, उसकी बलि-वेदी पर वे होरी की मानवता की हत्या नहीं कर देते।

यदि मात्र यही दिखलाया जाता कि होरी के पास पैसे नहीं हैं, बच्चे दाने-दाने को मर रहे हैं, दूध के अभाव के कारण राष्ट्र के इतने व्यक्तियों का क्षय हो जाता है, तो यह बात रस-सिद्धि के भीतर नहीं, रासायनिक हेतु-विवेचन के भीतर आती। एक गाय के लिए इतनी तीव्र तथा स्थायी लालसा मज्जा को गुदगुदाती भी है, क्योंकि होरी की लालसा महत्वाकांक्षा-सी दीखती है। मालूम होता है उसे गाय क्या मिलेगी, राज्य मिल जायगा। अवस्था-भेद से वह इसके लिए गौरीमाता की पूजा भी कर सकता और शायद वह कहतीं—'मन जाहि राच्यो मिलइ सो गउ सहज सुन्दर धावरी'। विषय तथा इच्छा के अतिशयोक्त अनुपात की विषमता उसे हल्के ढंग से हास्यास्पद भी बनाती है। कहनेवाले यही कहेंगे कि समाज की आर्थिक विषमता ही ऐसी दारुण है कि होरी-जैसा आदमी कुछ इससे अधिक या ऊँचा सोच भी नहीं सकता।

ठीक है, लेकिन प्रेमचन्द जी ने होरी के शील में ऐसी निष्ठुर तथा शुद्ध वैज्ञानिकता नहीं आने दी है। होरी के लिए गौ का सामान्य लक्ष्य कुछ गौण पड़ गया है। वह पयःपान नहीं चाहता, गो-मान चाहता है। गौ पाकर वह अपने मान की वृद्धि करेगा। गौप्राप्ति का जो आर्थिक पक्ष है, उसका गूढ़ प्रयोजन होरी के लिए मात्र आहार नहीं है। होरी की लालसा में कल्पना है, जो अर्थ के द्वारा विशुद्ध काम (दुग्ध-पान अथवा आहार) का परिष्कार करना चाहती है। यह दूध के स्तन का लोभ नहीं, दरवाजे के स्तर या शोभा की अभिलाषा है। गाय में भी वह पछाईं गाय का सपना देखता है: 'लोग पूछेंगे, यह किसका घर है', लेकिन मन के अमूल्य अथवा महार्घ मोदक खानेवाले को यथार्थ-बुद्धि कोसती है। सदा से बुद्धि का शाकवणिक् मन के मणिमान का उपहास करता है।

इसी यथार्थ-परिहास से, इसी आत्मधिक्कार से, अपनी रक्षा करने के लिए हारा अपनी गो-लालसा को गोबर के स्वास्थ्य तथा अच्छे बछड़े के स्वगत-तर्क से पुष्ट करता चलता है। मान की इस राज-विभूति का मोह होरी को सामान्य लक्षणशील होने से बचाता है। यही नहीं, होरी के हृदय में गौ के प्रति मंगल की जो गौरी-भावना है, जो कामधेनु-संस्कार है, वह उसके शील को व्यवस्था का निर्लिङ्ग कार्य होने से बचाता है। होरी स्पष्ट लक्षित हिन्दू है और उसके शील में काम तथा अर्थ के स्थूल-साक्षात् संघर्ष का स्वरूप बदल जाता है। लोक-यश की यह इच्छा होरी के शील को अपेक्षाकृत सूक्ष्म सौंदर्य प्रदान करती है। होरी के काम अथवा इच्छा के आहार तथा परिग्रहपक्ष गौण पड़ जाते हैं और लोक-यश प्रधान हो उठता है, जो आगे चलकर गो-दान की परलोकैषणा को समेट कर एक सम्पूर्ण पराजय की करुणा से हमारे हृदय को भर देता है।

गो-मान से शील का जो दूसरा पक्ष अभिव्यक्त होता है, वह है संतोष का। इस संतोष की सरलता, उसका मित लोभ, होरी के प्रति हमारे हृदय में क्षमा, मित्रता तथा वरदान की भावना भर देता है। सामान्य महत्त्वाकांक्षियों के प्रति हमारे हृदय में ईर्ष्या का गत्यवरोध-सा बन जाता है। ऐसे क्लिष्ट भावाक्षेप से होरी का शील अबाधित रहता है। गौ के प्रति किसान के मोह में निसर्ग की एक अनायास ऋजुता होती है। जब होरी मृत्यु-शय्या पर गोदान तक नहीं कर पाता तो उसके लोक-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। गो-दान की प्रेरणा के मूल में प्रत्येक हिन्दू के लिए अमरत्व की जो कल्पना है, वह जैसे समाज की आर्थिक विषमता को काल-सापेक्ष विवशता नहीं रहने देती। यह आर्थिक विषमता उस चिर नित्य नियति के भयानक गौरव को प्राप्त कर लेती है, जिसे मनुष्य की इच्छाओं के साथ निर्मम विनोद करने का विशेषाधिकार प्राप्त है।

रस की दृष्टि से, करुणा के फलागम की चरम वेला या निर्वहण-संधि तब आती है, जब होरी से गो-दान कराया जाता है, जिसे वह जीते जी नहीं कर सका। अब यदि वह कर भी रहा है तो कैसी विडम्बना है कि करना और नहीं करना, दोनों, उस लुप्त-संज्ञ जीव के लिये समान ही है। गोदान कराया भी जा रहा है तो गौ नहीं, उसकी जगह कुछ पैसे है, जिनसे कोई गौ की पूँछ भी नहीं छू सकता! बीज रूप से जो गौ का सपना प्रारंभ हुआ उसका अन्तिम अर्थ असत् का यह द्रव्य कंकाल है, जो सुतली के पैसों के रूप में है।

उपन्यास समाप्त करने पर प्रत्येक पाठक का स्मृत्याकाश एक विद्युत्-क्षण में आलोकित हो उठता है। और तब होरी का गो-मान, उसका संतोष, उसका हास्यास्पद मित लोभ, उसकी सरलता तथा प्रायः शिव साधनों के प्रति दृढ़ निष्ठा—एक-एक कर दिमाग में नाच जाती हैं। फिर उसके परलोक की कल्पना भी आकर धनिया के पछाड़ खाकर गिर पड़ने के अव-साद को घनीभूत कर देती है। गौ का भक्त होरी सीधा और धर्म-भीरु है। उसकी सहज आदर्श-भावना आर्थिक विषमता तथा षड्यन्त्र के वातावरण में उसके दुःख का कारण बन

जाती है। होरी को ऋण की गौ मिल भी गई थी; लेकिन सहोदर की ईर्ष्या ने उसे विषपान करा दिया। एक क्षण के मिलन-सुख के बाद चिर वियोग; राज सुना कर वनवास का दुःख; यहाँ दूध नहीं मिला, वहाँ वैतरणी की दुर्गति; और यह सब उस संतोषी किसान के भाग्य में जो इतना सरल, इतना नेक था, और जिसे गाय केवल इसलिए नहीं चाहिए थी कि दूध पीकर उसका लड़का कसरत करे, बल्कि इसलिए कि उससे घर की कुछ शोभा बढ़े, कुछ गौरीमाता का पूत मंगल वातावरण रहे। शील और इसकी उत्कृष्ट अभिव्यंजना के निमित्त ऐसे प्रतीकसंज्ञ तथा अमोघमंत्र नामकरण के सामंजस्य में बुद्धि का आयास नहीं, प्रतिभा की नैसर्गिकता है। उपन्यास के गुसाई आजकल चमत्कार के भोंड़े तथा भद्दे नाम दे डालते हैं। वे विस्मय का आघात ही पहुँचाते हैं, उनमें प्रतीक के अर्थ-गर्भत्व की प्रतिभा नहीं रहती।

✓ 'गोदान' नाम नाम ही नहीं रूप भी है। उपन्यास के चिर-अवसादमय अन्त और शील की सरल अनिवार्यताओं के मर्म तथा व्यंग्य की इतनी सफल विभावना भूरिशः प्रशंसनीय है!

प्रेमचन्द जी दो या अनेक पात्रों को एक परिस्थिति में रखकर शील के स्पष्ट अन्तर को परिभाषित करते हैं। फिर भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के सम्मुख भिन्न एषणाओं या प्रकृतियों के गूढ़ स्वरूप का क्रमशः उद्घाटन कर अभिन्न संस्कार के स्निग्ध बन्धुत्व का मर्म-स्पर्श उपस्थित कर देते हैं। पहली पद्धति से प्रतिक्रिया का स्वतन्त्र भोग होता है, जिसके फलस्वरूप शील-निरूपण की स्वाभाविकता को बल मिलता है, तथा जीवन का विवेचन एकाङ्गी, संकीर्ण तथा व्यासाग्रही होने से बच सकता है। उपन्यास के खुलते ही, होरी को यह चिन्ता होती है कि 'अबेर हो गई तो मालिक से भेंट न होगी। असनान पूजा करने लगेंगे तो घंटों बैठे बीत जायगा।' होरी का विश्वास है कि 'इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अबतक जान बची हुई है; किस पर बेदखली नहीं आई, किस पर कुड़की नहीं आई...मगर।' धनिया इतनी व्यवहारकुशल न थी—प्रेमचन्दजी टीका करते हैं, जिससे ध्वनि यह निकलती है कि होरी व्यवहारकुशल था। जमींदारी के प्रति होरी की भाव-मुद्रा मोह (Romance) तथा स्वीकृति की है। मालिक 'असनान-पूजा' करते हैं—इसमें उस धर्मात्मा के प्रति कुछ आदर का भी भाव है। होरी मालिक से मिल-जुल सकता है, दरबार में उसकी पहुँच है, इस बात का गौरव-सुख स्पष्ट व्यंजित होता है। उसे दासता के प्रति रोष नहीं, अनुराग है, क्योंकि इस दासता की व्यवस्था में ही अन्य असामियों की अपेक्षा उसकी विशेष प्रतिष्ठा सुरक्षित है। होरी की व्यवहारकुशलता उतनी स्पष्ट उच्चरित नहीं। आभिजात्य के दंभ अथवा कोटिक्रम के प्रति उसका मोह स्पष्ट है। वह समानता का क्रान्तिकारी नहीं हो सकता, वह जमींदारी का आखेट-मृग नहीं, स्वयं उच्छिष्टभोजी है। प्रच्छन्न रूप से वह अधिक गहराई की दासमनोवृत्ति वाला किसान है, क्योंकि दासता उसका प्रसादन करती है। जायसी के चने की तरह वह बार-बार भुनकर भी भाँड़ में आता है।

उसी परिस्थिति में धनिया के विचार हैं—'उसकी खुशामद क्यों करें ? उसके तलवे क्यों सहलाएँ ? लाख कतर-ब्योंत करो, पेट-तन काटो, मगर लगान बेबाक करना मुश्किल है।' धनिया झुँझलाती है और वह प्रतिष्ठा के फेर में मर्यादा नहीं मिटाना चाहती। उसका स्वाभिमान अकड़ कर चलना चाहता है। जहाँ प्रेमचन्दजी उसकी कही बात को छोड़कर उसके मन की बात कहने लगते हैं, जहाँ वे साक्षी कथाकार न होकर अंतर्यामी बन जाते हैं, वहाँ कुछ अपने मन की ही कहने लगते हैं। कथोपकथन की पद्धति छोड़, जहाँ वे परोक्ष-पद्धति अपना लेते हैं, वहाँ वे कहते हैं, 'धनिया का मन आज भी कहता था, अगर उनकी (तीन मरे लड़कों की) दवा-दारू होती तो वे बच जाते। पर वह एक धेले की दवा भी न मँगवा सकी थी।' समस्या की ध्रुवान्त अतिशयोक्ति पात्र को सहानुभूति का रूढ़ सामान्य बना छोड़ती है। अगर वह इतना भी कह देते, धनिया के पास रूपये तो थे ही....पूरे पच्चीस थे, पन्द्रह गाय खरीदने के लिए रखे थे, लेकिन खेत नीलाम पर चढ़ा था, इधर डाक्टर पचास माँग रहा था!' तो पाप के दायित्व के इस वितरण से तथा 'असत्' (एक धेला भी नहीं) की अतिशयोक्ति छोड़ सत्-असत् (पूरे पन्द्रह की पूँजी, मगर नीलाम उधर, डाक्टर इधर!) के यथार्थ कथन की पद्धति अपनाने से व्यास का पक्षपात नहीं दीखता। ऐसी छोटी-सी बातों का प्रमाद शील के लिए बड़ा ही घातक होता है। प्रेमचन्द जी के इस व्यासाग्रह को छोड़ दें तो एक ही परिस्थिति में धनिया और होरी की भिन्नग्राहकता से शील तथा उद्देश्य, प्रकृति की अभिव्यक्ति तथा परिस्थिति की आलोचना, स्पष्ट और बहुपक्षीय हो जाती है।

दूसरी पद्धति का नमूना देखिए : होरी मालिक के यहाँ जा रहा है। भोला सामने से अपनी गायें लिये आता है। भोला अच्छा दाम मिलने पर कभी-कभी गायें बेच भी देता था। होरी का मन गायों को देखकर ललच गया। दरिद्रता में जो 'अदूरदर्शिता तथा निर्लज्जता' होती है, उसने होरी को प्रोत्साहित किया। लेकिन पूछने पर भोला रुखाई से जवाब देता है। होरी का लक्ष्य है गाय लेना, भोला का लक्ष्य है उधार के धनी होरी को न देना, पर दोनों पहचान में नहीं आना चाहते। होरी प्रशंसक बन जाता है—'दुधार तो मालूम होती है, बड़ा भारी कलेजा है तुमलोगों का भाई!' फिर धीरे-धीरे—'घरवाली बार-बार कहती है भोला भैया से क्यों नहीं कहते! तुम्हारे सुभाव से बड़ा परसन रहता है'। भोला की आन्तरिक आर्द्रता प्रकट होती है। स्त्री की लालसा सजल हो जाती है। अर्थसतर्क भोला के अन्तराल में गूढ़-स्निग्ध काम विद्यमान है। उधर होरी कूट-स्नेह का शकुनि बना गाय वाले 'अर्थ' को ही छिपा रहा है। लेकिन जब अचानक होरी को यह मालूम होता है कि भोला ने बहुत-सी गायें भूसे के अभाव में बेच दीं, और भोला को यह मालूम होता है कि होरी के पास बहुत थोड़ा-सा भूसा बचा है और उसके बैल भूखों मरने लगेंगे, तो इधर होरी गाय लेने से इनकार करता है

('मेरे हाथ-पाँव नहीं कट जाएँगे') और भूसा ला देने की बात करता है, उधर भोला गाय देने पर तुल जाता है और भूसा लेकर होरी के बैलों को भूखों मारना नहीं चाहता। भूत-दया के धर्म-संस्कार तथा संकट में सौदा न करने की नीति-भीरुता की सहज परम्परा का बीज-यन्त्र छूते ही दोनों में बन्धुत्व की जो भावार्द्र प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है, वह देखने ही योग्य होती है—विशेषतः उस अवस्था में, जब दोनों विपरीत दिशा से शत्रु-लक्ष्य लेकर मिले थे।

मतभेद में जहाँ शील का कर्कश द्वन्द्व उच्चरित हो उठता है, वहाँ पारिवारिक विनोद के रास-हास का प्रकरण लाकर उपन्यासकार शील को नितान्त उद्देश्य-पर्याय सत्ता होने से बचा लेता है। दरिद्रता के ग्रीष्म-तप्त जीवन में ऐसी हल्की गुलाबी फुहार के दुर्लभ होने के कारण एक ही साथ प्रसाद-अवसाद का भावस्नान हो जाता है। इस 'रास-हास' से पूर्व विरोध गलित होकर वह जाता है, और साहचर्य-जन्य आसक्ति अथवा दाम्पत्यजन्य सख्यभाव प्रिय के कुशल-क्षेम की रमणीय आशंकाओं से भर जाता है। इस तरह शील मात्र-उद्देश्य (जमीन्दारी, महाजनी आदि के कारण किसानों की दुर्दशा) का पर्याय नहीं रह जाता। वह द्रुत-परिवर्तित भाव-चक्र से होता हुआ संश्लिष्ट विविधता अर्जित कर लेता है। काफी बारीकी से गूँधी मिट्टी भी आखिर एक लोंदा है। वह एक उपादान है, उसकी अवस्था प्रायः प्रलय की अवस्था है। किसानों का जमीन्दारी व्यवस्था के प्रति विद्रोह-कथन शील को ऐसे ही प्रलय अथवा उपादान-अवस्था की एकतानता दे सकता है। जब उस मृत्तिका से हम पात्र बनाते हैं और किसी पात्र की नाक चिपटी, किसी की गर्दन गोले आँटे की तरह फैली और किसी का पेट वायु-शूल से कुपित-सा दीखता है, तो लगता है कि वे स्वतन्त्र-प्राण पात्र कुंभकार के कौशल-प्रयोजन के हस्तक्षेप से मुक्त-से हो गये हों, जैसे उन्होंने अपने स्वभाव तथा प्रकृति की भीतर से अभिव्यक्ति की हो। होरी और धनिया जब समाज के आर्थिक अत्याचार को लेकर बहस करते हैं तो लगता है जैसे उनके शील-स्वभाव की सतह का भी स्पर्श न हो पाया हो। लेकिन जब धनिया होरी को लाठी और मिरजई ला पटकती है (क्योंकि वह मालिक के यहाँ जाना चाहता है), और होरी आँखें तरेर कर कहता है, 'पाँचों पोसाक लाई हो ! ससुराल में भी तो कोई जवान साली-सलहज नहीं', फिर मुस्कराता है, तो धनिया की झुर्रियों से जैसे लज्जा-लावण्य की उषा फूट पड़ती है। धनिया कहती है, 'ऐसे ही तो बड़े सजीले जवान हो कि साली-सलहज देखकर रीझ जाएँगी।'

बूढ़े-बूढ़ियों का विनोद अथवा रति-आलाप शृंगार की नहीं, स्नेह-हास की चीज है—ऐसे हास की, जिसमें करुणा (उनकी जवानी की स्मृति तथा वृद्धावस्था के यथार्थ के कारण) संचारी होती है। इन सब से होता यह है कि झगड़ालू धनिया का हृदय होरी के लिए उदार तथा प्रगाढ़ स्नेह से भर जाता है—उदार इसलिए कि ऐसे उद्गार के क्षणों में प्रिय का स्वार्थ ही अपना स्वार्थ बन जाता है। धनिया जब बुढ़ापे के अनिश्चय की याद दिलाती है, भिक्षाटन

की संभावना सामने खड़ी कर देती है तो होरी कहता है, 'साठे की नौबत भी नहीं आएगी धनिया, इसके पहले ही चल देंगे ।' धनिया सिहर जाती है, डाँटती है, मत अशुभ मुँह से निकालो ।' माता का प्रवेश अचानक पत्नी में हो जाता है । सुहाग का स्वार्थ वात्सल्य के छोह-सा दीखता है । द्वार पर खड़ी धनिया होरी को दूर तक देखती रह जाती है । इस देखने में अधभींगी पलकों का सारा काव्य समाया है । पाठक को धनिया की कर्कशता, लज्जा तथा अदृश्यतल प्रेम की संश्लिष्ट विविधता का साक्षात्कार हो जाता है ।

प्रेमचन्दजी कई प्रकार से शील को लोकगम्य बनाते हैं, जिनमें कुछ का उल्लेख किया जाता है :—

(क) अवस्था-भेद के सहज अभिनिवेश द्वारा ।

(ख) कूट परिहास (dramatic irony) से निरावृत दुर्बलताओं के मार्मिक विधान द्वारा (गोदान में इससे शीलगत प्रत्यभिज्ञा की पुष्टि होती है) ।

(ग) दैनिक जीवन में अन्तर्भूत शीलों की सम्बन्ध-योजना द्वारा ।

(इससे तत्काल मानवीय तथा देशकालीय शील (वातावरण) की समानान्तर-समवाय सृष्टि हो जाती है ।)

(घ) पारस्परिक मीन-मेष के स्थान पर अज्ञात आत्म-व्यंग्य की पद्धति द्वारा ।

(ङ) शील के वर्गातिक्रमण द्वारा ।

(क) प्रेमचन्द जी सन्तोष की भावना होरी के हृदय में, तथा विद्रोह की गोबर और धनिया के हृदय में भरते हैं । लू चलती है, बगूले उड़ते हैं, और भूतल धधकता है, और गोबर काम करता रहता है । वह इसलिए काम में लगा हुआ है कि बाप देखे । उसे खाने-पीने की फिक्र नहीं । बलिष्ठ यौवन के साथ जो स्वाभाविक वक्रग्रीव मद रहता है वह धनिकों तथा बड़े बननेवालों को नीचा दिखाने में एक विचित्र आनन्द का लाभ करता है । नजर-नजराना-सलामी, हाँ में हाँ मिलाने आदि में बाप जो तुच्छ स्थिति के दाँत दिखाता-फिरता है, यह बात गोबर को खलती है । बाप की इस चाटुकार-वृत्ति से चिढ़कर ही मानों वह अपने को परिश्रम-पर्याप्त रखना चाहता है । गोबर जब होरी के ईश्वर-विधानवाद अथवा भगवत्-लीलावाद के विरुद्ध वैभव के अवकाशवाद का तर्क देता है तो उसमें बराबर राय साहब को यह विषैली चुनौती रहती है कि एक दिन खेत में ऊख गोड़कर भक्ति-भाव रखें तो जानें । युवक जब पेट के लिए परिश्रम करता है और फिर भी सारा परिश्रम व्यर्थ होते देखता है तो विरोध की यह भावना सहज ही अवस्थानुकूल दीखती है ।

ठीक इसी तरह धनिया ने बेटे खो दिए हैं, एक जवान बेटा है, वह भी कुम्हलाया रहता है; होरी के जीवन-दीप को तेजी से बदलते देखती है तो वृद्ध स्त्री-हृदय की पत्नी तथा माता दोनों ही विरोध की प्रेरणा देते हैं । होरी को सभी सम्मान से राम-राम कहते हैं, और चिलम पीने के लिए आदर से बुलाते हैं । इसका मोह-सुख तो धनिया जानती नहीं । भोला

और होरी भी जहाँ बैठते हैं वहाँ नालायक बेटों और भाइयों की करतूत सुनाते हैं, जमींदार-महाजन-महुग्राइन का दुखड़ा रोते हैं, अतीत के सुखों, वर्त्तमान के दुखों और भविष्य के सर्वनाश की बात करते हैं। फिर रूपा और सोना अवस्थानुकूलता के औचित्य से ही इससे अछूती हैं। यहाँ भी द्वन्द्व है, लेकिन वात्सल्य की असूया के रूप में। सोना बड़ी हो गई है, गोद में चल सकती नहीं, फिर रूपा क्यों पैदल नहीं चलती? क्या पाँव टूट गये हैं? फिर 'सोना-रूपा' नाम को लेकर चिढ़ने-चिढ़ाने के झगड़े में जो सूक्ष्म समासोक्ति संभव है, उसे भूलकर भी इस भोलेपन का आनन्द लिया जा सकता है। 'सोना न हो तो मोहर कहाँ से बने, नथुनियाँ कहाँ से आए, कण्ठा कैसे बने? सादी-ब्याह में पीली साड़ी पहनी जाती है आदि', बच्चियों की वधू-लालसा के ही द्योतक हैं। बाप-बेटे दोनों रूपा के पक्ष में हो जाते हैं—जौ, गेहूँ, राजा, चमार आदि के सरल उपमानों के द्वारा ही पक्षपात का क्रम चलता है। बच्चों की अवस्था के अनुकूल कोई उक्ति नहीं, कोई एषणा नहीं, कोई चिन्ता नहीं।

रूपा जब 'रूपा राजा, सोना चमार'...की रट लगाती है तथा सोना बाप की थाली में खाती रूपा को ईर्ष्या-भरी आँखों से देखती है (मानो कह रही हो कि वाह रे दुलार!) तो रस के इस वातावरण को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचन्द जी को शील की अवस्थानुकूलता की कैसी सहज प्रज्ञा प्राप्त थी।

(ख)—धनिया भोला को भूसा नहीं देने देगी, यह जानकर होरी कूट-विदग्धता की बुद्धि का प्रयोग करता है, तथा इस तरह समर-सामर्थ्य के तल में छिपी समर्पण-दुर्बलता का साक्षात्कार होता है। कहता है—'मुझसे जब (भोला) मिलता है, तेरा बखान ही करता है—ऐसी लच्छमी है, ऐसी सलीकेदार है।'

'धनिया के मुख पर स्निग्धता झलक पड़ती है'। धनिया कहती है—'मैं उनके बखान की भूखी नहीं हूँ, अपना बखान धरे रहें।'

'उसके' नहीं, 'उनके'; अपनी प्रशंसा की झेंप से आदर का सर्वनाम। जो प्रिय है या लगता है उसकी प्रशंसा की साधुता में अविश्वास प्रकट कर, शिष्टाचार की दूरी का स्वाँग कर, सतर्कता अथवा विरक्ति का अभिनय कर औरतें बार-बार प्रशंसा सुनना चाहती हैं। धनिया अबतक विरोध करती थी, अब सहसा स्वीकृति अथवा अनुराग के भाव तक पहुँच जाती तो यह बड़ा ही तीव्र विघात होता। होरी क्या कहता? अभ्यन्तर में ऐसे अवसरों के लिए लोकलज्जा से उत्पन्न उपेक्षा के नाट्य की मध्यम स्थिति प्रकृतिसम्मत है।

होरी बड़ा ही अनुभाव-कुशल अभिनेता है। वह बड़ा घाघ है, और उड़ती चिड़िया पहचानता है। इस अनुभाव से 'मेरी रानी अब आई फंदे में' तथा 'मेरी रानी तू मान जा मेर कहनवा' दोनों की अभिव्यक्ति है।

होरी कहता है 'मैंने तो कह दिया, भैया, वह नाक पर मक्खी भी नहीं बैठने देती गालियों से बात करती है, लेकिन वह कहे जाय कि औरत नहीं लक्ष्मी है। बात यह है कि

उसकी घरवाली जुबान की बहुत तेज थी। कहता था, जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह देख लेता हूँ, उस दिन कुछ-न-कुछ जरूर हाथ लगता है। मैंने कहा—तुम्हारे हाथ लगता होगा; यहाँ तो रोज देखते हैं, कभी पैसे से भेंट ही नहीं होती।'

होरी कई गोटियाँ चलता है। उसने अपनी पत्नी की निन्दा की (और मुँह पर कह रहा है तो झूठ नहीं ही बोल रहा होगा; बात सच्ची है, अन्यथा बला क्यों मोल लेता)। निंदा करने पर भी भोला प्रशंसा करता था, तो भला कितना नेक है। भोला 'सती-परीक्षा' पास कर चुका। इस तरह धनिया की भाव-मुद्रा पति के प्रति रुष्ट होने की, और प्रतिशोध तथा कृतज्ञता के रूप में भोला के समर्थन की हो जाती है। फिर भोला की स्त्री की निंदा से धनिया की एक और दुर्बलता को प्रकट प्रोत्साहन मिला है—आजवाले कहते, धनिया अव-चेतन में अपने को भोला की स्त्री मानकर सपत्नी के अपकर्ष का मजा ले रही है।

आज तो होरी की निंदा भी उसे पसन्द है, क्योंकि भोला की प्रशंसा तो विरोध-शुद्ध होकर और भी रुचिकर मालूम होती है। हम वासनाओं की लोकसामान्य अन्तर्भूमि पर हैं, जहाँ प्रेमी ही पति है, प्रिय नहीं।

होरी भोला की पत्नी की निन्दा करता जाता है, जिसमें धनिया भी योग देती है, 'मरने पर किसी की क्या बुराई करूँ; मुझे देखकर जल उठती थी।' आत्मप्रवंचना, आत्म-श्लाघा तथा परनिंदा-सुख का बड़ा ही सरस प्रसंग है। फिर जब होरी कहता है कि भोला बड़े होते हुए भी पहले ही राम-राम करते हैं तो जैसे दूसरे की सम्मान-कथा धनिया सुन नहीं सकती। वह पूछती है, "तो क्या कहते थे कि जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुँह देख लेता हूँ तो क्या होता है।' बाद की बातें तो जैसे धनिया सुन ही नहीं रही थी, उसका मन तो उसी वाक्य पर ठहर गया था। धनिया की दुर्बलता नग्न हो गई। यह वही धनिया है जो ऊपर से कर्कशा होती हुई भी, साली-सलहज के विनोद-मात्र की तरलता से, सब झगड़ा छोड़, मर्जी के खिलाफ राय साहब के यहाँ जाते होरी को भी टकटकी बाँधे देख रही थी। हम पहचान लेते हैं। इससे उसके सरस-कर्कश शील की प्रत्यभिज्ञा पुष्ट होती है। अब धनिया की दुर्बलता नंगी नाच रही है। गोबर भी दंग है। डाँट-पर-डाँट पड़ती है। धूप-घाम से आए आदमी के लिए रस-वस, खाट-वाट, के प्रबन्ध का शासन-चक्र चल जाता है। होरी दो खाँचे के लिए ही बुरा-भला कहता है तो तीन लाद दिए जाते हैं। होरी के कपट-विरोध तथा धनिया की उदारता की होड़ में रूक्ष पतिव्रता की वह दुर्बल प्रशंसापेक्षिता है जो इस कूट-विदग्ध परिस्थिति के अज्ञान में धनिया प्रकट कर देती है।

जब धनिया भोला के पक्ष में होकर जमींदार का नाम लेकर झगड़ती है कि 'अभी उसके प्यादे आ जाएँ तो खाँचे-के-खाँचे लदवा दोगे, हालाँ कि खेत जोतते हैं तो लगान भी देते हैं' तो यह आलोचना उसके प्रशंसारत मन के प्रतिशोध के रूप कितनी रमणीय तथा स्वाभाविक हो जाती है!

साथ ही दरबारगीरी करनेवाले होरी का भी निर्माण होता चलता है। होरी की गाय बाँधने की लालसा उससे यह सब झूठ बुलवा रही है। भोला गाय नहीं देगा, लेकिन ब्याह करेगा, धनिया भूसा नहीं देगी, लेकिन परपुरुष की प्रशंसा से फूलकर परिवार के स्वार्थ भी भुला देगी। होरी दुर्बलताओं का चाणक्य है। जीवन के उग्र छोरों के बीच हृदय का मिथ्या पोषण ही उसका सामजस्य-समाधान है। इसलिए होरी की विदग्धता में भी एक दयनीयता है। होरी अपनी विदग्धता का आनन्द नहीं लूट सकता। विरोध हट जाए, यही बहुत है।

(ग) भिन्न-भिन्न शीलों की सम्बन्ध-योजना से किसानों के दैनिक जीवन के तत्त्व और शैली दोनों की सृष्टि होती चलती है। इस जीवन में जवान मालिक के नाम पर खून के घूँट पी कर रह जाते हैं। परिश्रम की सारी पूँजी हड़प जाने पर, व्यर्थ हो जाने पर वे आत्म-हत्या के परिणामान्ध वीर हो कर अपने को जलाते हैं। अभाव के जीवन में नर-नारी का दाम्पत्य सामान्यतः कलह में बीतता है; कभी-कभी विनोद आदि से सुख-दुःख के साथी की भावना उमड़ पड़ती है, और तब दोनों घुल-मिलकर एकरस, एकजीव हो जाते हैं। किसान को हँस-बोल लेने के दुर्बल अवसर उन बच्चों के माध्यम से आते हैं, जिन्हें माता-पिता अथवा युवा भाई की चिन्ताओं का न तो ज्ञान ही है और न उनके प्रति सहानुभूति ही। भाग्य की कैसी विडम्बना: सोना-रूपा आदि नामों में लालसा की कितनी करुण पराजय है!

ऊपर से, शिक्षा के अभाव में और अभाव के साम्राज्य में झाड़ू-बहारू, रसोई, चौका-बरतन आदि के झगड़े अलगौझा का रूप धर लेते हैं। लड़के शुष्क जीवन की कटकटाती चीख से ऊबकर ढोल-मँजीरे के रसिक हो जाते हैं। और तब दो बूढ़े अनुशासनच्युत 'सन्तानों' को लेकर दुखड़ा रोने लगते हैं। भाव की ऐसी साम्प्रदायिकता, जिसमें अतीत, वर्त्तमान और भविष्य में भ्रमण करते बूढ़े, तथा वर्त्तमान में ही अन्धे युवक, अलग-अलग बैठकी चलाते हैं, मनुष्य के शील की कालिक अनिवार्यता सामने लाती है तो किसान के जीवन का ताना-बाना भी। पटवारी, महाजन, सहुआइन आदि अगर रिश्वत, बेगार, दलाली तथा ब्याज के वधिक-से दीखते हैं. तो शोक के अवसरों पर देहात के सरल जीवन की सहानुभूति से अछूते भी नहीं लगते।

दुर्दिन तथा दुस्सह अभाव से पीड़ित किसानों में से कोई होरी जैसा किसान, मालिक के कृपा-कटाक्ष के कारण पंक्ति-भेद का गौरव लाभ करता है, और निर्मम व्यवस्था के प्रति सहिष्णु दैववादी हो जाता है, तो साथ-साथ इसीमें अन्तर्भूत आर्थिक विषमता के मीठे जहर का स्वाद भी मिल जाता है। जो औरों के लिए अपराध है, वह पण्डित के लड़के के लिए भी है, मगर उतना भयंकर नहीं। इस तरह मानवीय और देश-कालीन शील का समवाय-समानान्तर विधान हो जाता है।

(घ) जहाँ दो पात्र वाग्मिता के प्रतिद्वंद्वी शास्त्री जैसे कथोपकथन करने लगते हैं वहां उनकी विमर्शपटुता ही हाथ लगती है, उनका शील-स्वरूप तो छूट-सा जाता है; अथवा जहाँ एक पात्र दूसरे की आलोचना करता है, वहाँ अधिक से अधिक एक तर्क्य प्रमाण ही हाथ लगता है। लेकिन जहाँ कोई पात्र अपनी सफाई देने में ही कुछ ऐसी बात कह जाता है, जिसमें आत्मघाती प्रभाव अथवा ध्वनि की चेतना उसकी नहीं है, तो शील का एक सहज उद्घाटन हो जाता है।

होरी अपने भाइयों का दुखड़ा रोते-रोते कहता है कि उसके भाई की औरतें चाहती थीं कि उसकी स्त्री धनिया भी झाड़ू-बहारू आदि में शामिल रहे। धनिया तो देना-लेना, पहनाना-ओढ़ाना, धरना-सँचना आदि करती ही थी। होरी एक ओर भाइयों के कृतघ्न अन्याय का रोना रोता है, दूसरी ओर धनिया भी खटती थी, इसके प्रमाण में ऐसी बात कह देता है, जिससे होरी का स्त्री के प्रति पक्षपात साफ झलकता है और लौट कर उसीके माथे पड़ता है। होरी मालिक है, उसकी स्त्री मालिक की स्त्री है, इसलिए वह विशेषाधिकार और दायित्व-विशेष का गौरव चाहता ही है। उसे प्रबन्धस्वामिनी गृहिणी होना चाहिए; शारीरिक श्रम के मोटे-भद्दे काम में उसके पद की शोभा नहीं। यह सब होरी अपने कथन के आत्मघाती व्यंग्य के अज्ञान में कहता है। यदि होरी के भाई कहते कि होरी अपनी स्त्री को रानी बनाकर सोने की मचिया पर बैठाये रखना चाहता है, चाहे घी का घड़ा ही क्यों न ढरक जाय, तो हमारे हाथ होरी के पक्षपात का हास्य-सुखद स्वरूप हाथ नहीं लगता, होरी के प्रति हल्के तिरस्कार का भाव होता। छोटे भाई के कथन की प्रामाणिकता की हम छान-बीन करते और शायद यह मान बैठते कि होरी का भाई डाह से ऐसा कह रहा है। इह तरह तिरस्कार दुहरा होता और प्रामाणिकता भी संदिग्ध ही रह जाती।

(ङ) आलोच्य वर्ग के प्रति रोष तथा प्रचार धनिया और गोबर आदि की बातों में है, उसकी स्थूलता का आंशिक शमन होरी के समर्थन से हो जाता है, लेकिन इस तरह कि उद्देश्य को हृदयंगम कराने में उपन्यासकार को एक दुहरे व्यंग्य का बल मिले। होरी किसान वर्ग का है पर जमींदार का पृष्ठपोषक भी। यह शील वर्गातिक्रमण है। जमींदार के प्रति व्यापक दृष्टि तो घृणा तथा क्रोध की ही है। जब होरी व्यावहारिक कायरता तथा मान-वासना से जमींदारी-व्यवस्था का समर्थन करता है तो वह स्वयं एक हल्के उपहास का पात्र हो जाता है, और उसकी सारी शान्तिप्रियता, उसका क्रान्ति-भीरु प्रारब्ध-दर्शन अथवा सनातनवाद जमींदारी तथा साहूकारी को और भी त्याज्य ठहराता है। ऐसा लगता है कि होरी को जमींदारी का जीर्णज्वर अथवा राजयक्ष्मा हो गया है, जिसमें चेहरे की गुलाबी तथा आँखों की सुर्खी प्रफुल्ल यौवन की करुण प्रवंचना-सी दीखती है। जमींदारी की बुराई दूनी बढ़ जाती है, जब वह श्रेणी-सोपान, सम्मान-भेद तथा क्षुद्र अनुग्रहों की

माया-मरीचिका खड़ी होने पर बुरी नहीं, बल्कि सम्मोहक-सी दीखती है। राय साहब की लीला में राजा जनक का माली बनने का स्वाँग-सम्मान पाकर होरी मन का मिथिलेश बन जाता है। पेट-तन काट कर वह उत्सव के लिए नजर देता है, लेकिन जमींदारी लीला की फुलवारी में उसका मन फूला नहीं समाता। निराहार किसान जब इस तरह स्फीतवक्ष हो जाता है तो जमींदारी प्रथा अर्थ की भाववाचक निष्ठुरता न होकर भीतर से शील का धर्म-प्रवर्तक हो जाती है। वह भोले तथा भूखे किसान की वासनाओं को संस्कृत-तत्त्वों के मोह में डालकर आर्थिक वास्तविकता के प्रति उसकी विद्रोह भावना को कुंठित कर देती है।

अन्नदाता के अन्नकूट-दर्शन का लोभ किसान की आँखों में लालसा के खून टपकाता है। इसमें किसान तीन बातों को भूल जाता है:—

(१) पहली यह कि उसे अन्न चाहिए,

(२) दूसरी यह कि वह स्वयं अन्नपूर्णा है, और

(३) तीसरी बात यह कि जिसे वह दाता समझता है, वह तो स्वयं हर्त्ता है।

इन सारी विडम्बनाओं की सूक्ष्म वेदना पाठक को होती चलती है। जहाँ उस जमींदारी के नारायण से दीखनेवाले राय साहब स्वयं ऊबकर अपनी ही व्यवस्था, अपने ही वर्ग के जनों की निन्दा करने को विवश होते हैं, और उत्सव, आमोद आदि के समारोह के क्षणों में भी होरी जैसे भोले किसान को अपना दुःख सुनाने को तत्पर हो जाते हैं, तो वे भी वर्गरूढ़ न होकर कुछ अतिक्रमण करते-से दीखते हैं। होरी तो शत्रुपक्ष का आदमी है, वह भी अल्पज्ञ; राय साहब जानते हैं कि होरी उनके भाव भले ही समझ जाए, लेकिन भाषा का अर्थ नहीं समझ सकता, फिर भी कहे जाते हैं। राय साहब की यह उपहास्य, दयनीय विवशता, एक तरफ जराग्रस्त आर्थिक व्यवस्था का अन्तः-प्रसूत आत्मघाती तत्त्व है. तो दूसरी ओर भौतिक वायुमंडल के शील-शिल्पण का एक उदाहरण। सहुआइन और होरी का सम्बन्ध मात्र आर्थिक न होकर कुछ देवर-भावज के दिल-लगाव (अथवा दिल्लगी) की सरसता भी लिये हुए है। इस तरह शील और उद्देश्य का एक ही आलम्बन में अन्तः प्रवेश देखने को मिलता है।

उपन्यासकार को विवरण और समीक्षा का अधिकार है, लेकिन उस अधिकार की मर्यादा है। शील का सौष्ठव, यथार्थ और सजीवता, उपन्यासकार से संयम की माँग करती है। यों तो उपन्यासकार को शील के केवल इतिवृत्त-कथन से बचना चाहिए—सामान्यतः उपन्यासकार जहाँ शील-सम्बन्धी अथवा शील से संबद्ध विवरण या समीक्षा प्रस्तुत करता है, वहाँ वह इन बातों का समावेश करता ही है:—

(१) शील की किसी वर्त्तमान अभिव्यक्ति के अनुकूल अतीत भूत की किसी घटना का उल्लेख—जैसे, किसी आखेटक को अपने गाँव में पक्षी का वध करते देख यदि कोई

नायक मना कर रहा हो, तो यह बतला देना कि किस प्रकार आज के बहुत पहले एक भठियारे ने अपने बूढ़े घोड़े को बेच दिया और नायक ने इतने कोड़े लगाए कि उसे गाँव ही छोड़ना पड़ा ।

(२) किसी संयत तथा सुसंबद्ध अतिरिक्त का उल्लेख:—जैसे, चेचक का टीका लेने के पहले मित्र के बच्चे को रोते देख टीका देनेवाले को गालियाँ सुनाकर नायक ने विदा तो कर दिया, लेकिन वह बच्चा शीतला के प्रकोप से ही मर गया । बच्चे को श्मशान पर सब लोग ले गए, नायक ने साथ नहीं दिया । मित्र ने बुरा माना ।

(३) शील की किसी वर्त्तमान अभिव्यक्ति के प्रतिकूल अतीत की किसी घटना का उल्लेख, जिससे पाठक नायक की प्रकृति के विरोधाभास की, उसके सिद्धान्त-स्वच्छन्द निसर्ग की रहस्य-लीला के भाव-असंमजस में पड़े । यह एक मान्य रुचि पौष्टिक विधि है । उपर्युक्त नायक के विषय में यह कहना कि पिछले साल जब एक पण्डित ने हठ किया कि चैत्र के नवरात्र में पशुबलि नहीं होने देंगे तो उन्हें दिखा-दिखाकर सात-सात खस्सियाँ कटवाईं !

(४) यदि शील की कोई अभिव्यक्ति निर्वाचन-सापेक्ष अथवा दिग्भ्रान्त हो तो उसके अद्वितीय सत्य को भेद सुहृद् अथवा अन्तस्सखा की भाँति प्रकाश में ला देना:—जैसे, किसी शत्रु की सभा से, चुनौती की वेला में यदि कोई कलह की ग्राम्यता से भागनेवाला मनस्वी अचानक क्षमा माँगकर चुपचाप, बिना एक शब्द बोले, चला आता है, तो सन्दर्भ-भेद से इसके कई अर्थ हो सकते हैं :

(क) व्यावहारिक बुद्धि अथवा कायरता से उसने ऐसा किया । इससे भावुक पाठक की श्रद्धा का कुछ ह्रास हो सकता है । यह वीर के पतन जैसा मालूम होता है;

(ख) उसने शत्रु से क्षमा नहीं माँगी; उस पर व्यंग्य किया । शत्रु के प्रति तिरस्कार के इस साहस से नायक के आत्मविश्वास की निर्भीकता झलकेगी, पाठक के कुतूहल को बल मिलेगा, पाठक की दृष्टि रागरजित होगी;

(ग) नायक की मान-वासना पर उसके संस्कृति-परिष्कार ने विजय पा ली । इस अवस्था में नायक सन्त-संयुक्त-कविहृदय व्यक्ति की आदर्श पूजा पाता है;

अब यदि पाठक भावुकता के आवेश में नायक के उपर्युक्त कार्य से उसके पुजारी होने का अर्थ लगा बैठता है तो उपन्यासकार के यह कह देने से कि नायक ने स्वार्थ-रक्षावश अथवा व्यवहार-सुगमता से ऐसा किया, पाठक यथार्थ-नियन्त्रित हो जायगा, थोड़ा चौंकेगा, उपन्यासकार पर, प्रतिमा खंडन करने के कारण, मन ही मन कुढ़ेगा, लेकिन होश में तो आकर ही रहेगा । अन्धे भक्त की भावना, इस तरह, कलाकार के हाथ से मूरत छीन नहीं पाती ।

(५) विचारों, भावों तथा संकल्पों के स्वागत का परोक्ष कथन :—जैसे, कोई पात्र चित्त की दशा-विशेष में कैसे मंसूबे बाँधता, कैसी स्मृतियों को कुरेदता, कैसे सपने देखता

बनाती थीं और चाचा संगीतज्ञ थे, तो नायक को शैशव से ही किस तरह काव्य-रचना का शौक हो जाता है, आदि-आदि । तथा

(८) उपन्यासकार प्रकृति के ऐसे दृश्य प्रस्तुत करता है जिससे पात्र के किसी भाव, विचार अथवा संकल्प का मानवेतर प्रतिबिम्ब, व्याप्ति, अभाव, वैषम्य, उद्दीपन अथवा प्रतीक दीख पड़े और पात्र के मन पर प्रभाव घना अथवा व्यंग्य-क्षुब्ध हो।

समरकन्द के तैमूरलंग तथा दीवार पर चढ़ने, गिरने और फिर चढ़नेवाली चीटियों की कथा सार्थक है। अमन-चैन तथा मेल-जोल के कितने मंसूबे पुरवैया के अंधड़ तथा अँधेरी रात के षड्यन्त्र में बह जाते हैं। जब प्रेमी आत्माओं की रसवार्त्ता चलती रहती है तब दूर क्षितिज में प्रकृति आँधी, पानी, बिजली अथवा भूकम्प की निस्तब्धता दुरभिसन्धि करती रहती है, और इस तरह पात्र को शीलगत भाव-विह्वलता भाग्य की पृष्ठभूमि में दया अर्जित कर लेती है। हार्डी के उपन्यासों की ऐसी ही आत्मा है । तथा

(९) उपन्यासकार को कुछ ऐसे आकस्मिक असंबद्ध तथा पार्श्वस्थित घटनाओं के कथन की छूट है जिनसे शील के कृत्रिम संग्रथन अथवा रासायनिक उपादान की शंका शमन हो सके। यों तो पात्र के कमरे की सुई से लेकर 'हनुमानबाहुक' तक के ब्योरों की समृद्धि के द्वारा उपन्यासकार शील की रूपरेखा को विविध और मांसल तथा अपने पर्यवेक्षण को प्रामाणिक बनाता है, फिर भी कभी कुछ इधर-उधर की बातों या घटनाओं के जिक्र से भी ऐसा लगता है कि पात्र का जीवन से हटकर काव्य की प्रयोगशाला में तापपोषण नहीं हुआ हो; जैसे,—संकल्प की किसी गंभीर बेला में जब 'क' सारे मनोयोग से तल्लीन है, 'ख' का जम्हुआई ले लेना या डकारना, अथवा 'ग' का आकर उससे कहना कि 'घ' की चिट्ठी 'च' के यहाँ कलकत्ता आने के लिए आई है । कलकत्ता के इस बुलावे में 'क' की कोई दिलचस्पी नहीं, इस प्रसंग से भी इसकी कोई संगति नहीं ; फिर भी ऐसी छोटी-मोटी आकस्मिक असंबद्ध, पार्श्ववर्त्ती बातों से लगता है कि पात्र का शील अन्तरिक्ष के कल्पलोक में नहीं विकसित हो रहा, बल्कि उस जीवन से भी संपृक्त है, जिसमें हर बात अपने ही स्वार्थ अथवा सिलसिले की नहीं होती ।

✔ प्रेमचन्द जी अन्तःप्रधान, मानसप्रधान व्यक्ति-कैवल्य के चित्रकार नहीं हैं । वे सदा-मनुष्य को लोकजीवन की सतत परिवर्त्तनशील सक्रियताओं के बीच रखकर शील की आकृति बनाते हैं । मुक्त-चंचल चेतना-प्रवाह के अणुवाद की पद्धति तो उनकी है ही नहीं । वे अन्तर्धारा के बुद्‌बुदों अथवा लहरियों के विलास की ओर नहीं जाते । इसलिए उपन्यास-कार की हैसियत से जहाँ-तहाँ वे साक्षात् उपस्थित रहते हैं, वहाँ पात्र का परिचय देते हैं, (जैसे राय साहब, मेहता, तंखा, मालती आदि का); अथवा पात्र के आर्थिक आवेष्टन से हमें अवगत कराते हैं; अथवा पात्रों की आशा, लालसा, प्रतीक्षा या विचारों के स्वगत का कथन भी करते हैं (जैसे गाय के आने के पहले होरी की रात-भर की उद्विग्नता,

आशंका और मनोरथ आदि के चित्र; शिकार वाले दिन मालती की वनकन्या के प्रति कुढ़न तथा बाद में अपने घर पर मेहता की प्रतीक्षा का स्वागत); अथवा उद्दीपनों के औचित्य एवं चमत्कार से शील-सौन्दर्य की रस-वृद्धि करते हैं, जैसे,—'सोना उम्र से किशोरी, देह की गठन में युवती और बुद्धि से बालिका थी, जैसे उसका यौवन उसे आगे खींचता था, बालपन पीछे। कुछ बातों में इतनी चतुर कि ग्रेजुएट युवतियों को पढ़ाए, कुछ बातों में इतनी अल्हड़ कि शिशुओं से भी पीछे। लम्बा, रूखा किन्तु प्रसन्न मुख, न देह पर कोई आभूषण। जैसे गृहस्थी के भार ने यौवन को दबाकर बौना कर दिया हो।' फिर पूर्वकथित पद्धति पर प्रकृति-चित्रण देखिए। सोना के विवाह की चर्चा चल रही है तो प्रकृति में आम गदरा गए थे, हवा के झोकों से एक-आध जमीन पर गिर पड़ते थे। मेहता शिकार के दिन मालती के साथ जब जंगल की लकड़ी की झोपड़ी की ओर चले जाते हैं, तो प्रकृति के स्वस्थ, उन्मुक्त, अनन्त-अगम्य, प्रत्यक्ष,विराट् रूप की चर्चा उपन्यासकार करता है। सिलिया सोना के यहाँ सुख-संवाद सुनाने जाती और मथुरा कामोत्तेजित हो उठता है, उस रात 'कार्त्तिक की रूपहली चाँदनी के मधुर संगीत की भाँति छाई हुई थी।' फिर सोना के चलते सुसंबद्ध अतिरिक्त के रूप में रूपा का भी कथन जिससे शिशुशील का पूरा मजा आ जाता है। 'जो काम सोना करे वह रूपा जरूर करेगी। सोना के विवाह की बातचीत हो रही थी, रूपा के विवाह की कोई चर्चा नहीं करता, इसलिए वह स्वयं अपने विवाह के लिए आग्रह करती है। उसका दूल्हा कैसा हो, क्या-क्या लाएगा, क्या पहनाएगा इसका वह बड़ा विशद वर्णन करती, जिसे सुनकर कदाचित् कोई बालक उससे विवाह करने पर राजी न होता' आदि, आदि। कहीं-कहीं जिसे कथोपकथन का रूप देना चाहिए, उसे वात्सल्य की ममता के कारण प्रेमचन्द जी व्यास-विवरण का रूप दे डालते हैं। प्रत्येक शील-शिल्पी को कोई-न-कोई पात्र इतना प्यारा हो जाता है कि वह उसकी रक्षा उसीके ऊपर छोड़ना नहीं चाहता। सोना-रूपा प्रेमचन्द जी के नैनतारा हैं। उन्हें वे खुद चमकाते रहते हैं।—'रूपा रोती आई, होरी की छाती पर लोट गई। सोना कहती है—गाय आएगी तो उसका गोबर मैं पाथूँगी। सोना ऐसी कहाँ की बड़ी रानी है कि गोबर आप पाथ डाले' (स्नेहनहास और प्रत्यावर्त्तित व्यंग्य का नमूना) रूपा उससे किस बात में कम है—'सोना रोटी पकाती है तो क्या रूपा बरतन नहीं माँजती ? सोना पानी लाती है तो क्या रूपा कुएँ पर रस्सी नहीं ले जाती ?' आदि। तर्क की यह बालसुलभ विमूढ़ता रूपा-सोना-संवाद में निभती या नहीं, शायद इसी आशंका से प्रेम-चन्द जीने इसे स्वयं संभाला, हालाँ कि बच्चों की बात बच्चों के ही मुँह से अच्छी मालूम होती है।

उपन्यासकार को हृदय से मुक्तक का भी लोभ होता ही है। यदि कोई प्रसंग-विशेष बड़ा ही मनोरम हुआ तो जमकर उनके सामान्य मर्म पर हृदय को हल्का कर लेना

खटकता नहीं। सामान्य के इस मुक्तक से विशेष का प्रभाव और भी बढ़ जाता है। उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

होरी और धनिया के प्यार में दो-दो बातें हो रही हैं। होरी कहता है, दुनिया बहुत गमखोर है। धनिया कहती है कि होरी के साथ दूसरी किसी स्त्री का निर्वाह नहीं होता। होरी धनिया के नैहर रूठकर भाग जाने और अपने मनुहार करने की याद दिलाता है तो वह कहती है, 'जब गरज सताती थी तब मनाने आते थे लाला, मेरे दुलार से नहीं।' यहाँ प्रेमचन्द जी लिखते हैं, 'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है उसके बाद विश्राममयी संध्या, शीतल और शान्त जब गम से थके पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं—तटस्थ भाव से।' इन पंक्तियों से दाम्पत्य रति की सान्ध्यदीप्ति की अवसादमयी अनुभूति बड़ी ही मार्मिक हो जाती है। इसी तरह जब स्वार्थ की मायान्धता में पड़ा होरी बाँस काटनेवाले चौधरी को स्वयं अपने सहोदरों के विरुद्ध षड्यन्त्र का विश्वासपात्र सहकारी बनाना चाहता है तो उसे भाई कहता है और प्रेमचन्द जी कह पड़ते हैं, 'व्यवहार में हम भाई के अर्थ का कितना ही दुरुपयोग करें लेकिन उसकी भावना में जो पवित्रता है, वह हमारी कालिमा से कभी मलिन नहीं होती।' होरी चौधरी के हाथों उल्लू बनकर चुप हो जाता है। प्रेमचन्द जी लिखते हैं, 'धोखेबाजियों की डींग मारते हैं, जिसमें सब कुछ माफ है। हार की लज्जा पी जाने की ही वस्तु है।' होरी की लज्जा और ग्लानि का रस हमें पूरा मिल जाता है। इसी प्रकार प्रेमचन्द जी अनुभावों का बड़ा ही अमोघ, सजीव तथा शील-सम्मत उपयोग करते हैं। खन्ना मेहता से इसलिए कुढ़ रहे हैं कि मालती उन पर (मेहता पर) लट्टू है। जब राय साहब कहते हैं, 'खन्ना तुम मालती पर जान देते हो,' तो खन्ना राय साहब पर भी यही इल्जाम लगाते हैं। राय साहब कहते हैं, 'मैं उन्हें (मालती को) खिलौना समझता हूँ, आप उन्हें प्रतिमा बनाये हुए हैं।' यहाँ प्रेमचन्द जी ने अपनी ओर से जोड़ दिया है, 'खन्ना ने जोर से कहकहा मारा, हालाकि हँसने का कोई प्रयोजन न था।'

फिर खन्ना ने कहा, "एक लोटा जल चढ़ा देने से वरदान मिल जाए, तो क्या बुरा है।' प्रेमचन्द जी लिखते हैं, अबकी राय साहब ने कहकहा मारा, जिसका कोई प्रयोजन न था।"

स्पष्ट है कि कहकहे से खन्ना ने अपनी झेंप छिपाई और कुछ ऐसा संकेत किया कि राय साहब भी कितने मूर्ख है कि तिल-सी बात में ताड़ जैसे अर्थ की गलती कर बैठते हैं। यह एक ही साथ लज्जा और तिरस्कार की अभिव्यक्ति है। राय साहब ने जब कह-कहा मारा तो खन्ना की जूती से ही खन्ना को मारा। फिर इस कहकहे में प्रतिशोध का

भी भाव है, और यह दिखला देने का भाव है कि अपनी गलती से मुझे मूर्ख समझा; और आप बार-बार, हर बार, और अबकी बार के भी मूर्ख हैं । इसी तरह राय साहब जब अपने द्वारा लिखे प्रसहन की बात करते हैं तो सम्पादक पं० ओंकारनाथ उपेक्षा से मुँह फेर लेते हैं, 'जिसे छिपाने की भी इन्होंने चेष्टा नहीं की ।' इन सब अनुभावों से वर्गशील भी निरूपित होता चलता है । यह उस शिष्ट समाज की सहृदयता है, जो उपहास से अधिक गहरी हो नहीं सकती, जिसके हास्य में भी द्वेष और व्यंग्य अधिक, सहानुभूति कम है ।

शील की निर्वचन-सापेक्ष (अनेकार्थी) अथवा दिग्भ्रांत अभिव्यक्ति के अद्वितीय सत्य का स्पष्टीकरण भी प्रेमचन्द जी करते चलते हैं । रूपा की शादी अधेड़ रामसेवक से हो जाती है, फिर भी वह प्रसन्न है ! विचित्र बात है ! होरी के प्रति, पति के प्रति, अपने भाग्य के प्रति उसे रोष तथा घृणा होनी चाहिए थी । वह खुश क्यों है ? इसके कई अर्थ हो सकते थे । रूपा खुश नहीं; वह अपने अभाग्य की सारी वेदना को इस उल्लास के नाट्य में छिपा रही है । शरद बाबू के नारी-पात्र तो, जहाँ हम और आप अश्रुसिक्त होंगे, वहाँ केवल हँसकर रह जाते हैं । वह प्रसन्न इसलिए भी हो सकती थी कि वह एक भारतीय आदर्श की पतिपरा-यणा सती है, आदि-आदि । प्रेमचन्द जी ऐसे अवसर पर साफ बतलाते हैं कि रूपा के दो रूप हैं । एक है, रामसेवक के लिए । तब वह गृहिणी बन जाती है, अपनी जवानी दिखा-कर उसे लज्जा या चिन्ता में नहीं डालना चाहती । दूसरा रूप उसका वह है, जिसमें अपने यौवन में वह आप मस्त है और अपने शृंगार में स्वयं प्रसन्न रहती है । उसकी निसर्ग-जात नारी भावना, दीर्घ परम्पराओं की पतिभावना, तथा अभाव के जीवन से मुक्ति तीनों मिलकर प्रसन्नता का अनायास सामंजस्य तथा शील-सत्य का निसर्गसम्मत हेतु-निरूपण भी कर देते हैं । साथ ही शील की यह अभिव्यक्ति आवेष्टन-सापेक्ष है । रूपा का अभाव में पलना आज सम्पन्नता के वातावरण में काम कर गया और वह अपने यौवन के मनो-रथों को सहज ही भुला सकती है । अर्थ ने काम को अपने में समेट लिया ।

जब गाय के आने की खबर सुनकर धनिया हर्ष के साथ पौरे की आशंका से भी भर जाती है। और कहती है, 'भगवान के मन की बात है, तो इसमें भक्त की आस्था नहीं, जो हृदय की चीज है, बल्कि बुद्धि है, जो हृदय की भाषा बोल रही है । ईर्ष्यालु भगवान् को छकाने की चाल है जिसमें वह दुःख भेजकर आसन्न सुख का आनन्द कम न कर दे । पहले अर्थ के संदर्भ-सापेक्ष भ्रम का निराकरण करने के लिए यह व्याख्या आवश्यक थी, इसलिए उपन्यासकार की यह सूझ काम की चीज है ।

इसी तरह अपव्ययी, दलाल पिता के वातावरण तथा आवश्यकताओं ने मालती को बाहर से तितली, भीतर से मधुमक्खी-सी बना दिया है । राय साहब को अपने पिता से रामभक्ति मिली है । चाचाजी फारसीमें रामायण तथा भक्तिरस के कवित्त रचते हैं ।

खटकता नहीं। सामान्य के इस मुक्तक से विशेष का प्रभाव और भी बढ़ जाता है। उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं:—

होरी और धनिया के प्यार में दो-दो बातें हो रही हैं। होरी कहता है, दुनिया बहुत गमखोर है। धनिया कहती है कि होरी के साथ दूसरी किसी स्त्री का निर्वाह नहीं होता। होरी धनिया के नैहर रूठकर भाग जाने और अपने मनुहार करने की याद दिलाता है तो वह कहती है, 'जब गरज सताती थी तब मनाने आते थे लाला, मेरे दुलार से नहीं।' यहाँ प्रेमचन्द जी लिखते हैं, 'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप लालसा का सुनहरा आवरण हट जाता है उसके बाद विश्राममयी संध्या, शीतल और शान्त जब गम से थके पथिकों की भाँति दिन-भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं—तटस्थ भाव से।' इन पंक्तियों से दाम्पत्य रति की सान्ध्यदीप्ति की अवसादमयी अनुभूति बड़ी ही मार्मिक हो जाती है। इसी तरह जब स्वार्थ की मायान्धता में पड़ा होरी बाँस काटनेवाले चौधरी को स्वयं अपने सहोदरों के विरुद्ध षड्यन्त्र का विश्वासपात्र सहकारी बनाना चाहता है तो उसे भाई कहता है और प्रेमचन्द जी कह पड़ते हैं, 'व्यवहार में हम भाई के अर्थ का कितना ही दुरुपयोग करें लेकिन उसकी भावना में जो पवित्रता है, वह हमारी कालिमा से कभी मलिन नहीं होती।' होरी चौधरी के हाथों उल्लू बनकर चुप हो जाता है। प्रेमचन्द जी लिखते हैं, 'धोखेबाजियों की डींग मारते हैं, जिसमें सब कुछ माफ है। हार की लज्जा पी जाने की ही वस्तु है।' होरी की लज्जा और ग्लानि का रस हमें पूरा मिल जाता है। इसी प्रकार प्रेमचन्द जी अनुभावों का बड़ा ही अमोघ, सजीव तथा शील-सम्मत उपयोग करते हैं। खन्ना मेहता से इसलिए कुढ़ रहे हैं कि मालती उन पर (मेहता पर) लट्टू है। जब राय साहब कहते हैं, 'खन्ना तुम मालती पर जान देते हो,' तो खन्ना राय साहब पर भी यही इल्जाम लगाते हैं। राय साहब कहते हैं, 'मैं उन्हें (मालती को) खिलौना समझता हूँ, आप उन्हें प्रतिमा बनाये हुए हैं।' यहाँ प्रेमचन्द जी ने अपनी ओर से जोड़ दिया है, 'खन्ना ने जोर से कहकहा मारा, हालाकि हँसने का कोई प्रयोजन न था।'

फिर खन्ना ने कहा, "एक लोटा जल चढ़ा देने से वरदान मिल जाए, तो क्या बुरा है।' प्रेमचन्द जी लिखते हैं, अबकी राय साहब ने कहकहा मारा, जिसका कोई प्रयोजन न था।"

स्पष्ट है कि कहकहे से खन्ना ने अपनी झेंप छिपाई और कुछ ऐसा संकेत किया कि राय साहब भी कितने मूर्ख हैं कि तिल-सी बात में ताड़ जैसे अर्थ की गलती कर बैठते हैं। यह एक ही साथ लज्जा और तिरस्कार की अभिव्यक्ति है। राय साहब ने जब कहकहा मारा तो खन्ना की जूती से ही खन्ना को मारा। फिर इस कहकहे में प्रतिशोध का

भी भाव है, और यह दिखला देने का भाव है कि अपनी गलती से मुझे मूर्ख समझा; और आप बार-बार, हर बार, और अबकी बार के भी मूर्ख हैं। इसी तरह राय साहब जब अपने द्वारा लिखे प्रसहन की बात करते हैं तो सम्पादक पं० ओंकारनाथ उपेक्षा से मुँह फेर लेते हैं, 'जिसे छिपाने की भी इन्होंने चेष्टा नहीं की।' इन सब अनुभावों से वर्गशील भी निरूपित होता चलता है। यह उस शिष्ट समाज की सहृदयता है, जो उपहास से अधिक गहरी हो नहीं सकती, जिसके हास्य में भी द्वेष और व्यंग्य अधिक, सहानुभूति कम है।

शील की निर्वचन-सापेक्ष (अनेकार्थी) अथवा दिग्भ्रांत अभिव्यक्ति के अद्वितीय सत्य का स्पष्टीकरण भी प्रेमचन्द जी करते चलते हैं। रूपा की शादी अधेड़ रामसेवक से हो जाती है, फिर भी वह प्रसन्न है! विचित्र बात है! होरी के प्रति, पति के प्रति, अपने भाग्य के प्रति उसे रोष तथा घृणा होनी चाहिए थी। वह खुश क्यों है? इसके कई अर्थ हो सकते थे। रूपा खुश नहीं; वह अपने अभाग्य की सारी वेदना को इस उल्लास के नाट्य में छिपा रही है। शरद बाबू के नारी-पात्र तो, जहाँ हम और आप अश्रुसिक्त होंगे, वहाँ केवल हँसकर रह जाते हैं। वह प्रसन्न इसलिए भी हो सकती थी कि वह एक भारतीय आदर्श की पतिपरायणा सती है, आदि-आदि। प्रेमचन्द जी ऐसे अवसर पर साफ बतलाते हैं कि रूपा के दो रूप हैं। एक है, रामसेवक के लिए। तब वह गृहिणी बन जाती है, अपनी जवानी दिखाकर उसे लज्जा या चिन्ता में नहीं डालना चाहती। दूसरा रूप उसका वह है, जिसमें अपने यौवन में वह आप मस्त है और अपने शृंगार में स्वयं प्रसन्न रहती है। उसकी निसर्ग-जात नारी भावना, दीर्घ परम्पराओं की पतिभावना, तथा अभाव के जीवन से मुक्ति तीनों मिलकर प्रसन्नता का अनायास सामंजस्य तथा शील-सत्य का निसर्गसम्मत हेतु-निरूपण भी कर देते हैं। साथ ही शील की यह अभिव्यक्ति आवेष्टन-सापेक्ष है। रूपा का अभाव में पलना आज सम्पन्नता के वातावरण में काम कर गया और वह अपने यौवन के मनोरथों को सहज ही भुला सकती है। अर्थ ने काम को अपने में समेट लिया।

जब गाय के आने की खबर सुनकर धनिया हर्ष के साथ पौरे की आशंका से भी भर जाती है। और कहती है, 'भगवान के मन की बात है, तो इसमें भक्त की आस्था नहीं, जो हृदय की चीज है, बल्कि बुद्धि है, जो हृदय की भाषा बोल रही है। ईर्ष्यालु भगवान् को छकाने की चाल है जिसमें वह दुःख भेजकर आसन्न सुख का आनन्द कम न कर दे। पहले अर्थ के संदर्भ-सापेक्ष भ्रम का निराकरण करने के लिए यह व्याख्या आवश्यक थी, इसलिए उपन्यासकार की यह सूझ काम की चीज है।

इसी तरह अपव्ययी, दलाल पिता के वातावरण तथा आवश्यकताओं ने मालती को बाहर से तितली, भीतर से मधुमक्खी-सी बना दिया है। राय साहब को अपने पिता से रामभक्ति मिली है। चाचाजी फारसीमें रामायण तथा भक्तिरस के कवित्त रचते हैं।

यह एक ओर तो अवकाश-भोगी धनिक-वर्ग की श्रममुक्ति का सांस्कृतिक कार्य है तथा दूसरी ओर वातावरण की शिष्ट सहानुभूतियों का वह आदान-प्रदान है, जिसमें राय साहब साहित्य, संगीत, ड्रामा, वक्तृता तथा आखेट के प्रायः स्वयं-स्वीकृत कलाकार हो जाते हैं। इस तरह आभिजात्य तथा भौतिक मंडल शील के, विशेषतः वर्गशील के धर्म-प्रवर्त्तक हो जाते हैं।

परन्तु कहीं-कहीं प्रेमचन्दजी उपन्यासकार की समापत्ति खो देते हैं और स्थूल तथा बोझिल प्रभाव के फेरे में पड़ जाते हैं। तब वे अतिरंजना की इति कर देते हैं। कहीं लक्ष्य-सिद्धि के लिए इतने त्वराकुल हो जाते हैं कि पात्रों की जगह आप छेंक लेते हैं। उस समय वे उस कुटुम्बनायक से दीखते हैं जो वानप्रस्थ इसलिए लेता है कि बाल-बच्चे अपना काम आप सँभालें। लेकिन फिर बाल-बच्चों की कार्य-कुशलता तथा आचरण-निर्वाह की क्षमता में विश्वास की कमी के कारण अपनी निस्संगता त्यागकर हस्तक्षेप शुरू कर देता है। बेलारी के पात्र (तथा मेहता के धर्म की बहन वह जंगली लड़की) शील के सिकन्दर हैं। वे प्रेमचन्द जी से कहते हैं—'आप ही राज्य करते रहिएगा तो हम कब करेंगे ?' प्रेमचन्द जी जब सेमरी अथवा लखनऊ चले जाते हैं तो प्रायः ययाति बन जाते हैं और अपने मानस-पुत्रों से यौवन उधार माँगकर अपना लोक-विस्तार करते हैं। प्रायः पूर्णतः मिर्जा, यदा-कदा खन्ना की धर्मपत्नी, अंशतः मेहता, अन्ततः और सूक्ष्मतः मालती, बस ये ही उनके हाथों से निकलकर कहीं स्वतन्त्र से दीखते हैं, अन्यथा सेमरी वाले व्य-सनी-विनोदी दल का व्यवहार पुत्तलिकाशील की पराधीनता लिए हुए हैं।

राय साहब प्रेमचन्द जी की सबसे असिद्ध कृति हैं। वे उस घड़े के समान हैं, जिसके ऊपर सर्वत्र कुम्हार की उँगलियों की छाप पड़ी हो।

इस तरह के मुख्यतः तीन दोष दीख पड़े हैं। (१) संभावनाओं का अखिल-विश्व-सम्मेलन या संभावनाओं की अखिल-एकत्रता। राय साहब ने सत्याग्रह में यश कमाया, असामियों की श्रद्धा पाई; लेकिन डाँड़ और बेगार पूर्ववत् चलती थी, मुख्तार बदनाम होते थे। फिर, हुक्काम से मेल-जोल रखते थे; साहित्य संगीत, ड्रामा के शौकीन थे, वक्ता थे, लेखक थे, निशानेबाज थे। उन्होंने रामभक्ति पाई थी। उनके यहाँ धन भी कुछ ऐसा कि कोई डेढ़ सौ सरदार एक साथ भोजन करते थे—उनके कई चाचा, दर्जनों चचेरे भाई, कई सगे भाई, बीसियों नाते के भाई। उसी तरह मालती के प्रथम परिचय में चपलता, मेक-अप, बला की हाजिरजवाबी, ताल्लुकेदारों के महलों में प्रवेश, पुरुष-मनोविज्ञान की जान-कारी, आमोद-प्रमोद के जीवन-दर्शन, रिझाने की निपुणता, आत्मा के स्थान पर प्रदर्शन, हृदय के स्थान पर हाव-भाव, मनोद्‌गारों पर कठोर निग्रह आदि की एक ही साँस में चर्चा हो जाती है। अब केवल इस स्थापना की जाँच करनी है।

(२) स्वरकृत लक्ष्यसिद्धि। प्रेमचन्द जी अपने लक्ष्य को अपने ही स्वराक्षेप से स्पष्ट कर देना चाहते हैं। जमींदारों के प्रति उनकी तिरस्कार-व्यंजना में किसी मुंशी की कलम की तिरछी नोंक अधिक, किसी 'प्रेमचन्द' का स्निग्धहास बहुत कम है:—

"असामियों से वे हँसकर बोल लेते थे। यही क्या कम है? सिंह का काम तो शिकार करना है, अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता तो घर बैठे मन-माना शिकार मिल जाता!"

ऐसे द्वेपाक्त व्यंग्य के संदर्भ में जब प्रेमचन्द जी वर्गरूढ़ लक्षणों से हटाकर राय साहब को स्वतन्त्र मार्मिकता देते हैं—'उनकी पत्नी को मरे आज दस साल हो चुके थे, मगर दूसरी शादी न की थी। हँस-बोलकर अपने विधुर जीवन को बहलाते रहते थे।' तो इसमें पत्नी की सँजोई स्मृति की अपेक्षा अर्थसुलभ आमोद-प्रमोद की, उसकी मादक शक्ति का संकेत अधिक मिलता है, जो हृदय के सम्बन्धों पर भी छा सकती है। अर्थ-सम्पन्नता अनुराग का निस्सार, किन्तु पर्याप्त समीकरण ठहरती है।

(३) प्रेमचन्द जी जहाँ परिचय देते हैं, वहाँ उपकरणों की भीड़ तो लगा देते ही हैं, साथ-ही-साथ जहाँ टीका करते है, वहाँ एक ही साँस में बहुत बोल जाते हैं। ऐसे दीर्घ प्राणायामों के विराम घातक होते हैं।

जहाँ दो जमींदारों के संघर्ष, द्वैत-दृश्य, अथवा भिन्नता से काम चलना चाहिए, वहाँ पर वे भारी बोझ रख देते है और आज्ञा-पर-आज्ञा दिए जाते हैं। यदि मौके-मौके से व्यवच्छेद का प्रबन्ध करके कहते तो यह बात खटकती नहीं।

राय साहब जब बोलते हैं तो मालूम होता है, कोई राय साहब मुंशी प्रेमचन्द किसी सार्वजनिक सभा में अभिभाषण दे रहे हों। विक्टोरिया ने अपने सचिव को डाँटा था, तुम बात कर रहे हो या सार्वजनिक सभा में बोल रहे हो?' यही हालत प्रेमचन्द जी के राय साहब की है। इस पर कहीं आगे विचार करेंगे।

प्रेमचन्द जी शील का स्पष्ट-यथार्थ मोपासाँ और जोला की भाँति वर्बर पाशविकता के रक्त-नग्न स्फोट अथवा स्थायी व्याप्ति के रूप में नहीं अंकित करते, बल्कि अत्यन्त सामान्य कोटि की दुर्वलताओं के क्षणिक, व्यभिचारी उद्बोधन द्वारा करते हैं। पहले तो दुर्वलताएँ अत्यन्त साधारण होती हैं, छोटी होती हैं। वे कुछ समय के लिए आती हैं। इन दुर्वल-ताओं की पापचेतना पात्र को कभी-कभी प्रतिकार के आकस्मिक आग्रह की ओर ले जाती है। कभी कोई सरल व्यक्ति इस व्यभिचार को चेतना के कारण प्रसुप्त स्थायी दशा के सहसा जागरण का ऐसा दृश्य उपस्थित करता है कि वह भावाभास-सा लगकर शील को हास्यकर बना देता है। कभी कोई पात्र हृदय के भाव को बुद्धि की कूटनीति से छिपाता है और उसका पाला वैसे ही स्वार्थपरायण किन्तु भेद-निपुण पात्र से पड़ जाता है तो मजा आ जाता है, यहाँ तक कि वस्तु-विन्यास में भी पूरी नाटकीयता आ जाती है। यह बात

निसर्ग-प्रधान शीलों के लिए है। वर्गमूलक शीलों में तो दोष व्यवस्था के हैं। समूचे 'गोदान' में कोई भी ऐसा निसर्ग-प्रधान पात्र नहीं जो अपनी दुर्बलताओं के लिए सहानुभूति न अर्जित कर ले। वर्गशील भी घृणा नहीं, उपहास के ही पात्र हो पाते हैं।

उदाहरण के लिए नायक होरी को देखिए। जब होरी भोला की क्षणभंगुरता अथवा वचन-पलायन की आशंका से नाद नहीं गाड़ पाता और गोबर कंधे पर लट्ठ रखे यह कहते चल देता है कि भोला क्यों नहीं गाय देंगे, तो पुत्र के बलिष्ठ यौवन तथा इष्ट-सहायता (गाय की लालसा को फलवती करने में) के कारण बाप गौरव, ममता, कृतज्ञता, आदि से भर जाता है; और गोबर की, तथा संयोग से, सोना की शादी की चिन्ता, वात्सल्य से अचानक बढ़ जाती है। ममता और लोकापवाद के इसी क्षण में अवसर के साक्षात्कार से होरी लोभी हो जाता है। भाइयों के प्रति होरी सदा ही भाव-कातर रहता है, यह बात उसके भाइयों के लड़ाकू आलोचक धनिया से भी नहीं छिपी है। अलगौझे से और चाहे जो प्रसन्न हो, होरी नहीं। गाय को सभी देखने आये, हीरा नहीं आया तो सब व्यर्थ। मलिकाँव के हल्के मदपान का आश्वासन रहने पर होरी भाइयों के लिए बहुत कुछ त्याग कर सकता है। लेकिन आज गोबर-सोना की चिन्ता ने तथा अवसर के प्रलोभन ने उसे चोर और कपटी बना दिया। लाभ कुछ इतना कम है, पाप कुछ इतना छोटा है कि धर्मभीरु होरी इसे किसान के जीवन की व्यावहारिकता भी समझता है। लेकिन होरी में अनीति की इतनी दिग्म्बर निर्भीकता नहीं, इतना वैज्ञानिक व्यवहारवाद नहीं कि वह चौधरी से साफ-साफ कह दे। चौधरी को भाई कहता है। वह भी बड़ा ही घाघ है, और मोल-भाव करने लगता है, तब होरी खिसियाता है। अन्तरात्मा में तो इस जघन्य परांशभक्षण को किसी तरह पार कर जाने की अधीरता है, फिर भाइयों का भय, फिर उनके प्रति प्रेम, फिर अपने भाई को धोखा देने के लिए दूसरे को भाई कहने की दयनीयता का व्यंग्य, फिर उस स्नेह-संबोधन की व्यर्थता की ग्लानि, फिर उधार हो जाने की लज्जा, उसके ऊपर इस विशुद्ध व्यवसायी का भावना-शून्य अर्थयोग! होरी अपने कर्म को भूल ठीक उसी अपराध के लिए चौधरी को नीच समझकर क्रोध करता है। न्याय की ऐसी विस्मृति शील को स्वाभाविक बनाती है। दाँव-पेंच चलते हैं; भाइयों से छिपकर सौदा होता है। होरी भय, अशान्ति के कारण क्षम्य होता है, तथा शील के इस व्यंग्य से उपहास्य भी। कहीं भी पाठक के मन पर दुर्बलता का कटु प्रभाव नहीं पड़ने पाता और शील का यथार्थ भी बना रहता है।

जब झुनिया और चौधरी उलझ जाते हैं और होरी देख लेता है, तो परिवार के प्रति सुषुप्त एवं बाधित प्रेम का, चौधरी के प्रति क्रोध के रूप में, विस्फोट हो जाता है। यह प्रसुप्त स्थायी भाव-दशा के विप्रलंभ का सहसा संयोग-प्रयास है, जो आकस्मिकता तथा अलगौझे की दूरी के कारण भावाभास-सा मालूम पड़ता है, और जो हमें दुर्बल स्नेह-कातर होरी के

प्रति बन्धुत्व की भावना से भरता है और उसके परिस्थिति-विमूढ़ होने के नाते गुदगुदाता भी है । इसी आलोचना को धनिया मुखरित कर देती है—जब वह कहती है कि 'कोई सुनता है या योंही सिच्छा देते हो ।' यह 'पूछे न आछे में दुलहिन की चाची' वाली अनायास मूर्खता का दृश्य है । फिर वह हीरा के प्रति क्रोध के आडम्बर से प्रेम प्रदर्शित करती है कि 'बहू को इतना न मार ।' बड़े भाई का आसन-विशेष होरी भुला नहीं सकता । वस्तुतः होरी के माध्यम से रह-रह कर यह सत्य निरूपित होता है कि आर्थिक विषमता सदा विषमता की भूख का सहारा पाकर क्रान्ति-ध्वंस से बचती है । जब चौधरी उसे धक्का देता है और होरी लज्जा तथा वेदना की अन्तिम गलितावस्था में घुटकर, धनिया के भ्रातृ-वात्सल्य के तानों से बिंधकर, रह जाता है तो कथा-विन्यास में भी नाटकीयता आ जाती है, और दुर्बलताओं के प्रति अशिव प्रभाव का शमन भी हो जाता है । होरी दुर्बल भले हो, शठ या खल नहीं, वैसे मौके-बे-मौके स्खलित हो जाना दूसरी बात है । शील की ऐसी अभिव्यक्ति में आर्थिक अभाव घुलमिल कर भाव-हेतु-सा लगता है, स्थूल शास्त्रीय हेतु स्थापना के रूप में खलता नहीं।

इसी तरह सोना का पति मथुरा, लम्पट न होते हुए भी अँधेरा, एकान्त और सिलिया का यौवन देखकर चंचल हो उठता है । तंबीह होते ही वह होश में आ जाता है। उसकी क्षमा-याचना के स्वर से 'मैं कसम खाता हूँ सिल्लो, अब कभी ऐसा न होगा ।' सिल्लो का मन आन्दोलित हो उठता है । सिल्लो की निष्ठा मातादीन के प्रति कभी अविचल नहीं होती । लेकिन मुँह के पास मुँह आ जाने से, साँस में साँस मिल जाने से, उसकी दया सरस होने लगती है । वह कहती है 'और जो करो ?' जाहिर है कि कम-से-कम एक बार के लिए तो यह प्रच्छन्न प्रोत्साहन या छूट है ही। न मथुरा लंपट और न सिलिया कामी, लेकिन अवसर के साथ, अँधेरे, एकान्त आदि की उत्तेजना से ऐसा हो ही जाता है । मथुरा और सिलिया दोनों मूलबन्धुत्व अर्जित कर लेते हैं—इस व्यभिचारी क्षणिकता के बावजूद ।

वासना की स्थायी हेतु-सत्ता मनुष्य के भीतर है, लेकिन उसे उभारने वाला अवसर बाह्य तथा निरपेक्ष है । ऐसा नहीं कि सिल्लो के हृदय में मातादीन के बेटे के साथ-साथ सूक्ष्म अन्तर्धारा के रूप में, मथुरा के लिए भी स्थायी दुर्बलता हो, जिससे कोई द्विधा, अशान्ति या द्वन्द्व हो । इस तरह के द्वैत का साक्षात्कार 'गोदान' में नहीं के बराबर है; हाँ, छोटे-छोटे दृश्यों में भावों की जनक-जन्य शृंङ्खलता देखने को मिल जाती है ।

जो बात होरी के लिए लागू है, वही कर्तव्यपरायणता एवं सहिष्णुता की प्रतिमा जैसी लगनेवाली गोबिन्दी के भाग जाने में भी है । पति पीट दे, कोई बात नहीं; लेकिन मालती के प्रति ईर्ष्या को वह सह न सकी । मेहता की नसीहत, मेहता की आस्था और आदर्श-निष्ठा उसे लौटा लाती है । इस क्षणिक व्यभिचार के विपरीत आकस्मिक क्रान्ति

या उद्धार के भी दृश्य ऐसे ही हैं। लाख तर्क से कोई मुक्त योगी सिद्धान्तवाले मेहता की शराबवाली लत नहीं सुधार सकता था, लेकिन जिस देवी के प्रति उनकी भावुकता इष्ट देवी के आदर्श का छोर छू चुकी है उसके मुँह से एक हल्का विनोद तीर की तरह चोट करता है और लज्जा से उनका सुधार हो जाता है। नारी को मातृत्व का पर्याय समझने तथा प्राकृतिक जीवन की स्वच्छ-स्पष्टता को गौरव देने के कायल मेहता का सुधार गोबिन्दी के हाथों होना खटनेवाली बात नहीं है।

प्रेमचन्द जी शील के गति-विकास के प्रायः इन्हीं कारण-तत्त्वों को सामने रखते हैं—(१) अर्थ, (२) संस्कृति-संपर्क, (३) विपत्ति, (४) काम, (५) अवस्था, (६) संस्कार, और (७) सन्तान।

गोबर विद्रोही होते हुए भी उतना स्वार्थी नहीं था, जितना कुछ कमाई (अर्थ) हो जाने के बाद हो जाता है। इसमें नगर के स्वार्थ-कुत्सित वातावरण का भी हाथ है। मिर्जा साहब के लिए गोबर दो रुपये नहीं दे सकता; और वहीं की चुहिया, उसकी स्त्री की सेवा कर, निसर्ग की लोक-अभिन्नता का परिचय देती है। असहाय झुनिया को धनिया और होरी शरण देते हैं, और उन्हें वह माँ-बाप से भी बढ़कर मानती है, लेकिन परदेश का गौरव लेकर उसका पति जब आता है और उसे साथ ले जाना चाहता है तो धुनिया से झगड़ कर वह जाने को तैयार हो जाती है। यह परिवर्त्तन काम-तत्त्व के कारण है। फिर समागम के बाद, अवस्था-परिवर्त्तन के साथ, झुनिया और गोबर की स्वप्निल मादकता काफूर हो जाती है और उसका स्थान उपेक्षा तथा प्रेम की मन्दाग्नि और अरुचि ले लेती है। फिर विपत्ति के समय में, कुछ कष्ट भोग लेने पर, गोबर झुनिया की कीमत समझ लेता है। सुख के संयोग में मोह है, दुःख के पुनर्मिलन में ज्ञान है। दुःख शोधक है। प्रेम तब मैत्री होकर स्थायी दृढ़ तथा बौद्धिक हो जाता है।

'गोदान' में संस्कृति-संपर्क से बदलने वाला शील मालती में है। मेहता की संस्कृति, उनके आदर्शों के साथ मिल कर धीरे-धीरे मालती को मेहता बना देती है। विपत्ति में ही, आघात पाकर ही, मालती से, और मिलों से विमुख होकर, खन्ना अपनी पत्नी गोबिन्दी की ओर फिर मुड़ते है। अर्थ उपार्जित कर लेने के कारण गोबर अकड़-अकड़ कर प्रदर्शन करता चलता है। मातादीन फिर सिलिया के मन्दिर का पुजारी हो जाता है। संस्कार के आघात से वह झकझोर दिया जाता है। मुँह में हड्डी की बिनौनी अनुभूति ब्राह्मण को आन्दोलित कर देती है। इस विप्लव के बाद जब पंचगव्य-संस्कार से उसके मन का भ्रम शान्ति पा लेता है और धीरे-धीरे सन्तान की ममता जोर मारती है तो वह पुनः सिलिया की ओर झुकने लगता है। पुत्र की मृत्यु से उसके मार्ग का वह तल छू जाता है, जहाँ प्रेम की लोक-भूमि है, और तब वह समाज, लोक-लज्जा आदि के ऊपरी प्रतिबन्धों तथा व्यवधानों को पारकर सिलिया का हो जाता है। होरी और धनिया में

कोई परिवर्त्तन इसलिए नहीं होता कि अर्थ की कोई आकस्मिक प्राप्ति उन्हें होती ही नहीं; उनकी स्थिति आद्यन्त एक-सी बनी रहती है। होरी को अधिक-से-अधिक गोबर की कृतघ्नता से निस्सारता की अनुभूति हो सकती थी, लेकिन उसके वात्सल्य की नींव काफी गहरी है। पुनिया में जो आकस्मिक परिवर्त्तन होता है, वह पतिकृत गोहत्या के फलस्वरूप संस्कार पर आघात पड़ने तथा होरी के सतत सद्व्यवहार के कारण। हीरा का सुधार घोरतम जघन्यता के पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्त के कारण होता है। उसे भी मानसिक क्लेश ही कहिये। मिर्जा साहब कुछ हठी जीव हैं। वे प्राण-प्रधान हैं, इसलिए उन्हें आनन्द से जीने में कोई परिस्थिति रोक नहीं सकती। अन्त में आर्थिक विवशता में उनका भविष्य एक प्रश्नचिह्न बनाकर छोड़ दिया जाता है, जो नियति अथवा कथानक की चीज है, शील की नहीं। मेहता का आदर्शवाद जब मालती के अनुराग का स्पर्श पाता है तो उनकी संस्कृति काम में विगलित होने लगती है, लेकिन मालती के हाथ से बाहर निकल जाने से वे पीछे छूट गए गुरु जैसे म्लान दीखते हैं।

सोना-रूपा आपस में लड़नेवाली चंचल बहनों से बदलकर धीरे-धीरे अर्थ, अवस्था और पारिवारिक स्मृतियों के कारण दृढ़, व्यवहार-कुशल तथा स्वयंपर्याप्त-सी हो जाती हैं। सोना-रूपा सचमुच गोदान की सोना-रूपा हैं।

शील में जो परिवर्त्तन होता है, वह अनेक रूप प्राप्त करता है :—

(१) एक अति से दूसरी अति, उदाहरणतः, सोना, रूपा, मालती।

(२) विरोधी परिवर्त्तन, फिर ज्ञान तथा फिर प्रत्यावर्त्तन, उदाहरणतः, गोबर, झुनिया। गोबर का पिता से मेल हो जाता है। गोबर, झुनिया मिल जाते हैं। इस तरह स्नेह में गम्भीरता आ जाती है।

(३) मात्र-सुधार के रूप में (आँखें खुल जाने से), उदाहरणतः, खन्ना और मातादीन।

सामान्य-लक्षण शीलों के निर्माण में प्रेमचंद जी कई प्रकार के उपकरणों तथा विधियों का प्रयोग करते हैं। एक सर्वनिष्ठ आर्थिक सभ्यता के भीतर एक-आध स्वलक्षणशील भी चरितार्थ हो गये हैं। गंध कहीं भिन्न, कहीं-कहीं निराली मालूम पड़ती है, पर वायुमंडल एक ही है। राय साहब के संग रहनेवाले खन्ना, तंखा, पं० ओंकारनाथ, मालती, मिसेज खन्ना, मेहता, मिर्जा खुर्शेद आदि पूँजीवादी सभ्यता के जीव हैं। इनमें आदर्श के रूप में मिसेज खन्ना घेरे की उदासीन वन्दिनी है। मेहता में अपने वातावरण के प्रति अध्ययनसिद्ध संस्कृति की स्वीकृति तथा विद्रोह दोनों हैं। उनका यह समझना कि वे मुक्त वर्त्तमान के सहज भोगी हैं, विशुद्ध आत्मरति-सा दीखता है। डा० मेहता प्रारम्भ में जैसे दीखते हैं, अन्त तक प्रायः वैसे ही बने रहते हैं; हाँ, दार्शनिक से कुछ-कुछ कवि अवश्य हो जाते हैं। इस समाज में केवल दो पात्र ऐसे हैं जो मृत-स्थिर नहीं, वे सदा हमारी प्रत्याशा को छकाते हैं। इसमें मालती तो

परिवर्त्तन के दूसरे ध्रुव की यात्रा करती है, तथा मिर्जा खुर्शेद चंचल प्रकृति की स्वच्छन्दता के दृष्टांत हैं ।

यहाँ शील-निर्माण के उपकरणों में युग, वर्ग तथा विकल्प-तत्त्व प्रमुख हैं, निसर्ग गौण है । खन्ना का मालती के साथ रोमांस इस शिष्ट सभ्यता की प्रेम-विडम्बना है । यह वासना नहीं, वासनावाद है । इसमें गोबर, सोना, रूपा, सिलिया आदि का नैसर्गिक, सहज भाव नहीं । मेहता-मालती का प्रणय स्वभाव को छोड़ क्रमशः क्लिष्ट अपवाद तथा अद्वितीय विशेष की ओर चला जाता है । इस समाज में एक चीज का निर्वाह नहीं हो सकता, वह है विवाह; क्योंकि विवाह स्वयं एक निर्वाह है ।

खन्ना विवाह करके भी मुक्त भोग के समर्थक हैं; मालती विवाह इसलिए नहीं करती कि विवाह में बन्धन का संकोच है, मैत्री में विकास तथा मुक्ति का प्रसार है, आश्वासन है । मालती मेहता को देवता तक मान लेती है, पर अहं उसका पिण्ड नहीं छोड़ता । मेहता के साथ विवाह-बन्धन में उसकी स्वतंत्रता को कष्ट है । वैराग्य की भावना से यदि यह कहा जाता, अथवा निष्काम कर्मयोगी के लोक-संग्रह की यह बात रहती तो हम समझ भी सकते । यह तो किसी अरस्तू की गीता है जिसमें अनासक्त आसक्ति की आत्मप्रवंचना के लिए काफी गुंजाइश है । सचमुच ही 'कारण से कारज कठिन'; मेहता से मालती कठिन हो गई है ।

युग के तत्त्वः—हाकिम-हुक्कामों के प्रति भय तथा गौरव के भाव, पठानों से भय, तंखा का वकालत छोड़कर दलाली करना, ओंकारनाथ की राष्ट्रीयता तथा यह शिकायत कि लोग संपादक को जेल तो भेजते हैं, लेकिन उसकी कठिनाइयों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता, मिर्जा साहब की डेमोक्रेसी के प्रति उपेक्षा, मेम्बरी की धुन, स्त्रियों का राजनीतिक जागरण तथा उसके प्रति मेहता की उपेक्षा, खन्ना का खद्दर पहनना तथा फ्रांस की शराब पीना आदि युग के तत्त्व हैं ।

वर्ग के तत्त्व :—यों तो सभी धनसंपन्न अवकाश-भोगी वर्ग के भीतर आते हैं; लेकिन इनमें भी जमींदार, दलाल, सम्पादक, प्रोफेसर, डाक्टर आदि के उपभेद हैं । प्रोफेसर मेहता का प्रोफेसर पति की तरह स्त्रियों के बीच लज्जालु होना; खुर्शेद साहब का कौंसिल में खर्राटे लेना; खन्ना का मजदूरों से अकड़ना, मित्रों से, सभाओं से, शिकार में भी शेयर, सूद आदि की बातें करते रहना, यहाँ तक कि जंगल की जड़ी-बूटी को महात्मा की जड़ी-बूटी कह लोगों से कुछ ऐंठने की बात सोचना; तंखा का एलेक्शन लड़वाना, बाप-बेटे को लड़वाना, विश्वासघात के बाद भी बेहयाई के साथ हुजूर-हुजूर करते आना, जंगली हिरन को इसलिए लादकर चलना कि मिर्जा साहब उनके किसी आयोजन का सभापतित्व स्वीकार कर लें, राय साहब की अपने वर्ग के आश्रितों, संबंधियों, मित्रों आदि की ईर्ष्या एवं कपटाचार के कारण घृणा, असामियों पर जुल्म तथा हाकिमों की गुलामी करने की दोहरी विवशता, इस व्यवस्था की बुराई मानते हुए भी उससे मुक्त होने में असमर्थता. . .तथा उपर्युक्त सभी व्यक्तियों की आमोद-विनोद-आखेट-

प्रियता आदि वर्ग के तत्त्व हैं, जिनके मूल में आर्थिक सुविधा है ।

विकल्प के तत्त्व—इसके भीतर ग्रन्थ-सामग्री का वह चर्वित-चर्वण है जिसे प्रेमचन्द जी अपनी शैली के बल पर रुचिकर तो बना देते हैं, पर जिसका लक्ष्य तथा प्रभाव इन सभी श्रीमानों को पाश्चात्य विचारों का पिष्ट-पेषक बनाना ही है। राय साहब तो सिद्धान्तों के पंडित हैं और जमींदारी व्यवस्था के सबसे बड़े निन्दक हैं, लेकिन उनके हाथ पश्चिम का वह सिद्धान्त लग गया है जो कहता है कि व्यवस्था के सामने व्यक्ति क्या कर सकता है, अथवा क्रान्ति में पड़ाव की जरूरत है, 'तू दोषी नहीं, तो तेरा बाप'—भेड़िये ने मेमने से कहा। राय साहब अजीब मेमने हैं, वे कहते हैं, 'मैं दोषी नहीं, मेरा बाप'। उनकी बात मानिए तो होरी और राय साहब दोनों उस आर्थिक वैषम्य के शिकार हैं । मेहता बुद्धि, रूप आदि के आधार पर विषमता की शाश्वत संभावना के समर्थक हैं। कम्युनिज्म के विरुद्ध शतावृत आलोचना है यह। राय साहब कम्युनिस्टों की ओर से स्वयं जमींदारी पर आक्रमण करते हैं। वे बुद्धिवाले को अधिकार, नेतृत्व, सम्मान सब कुछ दे देंगे, लेकिन सम्पत्ति नहीं। बिच्छू का डंक तोड़कर रहेंगे। इसी तरह मेहता सामाजिक दृष्टि से विवाह को शिव, लेकिन व्यक्ति की दृष्टि से अशिव, मानते हैं। विवाह के पहले सोच ले, लेकिन विवाह के बाद बंधन-निरपेक्ष हो जाना चाहिए। उनके लिए धन एक साधन है, साध्य नहीं। उसी तरह मेहता की वक्तृता तथा राय साहब की स्वगत-अभिभाषण-सी लगनेवाली बातचीत ग्रन्थ-सामान्य तर्कों एवं युक्तियों से भरी पड़ी है।

इसका एक बड़ा ही मजेदार परिणाम होता है कि सभी सिद्धान्तवादी बनते हैं। मेहता ने शादी नहीं की है तो मुक्त-भोग का सिद्धान्त; शादी कर लेंगे तो उसके लिए समाजवाला सिद्धान्त। मेहता की किताब की पूछ नहीं, तो वे किसी की तारीफ नहीं सुन सकते। विरोध करते हैं, लेकिन सिद्धान्त की आड़ में। खन्ना तेंदुआ से घबराते हैं तो शिकार को पूर्वजों की आदिम बर्बरता का रूप मानते हैं। राय साहब धमकी देते हैं कि उनकी इस कायरता की खबर मालती तक पहुँचा दी जायगी तो कहते हैं, अहिंसावादी होना कोई लज्जा की बात नहीं। मेहता-पठान के भय के मारे सब सटक जाते हैं। और मालती तिरस्कार के शब्द बोलती है तो कहते हैं, प्राण-रक्षा जीव का धर्म है। मारे ईर्ष्या के जब वे मेहता की वक्तृता से जल उठते हैं तो कहते हैं, 'यह मेहता कब का फिलासफर ! फिलासफर तो वह है जो फिलासफर हो' ! इसमें एक ही साथ सिद्धान्त और पीठाचार्य का दिवाला है। मिर्जा शराब पीते हैं तो इस सिद्धान्त के बल पर कि जब खुदा का एक भी हुक्म नहीं मानते तो दीन के फेर में क्यों पड़ें. . . .आदि आदि ।

बात यह है कि समाज जहाँ विडम्बक वीरों की गाथा बन जाता है, वहाँ उत्साह का स्थान वैदग्ध्य और तत्त्व का स्थान उक्ति ले लेती है। अभिनव सिद्धान्तों की उर्वरता

परिवर्त्तन के दूसरे ध्रुव की यात्रा करती है, तथा मिर्जा खुर्शेद चंचल प्रकृति की स्वच्छन्दता के दृष्टांत हैं ।

यहाँ शील-निर्माण के उपकरणों में युग, वर्ग तथा विकल्प-तत्त्व प्रमुख हैं, निसर्ग गौण है । खन्ना का मालती के साथ रोमांस इस शिष्ट सभ्यता की प्रेम-विडम्बना है । यह वासना नहीं, वासनावाद है । इसमें गोबर, सोना, रूपा, सिलिया आदि का नैसर्गिक, सहज भाव नहीं । मेहता-मालती का प्रणय स्वभाव को छोड़ क्रमश: क्लिष्ट अपवाद तथा अद्वितीय विशेष की ओर चला जाता है । इस समाज में एक चीज का निर्वाह नहीं हो सकता, वह है विवाह; क्योंकि विवाह स्वयं एक निर्वाह है ।

खन्ना विवाह करके भी मुक्त भोग के समर्थक हैं; मालती विवाह इसलिए नहीं करती कि विवाह में बन्धन का संकोच है, मैत्री में विकास तथा मुक्ति का प्रसार है, आश्वासन है । मालती मेहता को देवता तक मान लेती है, पर अहं उसका पिण्ड नहीं छोड़ता । मेहता के साथ विवाह-बन्धन में उसकी स्वतंत्रता को कष्ट है । वैराग्य की भावना से यदि यह कहा जाता, अथवा निष्काम कर्मयोगी के लोक-संग्रह की यह बात रहती तो हम समझ भी सकते । यह तो किसी अरस्तू की गीता है जिसमें अनासक्त आसक्ति की आत्मप्रवंचना के लिए काफी गुंजाइश है । सचमुच ही 'कारण से कारज कठिन'; मेहता से मालती कठिन हो गई है ।

युग के तत्त्व:—हाकिम-हुक्कामों के प्रति भय तथा गौरव के भाव, पठानों से भय, तंखा का वकालत छोड़कर दलाली करना, ओंकारनाथ की राष्ट्रीयता तथा यह शिकायत कि लोग संपादक को जेल तो भेजते हैं, लेकिन उसकी कठिनाइयों की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता, मिर्जा साहब की डेमोक्रेसी के प्रति उपेक्षा, मेम्बरी की धुन, स्त्रियों का राजनीतिक जागरण तथा उसके प्रति मेहता की उपेक्षा, खन्ना का खद्दर पहनना तथा फ्रांस की शराब पीना आदि युग के तत्त्व हैं ।

वर्ग के तत्त्व :—यों तो सभी धनसंपन्न अवकाश-भोगी वर्ग के भीतर आते हैं; लेकिन इनमें भी जमींदार, दलाल, सम्पादक, प्रोफेसर, डाक्टर आदि के उपभेद हैं । प्रोफेसर मेहता का प्रोफेसर पति की तरह स्त्रियों के बीच लज्जालु होना; खुर्शेद साहब का कौंसिल में खर्राटे लेना; खन्ना का मजदूरों से अकड़ना, मित्रों से, सभाओं से, शिकार में भी शेयर, सूद आदि की बातें करते रहना, यहाँ तक कि जंगल की जड़ी-बूटी को महात्मा की जड़ी-बूटी कह लोगों से कुछ ऐंठने की बात सोचना; तंखा का एलेक्शन लड़वाना, बाप-बेटे को लड़वाना, विश्वासघात के बाद भी वेहयाई के साथ हुजूर-हुजूर करते आना, जंगली हिरन को इसलिए लादकर चलना कि मिर्जा साहब उनके किसी आयोजन का सभापतित्व स्वीकार कर लें, राय साहब की अपने वर्ग के आश्रितों, संबंधियों, मित्रों आदि की ईर्ष्या एवं कपटाचार के कारण घृणा, असामियों पर जुल्म तथा हाकिमों की गुलामी करने की दोहरी विवशता, इस व्यवस्था की बुराई मानते हुए भी उससे मुक्त होने में असमर्थता. . .तथा उपर्युक्त सभी व्यक्तियों की आमोद-विनोद-आखेट-

प्रियता आदि वर्ग के तत्त्व हैं, जिनके मूल में आर्थिक सुविधा है।

विकल्प के तत्त्व—इसके भीतर ग्रन्थ-सामग्री का वह चर्वित-चर्वण है जिसे प्रेमचन्द जी अपनी शैली के बल पर रुचिकर तो बना देते हैं, पर जिसका लक्ष्य तथा प्रभाव इन सभी श्रीमानों को पाश्चात्य विचारों का पिष्ट-पेषक बनाना ही है। राय साहब तो सिद्धान्तों के पंडित हैं और जमींदारी व्यवस्था के सबसे बड़े निन्दक हैं, लेकिन उनके हाथ पश्चिम का वह सिद्धान्त लग गया है जो कहता है कि व्यवस्था के सामने व्यक्ति क्या कर सकता है, अथवा क्रान्ति में पड़ाव की जरूरत है, 'तू दोषी नहीं, तो तेरा बाप'—भेड़िये ने मेमने से कहा। राय साहब अजीब मेमने हैं, वे कहते हैं, 'मैं दोषी नहीं, मेरा बाप'। उनकी बात मानिए तो होरी और राय साहब दोनों उस आर्थिक वैषम्य के शिकार हैं। मेहता बुद्धि, रूप आदि के आधार पर विषमता की शाश्वत संभावना के समर्थक हैं। कम्युनिज्म के विरुद्ध शतावृत्त आलोचना है यह। राय साहब कम्युनिस्टों की ओर से स्वयं जमींदारी पर आक्रमण करते हैं। वे बुद्धिवाले को अधिकार, नेतृत्व, सम्मान सब कुछ दे देंगे, लेकिन सम्पत्ति नहीं। बिच्छू का डंक तोड़कर रहेंगे। इसी तरह मेहता सामाजिक दृष्टि से विवाह को शिव, लेकिन व्यक्ति की दृष्टि से अशिव, मानते हैं। विवाह के पहले सोच ले, लेकिन विवाह के बाद बंधन-निरपेक्ष हो जाना चाहिए। उनके लिए धन एक साधन है, साध्य नहीं। उसी तरह मेहता की वक्तृता तथा राय साहब की स्वगत-अभिभाषण-सी लगनेवाली बातचीत ग्रन्थ-सामान्य तर्कों एवं युक्तियों से भरी पड़ी है।

इसका एक बड़ा ही मजेदार परिणाम होता है कि सभी सिद्धान्तवादी बनते हैं। मेहता ने शादी नहीं की है तो मुक्त-भोग का सिद्धान्त; शादी कर लेंगे तो उसके लिए समाजवाला सिद्धान्त। मेहता की किताब की पूछ नहीं, तो वे किसी की तारीफ नहीं सुन सकते। विरोध करते हैं, लेकिन सिद्धान्त की आड़ में। खन्ना तेंदुआ से घबराते हैं तो शिकार को पूर्वजों की आदिम बर्बरता का रूप मानते हैं। राय साहब धमकी देते हैं कि उनकी इस कायरता की खबर मालती तक पहुँचा दी जायगी तो कहते हैं, अहिंसावादी होना कोई लज्जा की बात नहीं। मेहता-पठान के भय के मारे सब सटक जाते हैं। और मालती तिरस्कार के शब्द बोलती है तो कहते हैं, प्राण-रक्षा जीव का धर्म है। मारे ईर्ष्या के जब वे मेहता की वक्तृता से जल उठते हैं तो कहते हैं, 'यह मेहता कब का फिलासफर! फिलासफर तो वह है जो फिलासफर हो'! इसमें एक ही साथ सिद्धान्त और पीठाचार्य का दिवाला है। मिर्जा शराब पीते हैं तो इस सिद्धान्त के बल पर कि जब खुदा का एक भी हुक्म नहीं मानते तो दीन के फेर में क्यों पड़ें....आदि आदि।

बात यह है कि समाज जहाँ विडम्बक वीरों की गाथा बन जाता है, वहाँ उत्साह का स्थान वैदग्ध्य और तत्त्व का स्थान उक्ति ले लेती है। अभिनव सिद्धान्तों की उर्वरता

लज्जा के लिए आवरण बुनती जाती है, जिससे आदमी अपनी आँखों को मूँद कर दूसरों की आँखों में धूल झोंकता है।

गप्प, सिद्धान्त-कथन तथा व्यसन-विनोद के इस समाज के प्रति प्रेमचन्द जी की भाव-मुद्रा उपहास की है, जिसमें तिरस्कार का शमन हास्य करता चलता है। ऐसी अवस्था में पात्रों की सम्बन्ध-योजना, प्रतिवाद, वैपरीत्य तथा सामान्य युग्मता (एक ही प्रकृति के रूप-भेद से जोड़े) के आधार पर की गई है। एक-न-एक बहस-मुबाहसा छिड़ा रहता है, दूसरे का प्रतिवाद करता रहता है (जैसे राय साहब के यहाँ धनुष-यज्ञ के पूर्व तथा मेहता के भाषण के समय)। मेहता जब हंस और बाज को लेकर नारीत्व का आदर्श सामने रखते हैं तो खुर्शेद ठीक करते हैं, 'यह तो शायरों की-सी दलीलें हैं। मादा बाज भी उसी तरह शिकार करती है, जैसे नर बाज।' जहाँ इस प्रतिवाद की वैज्ञानिकता हट जाती है और कोई पात्र प्रतिभाव (ईर्ष्या आदि) से जलता भी रहता है तो तो उपहास की बन आती है। जब-जब मेहता कोई बात कहते हैं तो ओंकरनाथ कहते हैं, 'यह बात तो मैं पहले ही कह चुका हूँ।' प्रतिवाद ईर्ष्या-हेतुक होकर जब व्यक्तिगत आक्षेप बन जाता है तो विचार-दारिद्र्य शील को पूर्णतः उपहास्य बना देता है, जैसे मेहता से जलते हुए खन्ना का यह कहना कि 'मेहता फिलासफर नहीं हैं, फिलासफर तो वह है जो फिलासफर हो।' मेहता की किसी बात पर ओंकारनाथ आश्चर्य प्रकट करते हैं तो मेहता कहते हैं 'आश्चर्य अज्ञान का दूसरा नाम है।' फिर मेहता राय साहब से कहते हैं—'आप की जुबान में जितनी बुद्धि है, काश उसकी आधी आपके मस्तिष्क में होती।' यह व्यंग्य-वक्रोक्ति नहीं, अपरोक्ष वैदग्ध्य है।

वैपरीत्य के आधार पर शीलों का विभाजन, त्याग-सहिष्णुता की सती-जैसी मिसेज खन्ना और बहुत समय तक आधुनिक युग की तितली-सी लगनेवाली मालती में हम देख सकते हैं। उस जंगली लड़की की वन-पुष्प-सरलता को गमले के फूल-सी मालती के कृत्रिम हाव-भाव के विपरीत रखते ही मालती, और उसके चलते, शिष्ट-धनिक समाज की औरतों की ईर्ष्या तथा रति की निर्लज्ज वासना का रसातल, सामने आ जाता है। इसी तरह सामान्य-युग्मता के आधार पर तंखा-खन्ना का जोड़ा उदाहरणीय है। दावत में, शिकार में, कबड्डी में, नाटक में, विपत्ति में, अपमानित होकर भी, सदा स्वार्थ के तुच्छ कीट-से ये दोनों सूद, शेयर, एलेक्शन और दलाली में ही लीन रहते हैं। उधर मिर्जा खुर्शेद और मेहता आत्मस्थ, स्वभाव-सापेक्ष, रूढ़ि-निरपेक्ष शील की मौलिक प्रतिपलता के जोड़े हैं। पाठकों को मेहता-पठान, तथा बुड्ढों की कबड्डी की विचित्र प्रेरणा वाले मिर्जा साहब याद होंगे। जब राय साहब, तंखा, खन्ना आदि अपने को मेहता और मिर्जा के बाल-चापल्य से अलग रखते हैं तो मेहता और मिर्जा प्राण के सारे उत्साह के साथ उस क्रीड़ा-समारोह में कूद पड़ते हैं। कबड्डी के दिन तंखा-खन्ना, मेहता-मिर्जा आदि के जोड़े बनाने की जो सिफारिश होती है, वह सार्थक है। शिकार के दिन जोड़ा तो राय साहब और खन्ना का है। दोनों एक दूसरे पर मालती के लिए कमजोरी

तथा तुच्छता के आरोप लगाते हैं। मालती उस पठान के बर्बर स्वास्थ्य पर मन-ही-मन मुग्ध हो जाती है और आगे चलकर वनकन्या के प्रति मेहता के स्नेह को देख उन्हें बर्बर सौन्दर्य के लिए दुर्बलता का दोषी ठहराती है। होरी प्रकृति माता की सुसन्तान की तरह अधेड़ उम्र में भी मेहता के माध्यम से इस शिष्ट समाज की नकली मूँछ उखाड़ लेता है। इसी तरह लोभ की परिस्थिति आने पर, राय साहब की विपत्ति के समय, खन्ना और तंखा की क्रूर स्वार्थ लीला और बेहयाई देखने में आती है।

नगर के इस शिष्ट-समुदाय में राय साहब, मिर्जा खुर्शेद, मेहता, मालती और मिसेज खन्ना शील-निरूपण की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। खन्ना-तंखा उपजीवी प्राणी हैं; शरीर के पिस्सू जैसे। खन्ना दिल के उड़नबाज, लेकिन पत्तल के मक्खीचूस हैं। रसिकता व्यय-उदार होती है. लेकिन खन्ना यथार्थ के छैला हैं। जिस बच्चे की बीमारी असाधारण है, उसके उपचार में व्यय व्यर्थ समझते हैं। स्त्री पर जुल्म करते हैं, मालती पर डोरे डालते हैं, फिर जिस अर्थ के दास हैं, उस पर संकट आने से आँखें खुलती हैं। यह परम्परामुक्त गति-विधि है। इसलिए केवल इन चारों के शील का सार संक्षेप देना उचित है।

राय साहब :—आर्थिक वैषम्य से उच्च वर्ग के व्यक्तियों में एक स्तर-भेद का 'अहं' नहीं बल्कि 'वयं' जागरित होता है, जिसे वर्ग-संबंधी 'आभिजात्य-दंभ' कह सकते हैं। हम धनिक वर्ग के हैं, ऊँचे वर्ग के हैं, यह भावना 'मैं अच्छा हूँ', 'मैं ऊँचा हूँ' इससे भिन्न है; क्योंकि इसमें व्यक्ति को अपने कुल, वर्ग, पंक्ति, समाज की बँधी-बँधाई गौरव-वृत्ति मिल जाती है; परीक्षा के आधार पर छात्रवृत्ति के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। इस तरह व्यक्ति का स्वरूप सामान्याश्रित अथवा आश्रित-सामान्य का हो जाता है। इस 'वयं' का सौंदर्य व्यंग्य-सौंदर्य होता है। हममें से कोई-कोई प्रकृतिदत्त सौंदर्य लेकर जन्म लेते और विकसित होते हैं। शृङ्गारसुन्दर वे होते हैं जो धोबी, नाई दर्जी आदि की शैली के अतिरिक्ततः तथा अपने तत्त्व के न्यूनतः सुन्दर होते हैं। व्यंग्य-सुन्दर वे होते हैं जो हैं तो विद्रूप, लेकिन आभूषण उनके सुन्दर हैं, इसलिए उनके अलंकार उन्हीं के ऊपर व्यंग्य करते हैं। उच्च वर्ग की आर्थिक सुविधाओं में पले रईसों के लिए अपनी योग्यता की तो आवश्यकता नहीं रहती। कार, हैण्डबैग, साहित्य, संगीत की रसिकता (रसज्ञता नहीं), चिकित्सा-विलास (रोग नहीं) आदि के अलंकार देखने को मिलते हैं; इसलिए वे उपहास के पात्र होते हैं। दान, सहानुभूति, धर्म, उदारता—सभी आडम्बर के रूप-भेद हो जाते हैं। लेकिन जो सौंदर्य के पारखी हैं, तटस्थ अथवा बाहर हैं, उन्हें ही ऐसों से घृणा होनी चाहिए। राय साहब तो उन्हीं में से एक हैं, उन्हें ऐसी घृणा क्यों होती है? राय साहब सदा चिढ़े रहते हैं क्यों?

(१) बहुत स्थूल कारण है आय-व्यय के प्रबन्धक की खीझ। फ़ुंसी जहाँ जहरबाद हो जाय, और आएँ तो छोटे सर्जन, मझोले सर्जन, मसीहुजमुल्क, भिषगाचार्य सभी; तो इस खीझ के जो हेतु हैं उनके छिद्र, अन्वेषण के पूर्व यथार्थ से अतिशय दीखते हैं।

(२) दूसरा कारण है व्यवस्था की (क) पापशृङ्खला तथा (ख) आत्यन्तिक व्यर्थता। किसानों पर जुल्म करो, हुक्कामों को डाली लगाओ। यह है पापशृंखला। तुम केवल इस कोठी से उस कोठी पहुँचाने का व्यर्थ श्रम करो। तुम्हारे हाथ कुछ नहीं आया। यह है व्यर्थता। अथवा धन के साथ आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। तुम स्वयं व्यर्थ क्षय की एक नियत-व्यवस्था के निमित्त, साधन अथवा पोषक हो। तुम भोक्ता नहीं, स्वयं भोग्य हो। यह है व्यर्थता।

(३) राग का अर्थ-केन्द्रित हो जाना। सम्पत्ति के साथ प्रेमी, सम्बन्धी बढ़ जाते हैं। उसके ह्रास के साथ पलायन करते हैं। ठाकुरबाड़ी का राग-भोग अथवा मनुष्य-मनुष्य का रागभोग भी अर्थभोग हो जाता है। राय साहब का प्रत्येक धार्मिक त्योहार या प्रत्येक दावत इस बात का साक्षी है। खन्ना, तंखा, तथा चचेरों-फुफेरों का धर्म जानता है इस बात को।

(४) अर्थ के दो पक्ष हैं;—संचय तथा व्यय। दोनों निंद्य हैं। यदि राय साहब शराब नहीं पीते तो कंजूस, पीते हैं तो प्रजा का रक्त। ऐसा न करें तो अरसिक, करें तो विलासांध, कोई मुक्ति-दिशा नहीं।

(५) अशिव का निस्संग भोग : इन बड़ों की ईर्ष्या विशुद्ध आनन्द की चीज है। भाई पिट जाय तो भाई को आनन्द। निसर्गप्रणाश की विचित्रता देखने को यहाँ मिलती है। यह एक प्रकार का देवत्व है जो निस्संग भाव से पराजय-प्रभाव का आनन्द ले सकता है।

(६) और यह सब चलता है शिष्टता की आड़ में। अवकाश है, कुछ करना नहीं। इसलिए वचन तक ही कर्म सीमित है। उक्ति-नागरों का शिष्ट-कथन ईर्ष्या से प्रेरित होकर व्यंग्य, वैदग्ध्य तथा उपचार से व्यक्तिगत आक्षेप का रूप लेता है।

(७) इन बातों से राय साहब जलते रहें तो क्या आश्चर्य ? राय साहब से अधिक प्रलाप करनेवाला 'गोदान' में कोई पात्र नहीं। आपकी साँस टूटती ही नहीं; चाहे होरी हो या मेहता, खन्ना हों या तंखा, सदा वही प्रलाप, जिसमें तथ्य की पुनरावृत्ति होती रहती है। अपने विषय में दूसरों के विषय में राय साहब को नहीं के बराबर कहना है, कहना है केवल वर्ग-निंदा के रूप में। स्थूल कारण ऊपर दे दिए गए हैं। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण यह है—राय साहब उस व्यवस्था की पराकाष्ठा के प्रतीक हैं। विलासिता जब अति को पहुँचती है तो एक रुग्ण परिष्कार हाथ लगता है, और इस तरह आत्मदया, आत्मधिक्कार का आविर्भाव होता है। परिष्कार में बौद्धिक घृणा की अनिवार्यता होती है। यह बौद्धिक घृणा अथवा बौद्धिक रोष पहले दूसरों को मिटाता है, फिर सोचता है, मिटाने का कहीं अन्त नहीं, मिट जाना ही सुगम है। आत्महत्या अथवा मृत्यु की यही वासना राय साहब परिष्कार की रुग्ण चरम सीमा के बाद अपने में पाते हैं। इस व्यवस्था का अन्त हो, एक दिन यह मिटकर रहेगी. आदि उनके सहज अभिशाप हैं, जिनमें वे शान्ति के अन्तिम वरदान की कल्पना करते हैं।

राय साहब का परिष्कार बढ़ते-बढ़ते अपने ही परिष्कार से नफरत करने लगता है।

राय साहब काफी भावुक आदमी हैं। कभी किसी का अहित नहीं करते। वे ठगे जाते हैं, और जानते हैं। उनका बेटा स्वच्छन्दता का व्यंग्य बनकर उन्हीं के भाग्य का परिहास करता है। व्यवस्था में बँधी विवशता की हालत में अपवाद-प्रलाप से उनके पाप का, रोष का, रेचन होता चलता है। वे उस व्यवस्था का भोग करते हैं। उसकी निन्दा भी करते हैं, मगर उसे छोड़ नहीं सकते। सामान्य की निंदा कर, व्यक्ति अपने को पाप-मुक्त समझता है। Virginia Woolf के अनुसार यह बलि-प्रायश्चित्त (Scapegoat Satisfaction) है। राय साहब बोलते हैं तो रुकते नहीं। कहते हैं 'पिट जाएँ तो सभी भाई हँसेंगे, बगलें बजाएँगे, मानों सारे संसार की सम्पदा मिल गई है। सर्जनों की चर्चा होती है तो छोटे सर्जन, बड़े सर्जन, मसीहुलमुल्क, भिषगाचार्य आदि सभी आ जाते हैं, यहाँ तक कि 'मझोले सर्जन,' भी आ जाते हैं।

ये मझोले सर्जन प्रेमचन्द जी की बला हैं। 'दिल खोलकर', 'तालियाँ बजाकर', 'घी के चिराग जलाना', हँसने के साथ-साथ 'बगलें बजाना', 'नाम बड़े, दर्शन थोड़े' होना आदि मुहावरों की इतनी भरमार है कि लगता है परिस्थिति-निबद्ध पात्र नहीं, बल्कि पात्र के व्याज से प्रेमचन्द जी बोल रहे हों। राय साहब की भाषा में जो जलता है, 'जौ-जौ', 'अंगुल-अंगुल' और 'पोर-पोर' भस्म होता है, इससे कम नहीं।

होरी किसान से उनकी बातचीत का एक नमूना देखिए :—'जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद न आती हो, जिसके दुःख पर सब हँसें, और रोनेवाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे में अपने को बिल्कुल भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों के खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कह सकता।' ठीक यही दीर्घ प्राणायाम-शैली धनुषयज्ञ के पहलेवाली बातचीत की है।

सम्पादक ओंकारनाथ के यहाँ भी यही हालत है :—'पत्र के पँचगुना चंदा देते हैं, तो सम्पादक को रियायत करनी होगी। सम्पादक विदेशी वस्तुओं का विज्ञापन छापते हैं, तो राय साहब तावान-जुर्माना क्यों नहीं लेंगे? रईसों को भी तो मर्यादा का पालन करना होता है। डालियाँ, जीवन-बीमा इत्र, तम्बाकू, चन्देवालों की प्रतिष्ठा निभानी होती है।' राय साहब आवृत्ति या गोष्ठी-शैली के ग्रामोफोन हैं। फिर राय साहत अपने ही लड़के के कच्चे वयः-सन्धीय आदर्शवाद तथा अपनी प्रतिष्ठा की रूढ़ियों के मोह के बीच अपमानित होकर एक ओर सारी व्यवस्था की न्याय-हिंसा के शिकार होते हैं, दूसरी ओर उपहास के साथ एक हल्की सहानुभूति अर्जित करते हैं।

मिर्जा:—इनके शील का मर्म जीवन की विनोदस्वीकृति, केवल वर्त्तमान के भोग, तथा रूढ़ि-निरपेक्ष प्रेरणाओं की प्रातिभ अभिव्यक्ति में है। औरों की तरह मिर्जा साहब भी धन के निरापद अवकाश के ही लीलाविहारी हैं। नियति इनके साथ खिलवाड़ करती है। वे भी इससे खिलवाड़ करते हैं। मेम से आशनाई हो गई। रुपए लेकर भागे तो एजेंटों ने

छकाया। फिर महात्मा जी ने अँगूठी और रुपये एंठ लिये। फिर जूते की दूकान खोली। कौंसिल में थे। अक्सर खर्राटे लेते, बोलते तो खिलाफत करनेवालों की नानी मर जाती। राय साहब की महफिल में मिर्जा साहब के कारण एक शायराना समाँ रहता है। ओंकारनाथ को छकाने के लिए मालती जब फीस माँगती है, उस समय की आपकी स्पीच स्मित हास्य का अनुपम उदाहरण है:—

"आज आप सभी साहबों की जवाँमर्दी और हुस्नपरस्ती का इम्तहान है। जिसके पास जो कुछ हो, सच्चे सूरमा की तरह निकाल कर रख दें। आपको इल्म की कसम, माशूक की अदाओं की कसम, अपनी इज्जत की कसम, पीछे कदम न हटाएँ। रुपये खर्च हो जाएँगे, नाम हमेशा के लिए रह जाएगा।"

मिर्जा साहब स्वभाव से ही विनोदशील हैं। आपमें विदग्धता जितनी नहीं, उतना हृदय का मुक्तक है। हृदय का यह मुक्तक वाणी में अपना प्रकृत आनन्द नहीं दिखाता, बल्कि प्रेरणाओं तथा संकल्पों के मूर्त्त विधान में दिखाता है। मिर्जा साहब इतने शिष्ट नहीं कि उनमें रास-निर्मुण्ड शृङ्गार-गन्धर्वों का हतवीर्य लालित्यमात्र हो। वे सीधे जंगलों में बिना हाँड़ी-पत्तल के हिरन भुनकर खाने का कार्यक्रम बनाते हैं। काम पड़ता है तंखा जैसे स्वार्थ-कुटनी से, कौंसिल, डेमोक्रेसी, सदस्यता, सभापतित्व आदि की छाया-संज्ञा के प्रति उन्हें तनिक भी मोह नहीं। वे तो जंगल के जीवन तथा भयानक की चुनौती की अनुभूतियों में डूब-से गये हैं। हिरन मारते हैं तो उत्साह के साथ। उसके मर जाने पर करुणा से उनका हृदय भर जाता है। फिर इसे भी भूल जाते हैं, और ग्रामीणों को देख उन्हें खिलाने, उनके साथ खाने की कल्पना दया की तूलिका ले लेती है, और हिरन की हिंसा भूल कर दिहाती के साथ आनन्द-मग्न हो चल देते हैं।

उनके जीवन में मौलिक भाव है उल्लास। यह विनोद की, मनोरंजन की, भोग की शैली तो ले लेता है, लेकिन है जीवन की प्रतिपल सुलभ्यता के प्रति स्वागत का भाव। इस उल्लास के भोग और प्रयास-पक्ष दोनों देखने को मिलते हैं। मिर्जा के उल्लास-प्राण व्यक्तित्व को बल मिलता है भूत की विस्मृति से, भागते हिरन को मारा उत्साह से—एक वर्त्तमान, घायल हिरन को देख डबडबा जाते हैं—; दूसरा वर्त्तमान। पहला वर्त्तमान अब भूत हुआ उसे भूल गए। फिर दीन किसान को देख दया तथा बन्धुत्व उमड़ आता है और उसके साथ चल देते हैं—तीसरा वर्त्तमान, करुणावाला दूसरा वर्त्तमान भी अब भूल गए। फिर बल मिलता है भविष्य के प्रति निश्चिन्तता से। रुपए आए गए; कुछ न सही तो कबड्डी ही सही, मेम्बरी का क्या भविष्य होगा, कोई परवाह नहीं।

मिर्जा साहब शिशु-लीला के कवि-शिल्पी हैं। हिरन को खुद ढोते हैं—उस ग्रामीण के भुज-बल की चुनौती से बड़ी ही रुचिकर चिढ़ के कारण। साथ-साथ तंखा को स्वार्थ का सब्जबाग दिखा, कुली का लघुकर्म कराने का उपहास-सुख भोगते हैं, फिर ढोल, मजीरे, शराब, कबाब,

राय साहब काफी भावुक आदमी हैं। कभी किसी का अहित नहीं करते। वे ठगे जाते हैं, और जानते हैं। उनका बेटा स्वच्छन्दता का व्यंग्य बनकर उन्हीं के भाग्य का परिहास करता है। व्यवस्था में बँधी विवशता की हालत में अपवाद-प्रलाप से उनके पाप का, रोष का, रेचन होता चलता है। वे उस व्यवस्था का भोग करते हैं। उसकी निन्दा भी करते हैं, मगर उसे छोड़ नहीं सकते। सामान्य की निंदा कर, व्यक्ति अपने को पाप-मुक्त समझता है। Virginia Woolf के अनुसार यह बलि-प्रायश्चित्त (Scapegoat Satisfaction) है। राय साहब बोलते हैं तो रुकते नहीं। कहते हैं 'पिट जाएँ तो सभी भाई हँसेंगे, बगलें बजाएँगे, मानों सारे संसार की सम्पदा मिल गई है। सर्जनों की चर्चा होती है तो छोटे सर्जन, बड़े सर्जन, मसीहुलमुल्क, भिषगाचार्य आदि सभी आ जाते हैं, यहाँ तक कि 'मझोले सर्जन,' भी आ जाते हैं।

ये मझोले सर्जन प्रेमचन्द जी की बला है। 'दिल खोलकर', 'तालियाँ बजाकर', 'घी के चिराग जलाना', हँसने के साथ-साथ 'बगलें बजाना', 'नाम बड़े, दर्शन थोड़े' होना आदि मुहावरों की इतनी भरमार है कि लगता है परिस्थिति-निबद्ध पात्र नहीं, बल्कि पात्र के व्याज से प्रेमचन्द जी बोल रहे हों। राय साहब की भाषा में जो जलता है, 'जौ-जौ', 'अंगुल-अंगुल' और 'पोर-पोर' भस्म होता है, इससे कम नहीं।

होरी किसान से उनकी बातचीत का एक नमूना देखिए :—'जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद न आती हो, जिसके दुःख पर सब हँसें, और रोनेवाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैरों के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे में अपने को बिल्कुल भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों के खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कह सकता।' ठीक यही दीर्घ प्राणायाम-शैली धनुषयज्ञ के पहलेवाली बातचीत की है।

सम्पादक ओंकारनाथ के यहाँ भी यही हालत है :—'पत्र के पँचगुना चंदा देते हैं, तो सम्पादक को रियायत करनी होगी। सम्पादक विदेशी वस्तुओं का विज्ञापन छापते हैं, तो राय साहब तावान-जुर्माना क्यों नहीं लेंगे ? रईसों को भी तो मर्यादा का पालन करना होता है। डालियाँ, जीवन-बीमा, इत्र, तम्बाकू, चन्देवालों की प्रतिष्ठा निभानी होती है।' राय साहब आवृत्ति या गोष्ठी-शैली के ग्रामोफोन हैं। फिर राय साहत अपने ही लड़के के कच्चे वयः-सन्धीय आदर्शवाद तथा अपनी प्रतिष्ठा की रूढ़ियों के मोह के बीच अपमानित होकर एक ओर सारी व्यवस्था की न्याय-हिंसा के शिकार होते हैं, दूसरी ओर उपहास के साथ एक हल्की सहानुभूति अर्जित करते हैं।

मिर्जा:—इनके शील का मर्म जीवन की विनोदस्वीकृति, केवल वर्त्तमान के भोग, तथा रूढ़ि-निरपेक्ष प्रेरणाओं की प्रातिभ अभिव्यक्ति में है। औरों की तरह मिर्जा साहब भी धन के निरापद अवकाश के ही लीलाविहारी हैं। नियति इनके साथ खिलवाड़ करती है। वे भी इससे खिलवाड़ करते हैं। मेम से आशनाई हो गई। रुपए लेकर भागे तो एजेंटों ने

छकाया। फिर महात्मा जी ने अँगूठी और रुपये एंठ लिये। फिर जूते की दूकान खोली। कौंसिल में थे। अक्सर खर्राटे लेते, बोलते तो खिलाफत करनेवालों की नानी मर जाती। राय साहब की महफिल में मिर्जा साहब के कारण एक शायराना समाँ रहता है। ओंकारनाथ को छकाने के लिए मालती जब फीस माँगती है, उस समय की आपकी स्पीच स्मित हास्य का अनुपम उदाहरण है :—

"आज आप सभी साहबों की जवाँमर्दी और हुस्नपरस्ती का इम्तहान है। जिसके पास जो कुछ हो, सच्चे सूरमा की तरह निकाल कर रख दें। आपको इल्म की कसम, माशूक की अदाओं की कसम, अपनी इज्जत की कसम, पीछे कदम न हटाएँ। रुपये खर्च हो जाएँगे, नाम हमेशा के लिए रह जाएगा।"

मिर्जा साहब स्वभाव से ही विनोदशील हैं। आपमें विदग्धता जितनी नहीं, उतना हृदय का मुक्तक है। हृदय का यह मुक्तक वाणी में अपना प्रकृत आनन्द नहीं दिखाता, बल्कि प्रेरणाओं तथा संकल्पों के मूर्त्त विधान में दिखाता है। मिर्जा साहब इतने शिष्ट नहीं कि उनमें रास-निर्मुण्ड शृङ्गार-गन्धर्वों का हतवीर्य लालित्यमात्र हो। वे सीधे जंगलों में बिना हाँड़ी-पत्तल के हिरन भुनकर खाने का कार्यक्रम बनाते हैं। काम पड़ता है तंखा जैसे स्वार्थ-कुटनी से, कौंसिल, डेमोक्रेसी, सदस्यता, सभापतित्व आदि की छाया-संज्ञा के प्रति उन्हें तनिक भी मोह नहीं। वे तो जंगल के जीवन तथा भयानक की चुनौती की अनुभूतियों में डूब-से गये हैं। हिरन मारते हैं तो उत्साह के साथ। उसके मर जाने पर करुणा से उनका हृदय भर जाता है। फिर इसे भी भूल जाते हैं, और ग्रामीणों को देख उन्हें खिलाने, उनके साथ खाने की कल्पना दया की तूलिका ले लेती है, और हिरन की हिंसा भूल कर दिहाती के साथ आनन्द-मग्न हो चल देते हैं।

उनके जीवन में मौलिक भाव है उल्लास। यह विनोद की, मनोरंजन की, भोग की शैली तो ले लेता है, लेकिन है जीवन की प्रतिपल सुलभ्यता के प्रति स्वागत का भाव। इस उल्लास के भोग और प्रयास-पक्ष दोनों देखने को मिलते हैं। मिर्जा के उल्लास-प्राण व्यक्तित्व को बल मिलता है भूत की विस्मृति से, भागते हिरन को मारा उत्साह से—एक वर्त्तमान, घायल हिरन को देख डबडबा जाते हैं–; दूसरा वर्त्तमान। पहला वर्त्तमान अब भूत हुआ उसे भूल गए। फिर दीन किसान को देख दया तथा बन्धुत्व उमड़ आता है और उसके साथ चल देते हैं—तीसरा वर्त्तमान, करुणावाला दूसरा वर्त्तमान भी अब भूल गए। फिर बल मिलता है भविष्य के प्रति निश्चिन्तता से। रुपए आए गए; कुछ न सही तो कबड्डी ही सही, मेम्बरी का क्या भविष्य होगा, कोई परवाह नहीं।

मिर्जा साहब शिशु-लीला के कवि-शिल्पी हैं। हिरन को खुद ढोते हैं—उस ग्रामीण के भुज-बल की चुनौती से बड़ी ही रुचिकर चिढ़ के कारण। साथ-साथ तंखा को स्वार्थ का सब्जबाग दिखा, कुली का लघुकर्म कराने का उपहास-सुख भोगते हैं, फिर ढोल, मजीरे, शराब, कबाब,

लड़कों, वृद्धों के आनंद-समारोह में घुल-मिलकर और केवल वर्त्तमान की अखण्ड एकरस अनुभूति में विभोर हो जाते हैं। उस मण्डली में मिर्जा साहब एक आदमी है जो जीवन का रस लेते हैं, जीवन का भाव-भोग भले ही कोई करे। मिर्जा जीवन के कविनिबद्ध आश्रय नहीं जो भाव-भोग करता है, कवि-आश्रय अथवा प्रेक्षक-आश्रय है जो रसानंद लेता है। विचित्रता तो यह है कि मिर्जा साहब स्वयं उसमें भाग लेते हैं, उससे तटस्थ नहीं रहते; लेकिन उनकी तदाकृति कुछ ऐसी सहज है कि और लोग जहाँ भाव तक पहुँचते हैं, वहाँ वे रसमग्न हो जाते हैं। मिर्जा साहब का जीवन एक नाटक मालूम होता है, और वे इसके नाटककार—अभिनेता दोनों हैं। अपने को ही अभिनेता के रूप में रखकर अपना ही पर-प्रत्यक्ष करना उनके निसर्ग का मूल है। वे मजदूरों के नेता भी बनते हैं तो किसी पेशेवर राजनीतिक नेता की तरह नहीं। वे राजनीति के स्वान्तः सुखाय कलाकार हैं, व्यवसायी नहीं। वृद्धों की कबड्डी उनकी एक कल्पना है, जिसमें उनका संजीवित उल्लास-दर्शन तथा उनकी प्राण-व्यंजना समाई हुई है। मेहता साहब से जो उनकी जोड़ी ठीक होती है, तथा अर्थ-गन्धर्वों और प्रतिष्ठा-पंथियों की टोली जो टिकट खरीद कर भी रोकड़ की गपें करती है, बड़ी ही सार्थक है।

मेहता :—में भी प्रकृति के प्रति प्रेम (वनकन्या तथा वनसुषमा के प्रति आदर्श राग) है। वे भी बर्बर-नग्न पवित्रता, मत्स्य-मांसल स्वास्थ्य तथा खरी आत्मनिष्ठा के बड़े ही दुर्लभ समन्वय हैं। मेहता-पठान दृश्य कौन भूल सकता है? अफरीदियों के जिर्गे का वह आगा, अपनी निर्भीकता, बोली, जशन, शैली के प्रति प्रेम, तथा 'तुम हमारे साथ चलेगा दिलदार?' वाली शैली के लिए सदा याद रहेगा। मेहता बुद्धि के विप्र-वैश्य वैषम्य को अमर मानते हैं और निर्भीकता के साथ मानते हैं। वे प्रेम को वासना तथा विवाह को आत्म समर्पण कहते है। व्यक्ति की दृष्टि से एक का, समाज की दृष्टि से दूसरे का समर्थन करते है। वे जानते हैं कि मुक्ति सभी चाहते हैं, पर लोभ से बिरले ही बचते है। वे बुद्धि के साफ-सुलझे स्याद्वादी तथा हृदय के स्पष्टवादी हैं। मेहता नारी का चरम उत्कर्ष माता के रूप में, त्याग और सहिष्णुता की देवी के रूप में देखते हैं। श्रीमती खन्ना को वे इष्टदेवी मानते हैं। मिर्जा के साथ वृद्धों की कबड्डी में मेहता कूद पड़ते हैं, लेकिन उनका भावोल्लास भी संस्कृति-गर्भित होने के कारण सायास विरोध जैसा लगता है। मिसेज खन्ना के प्रति मेहता के प्रतिमा-भाव में मालती की चंचलता के प्रति युग की नारियों की उच्छृंखलता के प्रति कितनी घृणा है, कहना कठिन है। मिर्जा गोबर से भी दो पैसे माँगने की असहायता में पड़ जाते हैं, मगर है वही उल्लास। मेहता सभी तर्कों से काम लेने पर भी मिसेज खन्ना को लेकर, नारियों को लेकर, रूपक-बहुल भावुकता से रँगे रहते हैं लेकिन मिर्जा साहब का कोई जोश ऐसा नहीं जिसमें वे फेन फेंकते हों। मेहता में बुद्धि का वैभव, वक्रता तथा वर्ग की सामान्यता लिपटी रहती है। मिर्जा साहब यदि दिहात के बूढ़े होते तो अनपढ़ बाल, युवक

अथवा वृद्धों के सरल प्राकृतिक भोंड़े जीवन में भी रसलीला की उर्वरसरणियों से प्राण-संजीवनी फूँकते ही रहते ।

मालती :—मालती निस्संकोच मेक-अप की हावनिपुण अर्वाचीन नारी से प्रायः वीतराग, आदर्शवादी समाज-सेविका हो जाती है । यह परिवर्त्तन ध्रुव-चुम्बी दीखता है । प्रश्न है कि यह पिठर-पाक विकास के सिद्धान्त से मेल खाता है या नहीं ?

मालती के आते ही विमान-विहार का वातावरण छा जाता है । खन्ना की पार्श्व-लोलुपता से वह और भी कुछ हुस्न की परी-सी हो जाती है, वह भरी सभा में ओंकारनाथ को अपने रूप-जाल में फाँसने की फीस माँगती है, और अफरीदी के हाथों अपने सतीत्व को खतरे में देकर भी फीस छोड़ने के लिए तैयार नहीं है । पाठान के बर्बर पुरुषार्थ को देख उसकी रति-वासना को एक गूढ़-रसातल तृप्ति होती है । पुरुषों पर रूप का मोह-जाल फेंक उनसे अतिरिक्त शुल्क पाना—यही उसकी जीवन-शैली का लक्ष्य दीखता है ।

खन्ना दुमहिलानेवाले कुत्ते हैं । पुरुष की अतिशयता, बर्बर निरपेक्षता को स्त्री बहुमान देती है । पीछा करनेवाला और भगाता या पकड़ पाता है लेकिन शायद ही पाता है । यहां खन्ना की हालत होनी है । मेहता की आत्मस्थता, शिष्ट वक्रता एवं वैदग्ध्य के साथ पुष्ट माड़ों का दृढ़ पुरुषार्थ तथा नारी जाति के प्रति एक त्यागमूर्त्ति माता की भावना शनैः-शनैः मालती के भीतर घर करने लगती है । मालती के शील-विकास का प्रथम अध्याय पाश्चात्य उच्छृंखलता की शृङ्गार-संस्कृति का है । लेकिन बीज रूप से ही सही, यह बात स्पष्ट दीख जाती है कि मालती, खन्ना, तन्खा, राय साहब की मण्डली में रहती तो है, लेकिन वह उनका उपयोग करती है, उनकी पकड़ में नहीं है । वह ऊपर-ही-ऊपर तैरती है । हाव के पीछे भाव नहीं मालूम होता । ओंकारनाथ को मूर्ख बनाती है, खन्ना को उल्लू बनाती है, उन सबके पुरुषार्थ पर दया करती है, लेकिन सबको मूर्ख बनानेवाले मेहता से उसका स्वभाव-साम्य है । मालती रुपए के फेर में है, रुपएवालों के मोह में अथवा अधिकार में नहीं । लेकिन यहाँ है सबकी, कम-से-कम सबके साथ ।

शिकारवाले दिन उसका यह विकास, सबसे हटकर, मेहता की ओर, अनन्य आसक्ति के रूप में, हो जाता है । सामान्य वातावरण से विशेष व्यक्ति की ओर राग की यह पहली गति है । यहाँ हाव के पीछे भाव है । यह प्रेम ईर्ष्या, उत्तेजना तथा कलह का रूप धारण करता है । 'तुम हमारे साथ चलेगा दिलदार ?' की याद दिलाई जाती है । 'तुम बड़े निर्दयी हो, क्या मुझे छोड़ कर चले जाओगे ?' 'मैं शिकार खेलने नहीं आयी थी', 'मत जाओ नहीं तो इस चट्टान पर सिर पटक दूँगी', 'मैंने तुम्हारे जैसा बेदर्द आदमी कभी न देखा था, बिलकुल पत्थर हो । खैर आज सता लो, जितना सताते बने, मैं भी कभी समझूँगी' आदि की गूढ़ उत्तेजनाओं और संकेतों से मालती के हृदय का पता मेहता को भी है । मेहता तो रमणी के अन्तस्तल तक पहुँच जानेवाले हैं, फिर उन्हें रमणी से अरुचि

हो जायगी। मालती काँप उठती है। भयानक निष्ठुर तथा निर्मोही के प्रति किसी कोमल रमणी का आकर्षण एक विचित्र पहेली है। प्रेम की गति प्रिय की ओर है। भय की गति भयानक से भागने की है। भयानक को वश में कर लेने में काम से अधिक अधिकार तथा काम के सहित अधिकार की वासना तृप्त होती है। इसलिए मालती दाँत पीस-पीसकर पीछे पड़ती है। वनकन्या को आबनूस का कुंदा कहना, उस पर बिगड़ना, कोड़े की धमकी देना और अपमानित होना, फिर मेहता की बर्बरता के प्रति राग के लिए जली-कटी सुनाना आदि ईर्ष्या के जलते इंधन का द्योतक है। लेकिन मेहता मालती के भीतर प्रवेश कर गये हैं और धीरे-धीरे तदाकार होने की वासना मालती के मन में घर करेगी, ऐसी आशा संदर्भ-विनूढ़ नहीं मालूम होती। वासना इसलिए कि मेहता के अनुकूल बनकर, उनके आदर्शों, आकांक्षाओं की मूर्त्ति बनकर ही मालती उन्हें पा सकती है। मेहता के शील का अर्थ मालती इसलिए हृदयङ्गम करेगी कि उसे मेहता को पाना है। अभी भी लक्ष्य है मेहता को ही पाना, मेहता के आदर्शों की साधना तो एक साधनमात्र है।

'जो मन पर हो वही मुख पर हो. . . .रूप, रंग, हाव का मूल्य बस इतना ही है. . . .मैं वह भोजन चाहता हूँ, जिससे आत्मा को तृप्ति हो। उत्तेजक और शोषक पदार्थों की मुझे जरूरत नहीं'—मेहता का यह भेद मालती के शील-विकास के दूसरे अध्याय की सिद्धान्त-तालिका बन जाता है।

मालती के शील-विकास का तीसरा अध्याय मेहता को पाने के प्रयास में लक्षित होता है। खन्ना की ईर्ष्या मालती के इस विकास का संकेत करती है। कबड्डीवाले दिन मालती का मिर्जा साहब पर बिगड़ना, खन्ना को जली-कटी सुनाना तथा मेहता की रक्षा और विजय के लिए आतुर हो जाना, मेहता के प्रति मालती के प्रेम की अधीरता और सहज व्याप्ति को दिखलाता है। धीरे-धीरे यह भी पता चलता है कि मालती बाहर से तितली है भीतर से मधुमक्खी। उसके पिता अपव्ययी, व्यसनी हैं। घर के सारे भार का वहन वह वीरतापूर्वक करती है, और अमीर दिलफेंक यारों को नाज-नखरे से अधिक कुछ नहीं मिल पाता। मालती स्त्रियों की स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक जागरण में विश्वास करती है, लेकिन मेहता के व्याख्यान की उच्च आदर्श-भावना से विमुग्ध मूक हो जाती है।

मालती को मिसेज खन्ना की ईर्ष्या से चिढ़ है। इसलिए शायद उन्हें जलने देने में वह निष्ठुर-सी हो गई है। लेकिन शृंगार की चपलता मेहता के संसर्ग से कुछ कम होती है। खन्ना का रंग शील के उस कच्चे घड़े पर से मिटने लगता है और मेहता की कड़ी आँच में घड़ा पकने लगता है।

फिर कुछ बात हो जाती है। मेहता कह बैठते हैं—'प्रेम एक खूँख्वार शेर है।' यदि उनकी स्त्री दूसरे से प्रेम करने लगे तो वे उनका गला घोंट देंगे; अथवा मेहता ही यदि खन्ना होते तो मालती को गोली मार देते। मालती काँप जाती है। लेकिन जितना यह

आघात नहीं उतना मेहता के साथ रहते-रहते उनकी जीवन-शैली के प्रति मोह काम करने लगता है ।

मालती प्रेम से धीरे-धीरे स्नेह की ओर बढ़ती है । मेहता को अपने यहाँ रखकर ऋणमुक्त करती है, उनके आय-व्यय का बजट ठीक करती है । वात्सल्य तथा सख्य का यह भाव अनुकम्पा और छोह के मिश्रण जैसा लगता है । मेहता मालती के अवचेतन को बच्चे-से लगते हैं । मेहता के कपड़ों, पैसों, किताबों का हिसाब नहीं, ठिकाना नहीं, इसलिए मालती धीरे-धीरे गोबर के लड़के, फिर गाँव के लड़कों की सेवा सुश्रूषा करती है । उसका जीवन कर्म-संकुल हो रहा है । वह खट रही है । मालती के भीतर छिपी माता जन्म ले रही है ।

इसका सुख, (मेहता के नारी-दर्शन का सौन्दर्य) कुछ ऐसा है कि मालती व्यक्ति-विशेष से बढ़ते-बढ़ते सामान्य-अरूप की ओर बढ़ जाती है । स्नेहमयी मालती अब सबकी हो गई है, लेकिन मेहता की होकर ही । अब वह पत्नी नहीं हो सकती, मित्र बनकर रहेगी । मेहता पहले दार्शनिक है, अन्त में कवि हो जाते हैं, और मुक्तकगीतों की भाषा के लुब्ध मधुप बन मालती के सामने भाव-गुंजार करते हैं । लेकिन उनकी बनाई मालती उन्हीं को पाने के लिए, जो उन्हें पसन्द है, वही हो जाती है, उनकी अपनी नहीं हो सकती । लगता है जैसे किसी सती ने शिव को वर के रूप में पाने के लिए तपस्या की हो, और हाय शिव की समाधि लग गई हो ! मालती को मेहता शिव के रूप नहीं शिव-तत्त्व अथवा शिव-समाधि के रूप में मिलते हैं । इस मालती के जितने अध्याय हो पाते हैं, सभी पहचाने हैं । भोक्तृत्व, कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व पक्ष अलग-अलग बदलते जाते हैं ।

एक बात तो जरूर है कि मालती के शील का अन्त नाटकीय हो जाता है—स्थूल से सूक्ष्म हो जाता है, हार्दिक से बौद्धिक हो जाता है । मालती जो कभी किसी की नहीं हुई, साथ सबके रही, आज भी मेहता के साथ है, लेकिन मेहता की भी वह नहीं हुई जो खन्ना अपने लिए मालती को देखना चाहते थे ।

मालती का लोकसंग्रह मेहता के लिए वासना का ही उन्नयन है । प्रेम के लिए छुट्टी प्रकृति देती है, परन्तु विवाह तो जैसे वर्जित है । मालती की स्वतन्त्रता इससे सीमित होगी—स्वतन्त्रता का यह निस्संग संगवाद सामंजस्य का नहीं, बौद्धिक वानप्रस्थ का है । मेहता पर पूरा भाग्य का व्यंग्य पड़ता है । पण्डित जी के बताये कृष्ण नाम से ग्वालिन भरी यमुना पार कर गयी, और पण्डित जी उसीमें रह गये । मेहता और मालती की शादी होने पर भी सेवा-कर्म में कैसे बट्टा पड़ता (जब गोबर के बच्चे की सेवा करते हैं), समझ में नहीं आता । अन्त में तो दोनों एक दूसरे को पहचान गए हैं । अचानक मालती का यह फैसला कर बैठना कुछ नाटकीयता तो लाता है लेकिन कारण से कठिनतर कार्य के रूप में ही । सन्तोष की बात है कि शील-विकास आदि मध्य चरम में पिठरपाक-सम्मत है ।

बेलारी और सेमरी, दो गाँवों की कथा की क्या आवश्यकता थी ? होता यह है कि बेलारी करुण रस का काव्य-तीर्थ हो जाता है और स्वतन्त्र रूप से सेमरी उपहास का प्रहसन मंच बना रहता है । नायक होरी के जीवन अथवा शील में प्रत्यक्ष रूप से राय साहब या उनके गोष्ठी-सखा कोई योग नहीं देते । करुण रस के साथ स्नेहन हास (Humour) ही मिल सकता है, उपहास नहीं । उपहास (Satire) की शील-योजना तथा घटनायें एक स्वतन्त्र, क्षोभ-केन्द्र बना देती हैं । यदि राय साहब को बेलारी में ही रखा जाता और उनके आर्थिक स्वामित्व के आघातों से होरी के जीवन की निर्मम वेदना बढ़ाई जाती, तो सम्बन्ध गुणमूलक हो सकता । ऐसा न करने से सम्बन्ध केवल परिमाणमूलक अथवा योगमूलक हो पाता है । सेमरी और बेलारी मिलकर एक योगफल (Total) बनाते हैं, अन्विति (Whole) नहीं । योगफल तथा अन्विति का भेद यों समझा जा सकता है : अन्विति में योगफल का मात्रामूलक समावेश होता है, लेकिन इसके अतिरिक्त उसका एक स्वाद, रस, गुण भी हो जाता है जो प्रत्येक अंग में व्याप्त हो जाता है और फिर भी किसी प्रान्त में पृथक् नहीं किया जा सकता । योगफल में ३+७+८=१८ होता है । इसमें से यदि आप चाहें तो ७ निकाल लें । योगफल ११ हो जाता है, कम हो जाता है, जो था वह रह नहीं पाता; लेकिन ७ जो उसका भाग है, उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता । अन्विति के भाग या अंश नहीं होते, अंग होते हैं । अंग को पृथक् कर दीजिए, हृदय को शरीर से, तो दोनों विनष्ट हो जाते है । अंगी से पृथक् अंग की सत्ता नहीं । इस दृष्टि से यदि बेलारी और सेमरी को अलग कर दें तो दोनों का स्वतन्त्र मूल्य रह जाता है ।

केवल सेमरीवालों का जीवन दिखा देने से, धन-अवकाश-संपन्न, तथाकथित शिष्ट समाज की निस्सारता की प्रतीति हो जाती है, साथ ही मेहता मालती को लेकर शिव-मूल्यों की स्थापना भी । यदि आर्थिक व्यवस्था के कारण गौ की लालसावाले किसान की पराजय ही दिखानी थी तो जो बेलारी में हो पाता है, और जैसे हो पाता है. वह काफी है । सेमरी अथवा सेमरी के समाज में हम होरी, धनिया, झुनिया, सोना, सिल्लो आदि को सदा भूले रहते हैं, क्योंकि तंखा, खन्ना, मालती, मेहता, मिर्जा, राय साहब की दुनिया अपने में तनी पर्याप्त है कि अन्यत्र ध्यान ही नहीं जाता ।

केवल होरी को बुलाकर राय साहब के एक लम्बे व्याख्यान दे देने, होरी के मेहता के ऊपर चढ़ बैठने, वनकन्या तथा मालती का सामना करा देने, ठगने की नीयत से तंखा के जड़ी-बूटियों से खरीद लेने, गोबर के शहर आ जाने, मालती के शहरी सुधारिका के रूप में कभी-कभी गाँव में चले जाने और सुधार की कुछ बातें कह देने, तथा मिर्जा साहब के दिहातियों में एक दिन मिल जाने से शील-सम्बन्ध दैवात् तथा बलात् निरूपित मालूम होता है ।

होरी के करुण-आलम्बनत्व को ये शहरवाले पात्र अपने क्षयकारी कुकृत्यों के द्वारा ही उद्दीपन-योग दे सकते थे । ऐसा नहीं करने से, बेलारी में जो पिता-पुत्र, पति-पत्नी, प्रेमी

प्रेमिका, भाई-भाई, बहन-बहन के दृश्य देखने को मिलते हैं, उनसे सरल जीवन में पले लोगों के निसर्गजात शील सामने आ जाते हैं, लेकिन आर्थिक भेद और तज्जन्य शिक्षा-संस्कृति के कारण इन सभी से स्वतन्त्र राय साहब और उनके समाज का शील बन जाता है। कहीं-कहीं हल्के ढंग से दोनों समाजों की विपरीतता देखने को मिलती है, जैसे होरी, का साहस और श्रीमानों की कायरता, मालती की वासना और वनकन्या का निश्छल प्रेम अथवा शहर में आने पर गोबर का भी इतना अर्थ-परायण हो जाना कि मिर्जा साहब को दो रुपये के लिए नहीं कह देना। अन्तर्भाव की दृष्टि से देखिए तो बेलारी के होरी के प्रति जो करुणा होती है, उसको लेकर अनिष्टकारी के रूप में राय साहब के प्रति रोष नहीं हो पाता। वे तो स्वयं दयनीय तथा विवश हैं तथा उनके समाजवाले उपहास के पात्र होते है, मात्र-घृणा के अथवा क्रोध के नहीं। बेलारी और सेमरी एक ही पत्र के दो पृष्ठ नहीं, दो स्वतन्त्र पत्र हो जाते हैं। जो आर्थिक व्यवस्था अपना काम कर रही है वह सगुन, दलाली के कमीशन आदि के रूप में शहर में, तथा महाजनों और पटवारी की एक-आध हल्की-फुल्की वसूली के रूप में गाँव में दिखाई पड़ जाती है। राय साहब के इर्द-गिर्द पात्रों का अधिकांश समय प्रेम-सम्बन्ध, पारिवारिक-जीवन, शराब-गुफ्तगू और कहकहों में बीत जाता है।

यहाँ आर्थिक व्यवस्था से अधिक प्रारब्ध ही प्रधान हो जाता है। राय साहब के ऊपर राय साहब का प्रेमी लड़का, होरी के ऊपर उनका ईर्ष्यालु भाई ही प्रारब्ध का प्रतीक बन जाता है।

यदि यह तर्क किया जाय कि प्रेमचन्द जी का यह उपन्यास जीवन का विविध-सम्पन्न महाप्रबन्ध (Epic) है और पुलिस, पटवारी, ढोंगी, पण्डित, रईस, दलाल, विद्वान्, मस्त-मौला, फिर सहज पारस्परिक वात्सल्य-प्रतिस्पर्द्धावाले बच्चे, प्रेम की अनुलोम-प्रतिलोम प्रवृत्तियाँ, अर्थ और निसर्ग का एकाश्रित व्यापार (होरी और सहुआइन महाजन-ऋणी तथा पुराने प्रेमी भी हैं; गोबर का प्रेम शहर में ठंडा पड़ जाता है, वह माता-पिता से भी विमुख-सा हो जाता है, रूपा आर्थिक सम्पन्नता में रति-सुख की निराशा भूल जाती है आदि), पतिव्रता स्त्री (मिसेज खन्ना), बलिदान-गर्भित चंचला-स्त्री (मालती) उस जीवन की अनेक-अनेक अभिव्यक्तियाँ हैं, तो भी प्रश्न यह उठता है कि क्या विराट् को भी अनेक में एक नहीं होना चाहिए? जीवन की सम्पूर्णता का चित्र तो तत्त्वतः तथा प्रभावतः असंभव है। नवो रसों के दृश्य ला देने से तो चित्र सामासिक नहीं होगा, (सीताराम की तरह) बल्कि विभक्ति-संयुक्त होगा (सीता और राम की तरह)। जब तक सीताराम का प्रभाव 'एक दूसरे के, तथा एक के सहित' सीता और राम नहीं होगा तब तक तो ध्यान दो केन्द्रों को लेकर चंचल तथा क्षुब्ध रहेगा ही। यही कारण है कि गोदान में शहर का कोई भी पात्र अपने भाव-प्रेरित कर्मों के द्वारा गाँव के किसी पात्र पर प्रभाव नहीं डालता, न गाँव का कोई पात्र शहर के किसी पात्र पर!

बेलारी गाँव के भीतर ही सेमरी का एक अन्तर्दुर्ग बना हुआ है। पटवारी, महाजन तथा ढोंगी लेकिन धनी ब्राह्मण आदि ही होरी के दुःख में वृद्धि करते अथवा सुख में बाधा पहुँचाते हैं। जमींदार, दारोगा, पटवारी आदि तक पहुँचने के लिये इन बटमारों से होकर गुजरना पड़ता है। बेलारी में जमींदार को लगान तो देनी पड़ती है, लेकिन ज्यादा सामने महाजन ही रहते हैं। इनलोगों के साथ यदि राय साहब का आना-जाना होता, और गाँव के जीवन में एक तरफ तो राय साहब के आर्थिक प्रभुत्व का दमन-चक्र दिखाया जाता, तथा दूसरी ओर गाँव के सरल शीलवाले पात्रों के बीच शहर की संस्कृतिवाले राय साहब के समाज की समवेदना-शून्यता, उच्छृंखलता तथा गतवीर्य निस्सारता, दैनिक जीवन के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध-संग्रथन में, दिखाई जाती, तो प्रभाव अन्तर्व्याप्ति होता।

बेलारी के दातादीन, मातादीन, पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, दुलारी सहुआइन आदि अनर्जित पूँजी के वैषम्य की अभिव्यक्ति हैं, शेष-पूरक शील का काम करते हैं, वातावरण सृष्टि के उपकरण हैं, तथा आर्थिक कारण-कार्य से इतर मनुष्य की शाश्वत रागद्वेषात्मक वृत्तियों का संश्लिष्ट स्वरूप उपस्थित करते हैं। सूद लेकर, दलाली कमा कर, कलह के बीज-वपन द्वारा भी पैसे बनाकर ये अनर्जित पूँजी के आलसी रक्त-शोषक हैं। शेष-पूरक रूप में ये परिस्थितियों के परिवर्त्तन के साथ पात्रों और घटनाओं पर टीका करते हैं, उनमें सक्रिय भाग लेते हैं तथा गाँव की संस्कृति के प्रतिनिधि भी हैं। होरी के बाद भी ये ही बच जाते हैं और ये पूर्ववत् चलते चलेंगे। इनमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता। कर्कश विरोध के सामने (शहर में कमानेवाले गोबर के सामने ये दुबक जाते हैं) ये समझौता कर, अपमान को पी कर पीछे हट जाते हैं, लेकिन फिर पहली शक्ति के साथ गाँव की कूटनीति में पिल पड़ते हैं। देहाती मुहावरों, गाँव के धर्म-संस्कारों, वर्ण-संस्कारों आदि के द्वारा ये वातावरण की सृष्टि करते हैं। कभी होरी पर दया, कभी हीरा पर दया, कभी ईर्ष्या, कभी क्रोध कर, कभी संस्कारों के बावजूद प्रकृति की दुर्बलताओं के शिकार होकर भी ये एक सहज निर्लज्जता के साथ अपनी प्रतिष्ठा के दुर्ग को बचाए रहते हैं। गाँव के भोलेपन, भीरुता, जाति-भेद, त्योहार-समारोहों की परम्परा के ये अविभाज्य अंग-से दीखते हैं।

होरी की गाय आती है। पण्डित दातादीन लठिया टेकते हैं और इधर धनिया इस बात से डरती है कि कहीं नजर न लग जाए। 'कोई दोष नहीं, बाल-भौंरी सब ठीक। भगवान चाहेंगे तो भाग खुल जाएँगे; . . बस रातिब न कम होने पाए,' लेकिन साथ ही 'एक-एक बाछा सौ-सौ का होगा' में पण्डितजी की अनुभवी आँखों के लोभ तथा ईर्ष्या को हम भाँप सकते हैं। फिर धीरे-धीरे 'रुपए नगद दिए ?' में हृदय तथा बुद्धि दोनों के गुप्तचर काम करने लगते हैं। 'बाहर न बाँधना' में लक्षण-शास्त्री तथा पशु-पालन-शास्त्र के पैदाइशी घाघ को पहचानना मुश्किल नहीं। धनिया और हीरा में जब झगड़ा होता है तो न्याय का पासा बड़े ही नाटकीय ढंग से पलटता रहता है। दातादीन टोकते हैं—'इतना कटु-वचन क्यों कहती है,

धनिया ! नारी का धर्म है कि गम खाए । वह तो उजड्ड है, उसके मुँह क्यों लगती है' । गाँव के जीवन के व्यावहारिक समझौते, युगयुगीन अनुभव तथा कफ-प्रकृति की यह प्रतिनिधि अभिव्यक्ति है ।

लाला पटेश्वरी, दुलारी सहुआइन समर्थन करती हैं । स्वर समवेत-से दीखते हैं । दुलारी सहुआइन औरत होकर भी मर्दों की प्रतिष्ठा लिए फिरती हैं । पटेश्वरी शान्ति के प्रयास में ही कलह की अग्नि में आहुति दे देते हैं—'तूने लड़कपन में उसे (हीरा को) पाला-पोसा, लेकिन यह क्यों भूल जाती है कि उसकी जायदाद तेरे हाथ में थी'।....लेकिन जब हीरा गर्म होकर खौल जाता है तो दातादीन उसे निर्लज्ज, पटेश्वरी गुण्डा, झिंगुरी सिंह शैतान तथा दुलारी सहुआइन कपूत कहती हैं । संकोच तथा सीमा का अतिक्रमण करने पर गाँव की अन्तरात्मा तथा संस्कृति की परम्परा के अधिकारी, व्यास के रूप में, सभी पर नैतिक अंकुश लगाते हैं । उद्दण्डता या उग्रता गाँव के श्लेष्मशील के प्रतिकूल पड़ती है ।

झिंगुरी सिंह केवल महाजन नहीं, विदूषक भी हैं । गाँव के मर्दों से साले या ससुर और औरतों से साली या सलहज का नाता जोड़ चुके हैं । लड़के कहते हैं—'पण्डित जी, पा लगी !' तो वे आशीर्वाद देते हैं—'तुम्हारी आँखें फूटें, घुटना टूटे, मिर्गी आए'.... ।

इस तरह महाजनी की क्रूरता के साथ रास-हास्य का पुट इनके शील को मनोरंजक बना देता है । होरी ने रुपए दबा लिए हैं । इस धारणा के मूल में झिंगुरी की ईर्ष्या जाना चाहती है । साथ ही गौ पर भी दृष्टि लगी हुई है । रक्त-शोषण के अभ्यास से गर्दिश में भी सौदा करना तथा प्रेम की मीठी बात कहते जाना, यह झिंगुरी सिंह के शील का वर्ग-तत्त्व है ।

हीरा जब गौ को विष दे देता है तो गाँव मर्माहत हो उठता है और दातादीन धरम के दण्ड की बात करते हैं । यह धरम का दण्ड दिहाती जीवन के धार्मिक संस्कारों की सरल प्रतिक्रिया है । गंगाजली उठाने और चौरे पर कसम खाने से ही सत्य की परख हो सकती है । दारोगा जी के आने पर कुछ बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए चढ़ा-ऊपरी होती है । होरी के संकट की इस परिस्थिति में कोई पचास, तो कोई सौ की सलाह देता है, लेकिन पटेश्वरी अन्याय नहीं देख सकता । वह बीस से अधिक के लिये राजी नहीं है; मगर इस सहानुभूति के बाद जब तीस पर सौदा होता है, तो चारों मुखिया लाभ में हिस्सा बँटा लेते हैं । फिर जब दारोगा मुखियों से माँग करता है तो पटेश्वरी कहते हैं, 'हुजूर बड़े दिल्लगी-बाज हैं', और दातादीन बोलते हैं, 'बड़े आदमियों के ये ही लक्षण है, ऐसे भाग्यवानों के दर्शन कहाँ होते हैं !' प्रशंसा के ऐसे चाणक्य बिरले मिलेंगे । हार कर जब देना पड़ता है तो दातादीन कहते हैं, 'मेरा सराप न पड़े, तो मुँह न दिखाऊँ ।' नोखेराम के उद्गार हैं, 'ऐसा धन कभी फलते नहीं देखा ।' पटेश्वरी ने भविष्यवाणी की, 'हराम की कमाई हराम में जाएगी ।' प्रभुता से पाला पड़ने पर, चतुर लोग, अपने कर्मों को भूल, कोढ़ी की तरह शाप देते हैं ।

इन स्वार्थ-विरशारदों की लज्जा जब असहाय रोष का रूप धारण करती है तो मजा आ जाता है। शील का पूरा मजा इस बात में है कि दातादीन को मुँह नहीं कि सराप दें, नोखेराम ऐसे ही धन का बाग लगाए बैठे हैं, तथा पटेश्वरी की कमाई हराम की नहीं तो हराम का कोई मतलब ही नहीं। यह है अज्ञात आत्म-व्यंग्य, जिसके द्वारा ये सरल-चतुर पंच कभी दाव-पेंच करते, कभी पैसे बनाते, कभी सहानुभूति प्रकट करते, कभी धरम की दुहाई देते हैं। इस तरह ये अपने वर्ग-गत शील-स्वभाव का समवेत परिचय देते हैं, जिससे वातावरण का निर्माण होता है। ये हास्य के तत्त्व ला देते हैं, तथा आर्थिक व्यवस्था की शोषण-विधि का परिचय देते हैं। भूल कर भी इनके मन में कोई द्वन्द्व नहीं उठता। इनकी नैतिकता इतनी व्यावहारिक है, इनकी स्मृति इतनी आशुनश्य है कि इन्हें धर्म की उन गहराइयों से मतलब नहीं जो चिन्ता बन जाती हैं, न इन्हें मान-अपमान ही अधिक सता पाता है। गोबर जब झुनिया को ले आता है तो होरी का हुक्का-पानी बन्द हो जाता है लेकिन धनिया के डर से कोई बोलता नहीं। इन शेष-पूरक शीलों की भीरुता, इनकी आत्म-रति आदि से सदा मनो-रंजन होता चलता है, तथा बेलारी की मिट्टी में जड़भूत जीवन-दर्शन का पता भी चलता है। आचरण और उपदेश की असंगति को लेकर, समानता के न्याय से भिन्न वर्ण-धर्म के न्याय के द्वैत को लेकर तो एक-न-एक मजे की बात देखने को मिलती ही रहती है। दातादीन का लड़का मातादीन चमारिन से फँसा हुआ था, लेकिन नित्य स्नान-पूजा से पापों का प्रायश्चित्त कर दातादीन धनिया को उपदेश देते हैं कि बिना ब्राह्मणों को भोज दिये उद्धार कैसे होगा। चाहे गौ को विष दिया जाय या विवाह-सम्बन्ध में कहीं से पद्धति की कमी आए, ब्राह्मण को सदा अपने भोजन तथा दक्षिणा से मतलब है:—

"दातादीन चोरी न करते, पर चोरी के माल में हिस्सा अवश्य बँटाते। मालगुजारी माँगने पर कुएँ में गिरने चलते, लेकिन असामियों को सूद पर रूपए उधार देते। शादी-ब्याह तय करते, यश मिलता, दक्षिणा मिलती. . . . . . दवा-दारु, झाड़-फूँक भी करते। बालकों में बालक, बूढ़ों में बूढ़े। चोर के भी मित्र, साह के भी। लोग विश्वास नहीं करते, लेकिन धोखा खा कर भी इन्हीं की शरण जाते हैं।" ठीक हार्डी के पात्रों की भाँति प्रेमचन्द के इन गौण पात्रों में शीलगत असंगतियों के कारण हास्य का रस अवाधित रूप से मिलता चलता है। सीमाओं की परवाह न कर, असंगतियों, द्वन्द्वों से निश्चिन्त रह कर, अप्राप्य से उदासीन रहते हुए, ये पात्र ही चलती चली जाने वाली जिन्दगी के प्रतीक हैं। इनका नाश नहीं हो सकता। सचमुच ही ये इति और आदि दोनों हैं। आर्थिक शोषण की जो आलोचना इनके माध्यम से स्पष्ट होती है, वह प्रचार-कर्कश तथा विवेचनात्मक न होकर शील-स्वीकार्य हो जाती है।

एक बात और ध्यान देने की यह है कि हार्डी के पात्रों की तरह प्रेमचन्द जी के गौण पात्रों का शील वर्ग-शील ही नहीं, समवेत-शील है। ये वर्ग-पात्र (class characters) ही नहीं समवेत-पात्र (chorus characters) हैं। किसी बात पर बहुधा इनका मतैक्य

रहता है। बोलते हैं तो चारों-पाँचों बोल कर ही रहते हैं—यहाँ तक कि रुपये माँगने को भी सभी प्राय: एक ही साथ जमा हो जाते हैं, और जीभ सबकी खुजलाती है। साथ-साथ इनके शील में भी प्राय: एकरूपता है। झिंगुरी सिंह और दातादीन की तरह पटेश्वरी भी पूर्णमासी को सत्यनारायण की कथा सुनते, पर पटवारी होने के नाते खेत बेगार में जुतवाते थे, असामियों को लड़ा कर रकमें मारते थे। परमार्थी थे, सरकारी कुनैन मुफ्त बाँटते थे, पर मौका पाकर कभी न चूकते। हाँ, जिसका खाते उसका काम करते थे। झुनिया को लेकर जो बैठकी होती है, उसमें सभी के एक ही विचार हैं: 'होरी ने भाइयों का हिस्सा दबा कर हाथ में चार पैसे कर लिए हैं, अब कुपंथ पर लात दी है; अंकुश के बिना समाज नहीं चलता।' दातादीन चमारिनवाले, झिंगुरी सिंह दो पत्नियोंवाले, जिनके यहाँ घूँघट की आड़ में बहुत कुछ होता था—सभी न्याय के, धर्म के पीठाधीश्वर हैं। नोखेराम राम की पूजा कर यह उपाय बताते हैं कि होरी ने रुपए दिये हैं, मगर उसे रसीद नहीं दी गई है, उस पर दावा किया जाए। जहाँ हार्डी के पात्र स्नेहन हास की चीज हैं, वहाँ प्रेमचन्द के पात्र उपहास्य हो जाते हैं। लेकिन ये ऐसे राक्षस नहीं कि दूसरे गाँव का आदमी इनके गाँव के आदमी का अपमान कर शेर बना चला जाए। भोला जब होरी के बैल खोल कर ले चलता है तो पटेश्वरी पिल पड़ते हैं। 'मार-मार' कह कर पंच समर्थन करते हैं, पर जब होरी कहता है कि उसने सारी बात भोला के धरम पर छोड़ दी थी तो प्रतिक्रिया शीघ्र ही पलट जाती है। 'जब तुमने धरम पर छोड़ दिया तब काहे की जबरदस्ती'। दातादीन समर्थन करते हैं। कहीं-कहीं एक की क्रूरता तथा दूसरे के सहज विनोद को लाकर प्रेमचन्द जी जुगुप्सा का शमन करते चलते हैं। दातादीन की सख्ती से होरी को गश आ जाता है। तो दातादीन ब्राह्मण एक छोटे स्वार्थ-दनुज-सा लगता है; लेकिन होरी के अच्छा हो जाने पर पटेश्वरी विनोद से दोनों के दु:ख का उपचार करने से बाज नहीं आते। होरी से कहते हैं, "धनिया रोती थी। तुम्हें हीरा-हीरा कह कर रोती थी। अब लाज के मारे मुकरती है। छाती पीट रही थी।" गोबर जब शहर से आता और पंचों को अपनी कमाई तथा उनकी दलाली और ढोंग की चर्चा कर के चिढ़ाता है, तो वे फटकार को भी हँसी में लेते हैं। नव-धनिक से ईर्ष्या करना उनके लिए सहज है। बस गाँव में रहेंगे तो ये खुद। दूसरे जहाँ बढ़े कि उन्हें काट-छाँट कर ठीक करने की दुरभिसन्धि शुरू हो जाती है। ठाकुरजी का अपनी दो पत्नियों के साथ जीवन का उपहास्य सामंजस्य तथा ठाकुर का पाँच नकद लेकिन दस का हिसाब जब नाटक का रूप धरता है, तो दातादीन जी मसोसते हैं कि कलियुग में ब्रह्म-तेज नष्ट हो गया, शाप का असर नहीं। मुखिया ऊपर से तो गोबर से रुष्ट हैं लेकिन एक-दूसरे का उपहास मंच पर देख कर कम प्रसन्न भी नहीं, और इस तरह जो पारस्परिक टीका चलती है वह उनके शील की पुष्टि करती है।

सहुआइन के शील के आर्थिक पक्ष के अतिरिक्त होरी के साथ पुराने प्रेम का गुलाबी

रूप दिखला देने से शील सरस हो जाता है। होरी बाग में गा रहा है—

"हिया जरत रहत दिन रैन
आम की डलिया कोयल बोले तनिक न आवत चैन।"

उधर से सहुआइन गुलाबी साड़ी पहने आ जाती है। होरी छेड़ता है, 'आज तो भाभी तुम सचमुच जवान लगती हो।' सहुआइन मगन हो जाती हैं। पहले की छिपी-दबी वासना तरल हो उठती है। 'आज मंगल का दिन है, नजर न लगा देना। इसी मारे मैं कुछ पहनती-ओढ़ती नहीं। घर से निकलो तो सभी घूरने लगते हैं। पटेश्वरी लाला की पुरानी आदत नहीं छूटी।' इसमें एक ही साथ ढली जवानी की झाँकती रति-वासना, अपने रूप का अभिमान तथा पटेश्वरी पर ऊपर से बिगड़ने, लेकिन भीतर से उनकी छेड़खानी का आनन्द लेने के भाव हैं। वे सहुआइन की याद छोड़ जाते हैं। देवर-भाभी की निर्दोष, विशुद्ध विनोद रति भी भारत में वात्सल्य की तरह, एक स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की चीज है। यह ऐसा सम्बन्ध है जिसमें प्रेम स्पर्श तक नहीं पहुँचता, पहुँचता है तो वाक्-रति के रूप में ही, जिसमें देवर के चलते पर-पुरुष-कामना की भी गूढ़ तृप्ति होती चलती है तथा समागम से राग का उच्चाटन नहीं होने पाता। दुलारी ऊपर से डेढ़ सौ गाली देने की धमकी देती है, मगर ताना है कि लड़के के परदेश से आने पर बुलाया नहीं। रुपयों का तकाजा करने पर जब देवर होरी कहता है, 'एक-एक पाई दे दूँगा, भाभी। खा ही जायेंगे तो कहीं बाहर के तो नहीं हैं, हैं तो तुम्हारे ही', तो सहुआइन मोम हो जाती हैं। इस सम्बन्ध से मिली-जुली धनिया की असूया शील-सम्बन्ध को और भी मजेदार बना देती है। धनिया तो सहुआइन के यहाँ होरी को तम्बाकू लाने के लिए भी जाने देना नहीं चाहती।

नारी-पात्रों में मालती की चर्चा हो चुकी है। झुनिया, सिलिया, सोना, रूपा, धनिया के सार-संक्षेप की भी आवश्यकता है। इन्हीं के चलते गोबर, मातादीन की भी चर्चा हो जाएगी।

✓ झुनिया :—असमय वैधव्य की अतृप्त लालसाओं से भरे यौवनवाली झुनिया और अपने भोले कौमार्य में मग्न गोबर का प्रेम साक्षात्कार के संयोग-सा लगता है। झुनिया अपने पहले पति के साथ बम्बई हो आयी है। लम्पटों तथा भोगवातुल रसिकों के क्षणिक उन्माद को वह जानती है। मालती की भाँति वह भी ऐसों से हँस-बोल अपना जी बहलाती तथा दो-चार रुपये हाथ लगा लेती। झुनिया प्रतीक्षा और परीक्षा दोनों जानती है। वह प्रेम का आनन्द जितना नहीं चाहती, उतना आश्वासन, अधिकार तथा स्थायीभाव चाहती है। उसके लिये प्रेम में पाणि-ग्रहण प्रधान है, अंक-शयन गौण। गोबर के मांसल पुरुषार्थ को देख वह ललच तो अवश्य जाती है, लेकिन अधिक से अधिक गोबर के मर्म को प्रकाश में लाकर देखना चाहती है।

प्रथम मिलन के समय गोबर अतिथि है । सभी स्त्रियों की तरह झुनिया भी आवरण का संकोच करती है । झुनिया बिना जाने माननेवाली नहीं । वह बिना दूसरे को जाने अपना मरम नहीं बता सकती। पहले सत्कार के व्याज से प्रेम की बात कही जाती है, 'तुम कहोगे एक लोटा पानी भी नहीं दिया ।' गोबर मेहमान है इसलिये । प्रेमी है इसलिये नहीं, झुनिया वक्रोक्ति में गोबर की गुरु है । गोबर कहता है कि वह मेहमान नहीं, पड़ोसी है, तो झुनिया चट जवाब देती है, पड़ोसी मास भर में एक बार भी सूरत न दिखाए तो मेहमान ही है । गोबर कहता है, दरसन तो दोगी ? जवाब मिलता है, दरसन के लिये पूजा करनी पड़ेगी । प्रेम का कुछ ऐसा स्वभाव है कि जितना दुत्कार से बढ़ता है, उतना अनुनय से नहीं । गोबर को निराश कर, परास्त कर, चिढ़ा कर, डरा कर, डाँट कर प्रेम की मृदु-गूढ़ लाक्षणिकता से झुनिया उसे अपना दास बना लेती है । चिढ़ाने, लज्जित करने तथा अनिश्चय की स्थिति में टँगे रहने देने के लिये झुनिया के निर्लिप्त यथार्थ अथवा व्याज-उपेक्षा का एक उदाहरण देखिए । गोबर का कहना है कि वह बार-बार नहीं आता कि इस तरह मरजाद कम हो जाएगी, तो झुनिया कहती है, महीने में एक बार आवोगे, ठंडा पानी दूँगी, सातवें दिन आवोगे, खाली बैठने को माची दूँगी । रोज-रोज आवोगे तो कुछ नहीं पावोगे · · · ।

जहाँ झुनिया मर्म-कटाक्षों तथा ध्वनि से काम लेती है, वहीं गोबर अभिधा का गणेश है । झुनिया यह नहीं कहती. तुम आना जरूर; वह कहती है, तुम काहे को आवोगे ! अपनी निराशा में दूसरे की लज्जा को ललकारकर सर के बल बुलाने की यह चाल है । गोबर सीधे कहता है, अगर भिक्षुक को भीख मिलने की आशा हो तो वह दिन भर और रात भर दाता के द्वार पर खड़ा रहे । झुनिया के प्रेम में भोले गोबर को देख दया का भी भाव है, गोबर के प्रेम में झुनिया की वाक्चातुरी तथा ज्ञान की बातों को लेकर आदर भी है । 'सरबस दोगे तो सरबस पावोगे । फिर किसी के सामने हाथ फैलाते देखूँगी तो घर से निकाल दूँगी ।' झुनिया जितना ही निर्वाह तथा समर्पण पर जोर देती है, फल का रस लेकर उड़ जानेवालों के लिए घृणा के भाव व्यक्त करती है, गोबर पर उतना ही रंग चढ़ता जाता है :

'आज तूने मेरा हाथ पकड़ा है, याद रखना ।'

'खूब याद रखूँगा, झूना, और मरते दम तक निबाहूँगा ।'

सरल भोले प्यार के शब्दों में पाणिग्रहण एकान्त में हो जाता है । तिलक-मुद्रावाले पण्डित जी की आदत को साहस की चंडी की तरह छुड़ाने की कथा जब झुनिया सुनाती है तो गोबर के भय, उत्साह, गौरव तथा आदर की कल्पना कीजिये । पर झुनिया गपड़ू बाबू कश्मीरी की तीन लड़कियों की उच्छृङ्खलता की जो निन्दा करती है. वह नगर की संस्कृति का अनावश्यक उपहास-सा लगता है ।

झुनिया परीक्षा के द्वारा गोबर की सारी दृढ़ता का अनुमान कर लेना चाहती है ।

पंचायत का भय, अमर-लोलुपता, माता-पिता, परिवार आदि की चर्चा कर वह गोबर को ठोक-बजा लेना चाहती है तथा गपड़ू की लड़कियों की निन्दा, तिलक-मुद्रा वाले बाबाजी के ढोंग, अपनी भावजों के आभूषण-लोभ, तथा मोटे वस्त्र, मोटे भोजन से अपने सन्तोष की बात कर वह सहज ही गोबर को आश्वस्त कर देती है। गोबर दबा हुआ है, झुनिया ही बढ़कर बोलती है।

प्रोषितपतिका की स्थिति में झुनिया एक हल्की-फुल्की परीक्षा से गुजरती भी है। मातादीन पण्डित आता है, उसके बच्चे को गोद में उठा लेता है, वह निहाल हो जाती है। लेकिन मातादीन के जाल में फँस नहीं जाती। हाँ, वह पातिव्रत्य का अनुसूया-व्रत नहीं करती। जिस समर्पण की बात वह करती है, उसे वह उभयपक्षीय चाहती है, गूढ़तः गोबर के समर्पण का आश्वासन अधिक। 'मैं समर्पण करूँ, तुम भी समर्पण करो'.... इसमें अनन्यता नहीं, स्थूल अन्योन्याश्रयवाद है। इसलिये मातादीन जब उसके पति की शिकायत करता है तो वह कहती है, 'भाग खींच लाया महाराज और क्या कहूँ।' जब सोना कहती है, 'मातादीन खराब आदमी हैं, सिलिया को रखे हुए हैं', तो वह चट जवाब देती है, 'तुम्हारे भैया भी तो मुझे लाये हैं। वह भी खराब आदमी हैं।'

झुनिया देहाती की मालती है—शहरी है, बात करती है, हँस-बोल लेती है, मगर दिल नहीं देती। सोना के मना करने पर वह कहती है कि मातादीन को आने से मना नहीं कर सकती। शायद वह इतना आनन्द जीवन के रस के लिये चाहती है, अथवा सहानुभूति पा कर कुछ दुर्बल हो जाती है। लेकिन मीठी बातों को वह महँगे दामों बेचना जानती है। हँसने-बोलने की बात अलग है, पर वह विश्वासघात नहीं कर सकती। मेहता जब मालती से कहते हैं कि गोविन्दी की शांति के लिये वह खन्ना से सम्बन्ध-विच्छेद कर ले, तो मालती भी प्रायः यही बात कहती है। झुनिया के प्रेम में विरह की अनुभूति कम है, अपने स्वार्थ की रक्षा के लिये पति से वचन प्रतिपालन की आशा अधिक। गोबर जब कमाई के चार पैसे मिलने पर आँख फेर लेता है और झुनिया को साथ ले जाना चाहता है, तो झुनिया कहती है, आदमी इसलिए जनम नहीं लेता कि जनम भर तपस्या करे.... सभी जिन्दगी का सुख चाहते हैं। झुनिया के शील का बस एक ही पक्ष है.... वह जब तक प्रेम पाएगी तब तक पतिनिष्ठ रहेगी; लेकिन माँ-बाप अथवा माँ-बाप से भी अधिक अनुग्रह रखनेवाले सास-ससुर के प्रति कृतघ्नता में उसे तनिक भी हिचक नहीं। उसमें वह दया-भाव नहीं है जो कष्ट सह कर कृतज्ञता जैसी पर-निरत भावना की सूक्ष्मता का सज्जागत आनन्द ले सके। झुनिया और मालती यहीं एक दूसरे से भिन्न हो जाती हैं। शहर में गोबर का भोग-चक्र, फिर आर्थिक कठिनाइयों में झुनिया की यातना, गोबर का शराब पीना, झुनिया की प्रसव-यातना, तथा संकट आने पर गोबर का सुधर जाना, झुनिया का त्याग और कष्ट-सहिष्णुता की घसिआरिन बन जाना आदि शील के ऐसे ब्यौरे हैं जो

यौवन के सपनों और आर्थिक यथार्थ की निराशा से भरे संघर्ष को दिखाते हैं। सारी अभिव्यक्ति नियति की घटना है, चरित्र का कोई विकास नहीं। होरी की दयनीयता बढ़ाने के लिये गोबर की कृतज्ञता आवश्यक थी, लेकिन झुनिया के शील में प्रेमचन्द जी व्यर्थ ही इतना रम जाते हैं, आगे चल कर वह भीड़ ही लगाती है।

सोना-रूपा की जोड़ी परिवार के दुःख-दैन्य के बीच वात्सल्य के दुर्लभ सुख-संयोग के रूप में देखने को मिलती है। सोना-रूपा की पारस्परिक ईर्ष्या की पारस्परिकता है। बच्चों की यह भोली ईर्ष्या, माता-पिता के स्नेह पाने की प्रतिस्पर्धा, उनके बालोचित तर्क, परिवार के दुर्बलपक्ष की ओर समर्थन तथा प्रौढ़ के प्रति अपेक्षाकृत उपेक्षा—ये सभी सोना-रूपा के प्रथम दर्शन के समय देखने को मिलते हैं। सोना बड़ी हो गयी है, रूपा छोटी है, गोद में चढ़ कर चलती है। सोना जलती है—'पाँव टूट गये हैं?' जहाँ आर्थिक स्वार्थों को लेकर बड़े-बूढ़े कुत्तों की तरह झगड़ते हैं, वहाँ बच्चों का कलह नाम-रूप की विशेषता को लेकर होता है। बच्चों का रौद्र आलम्बन-सापेक्षता से शृंगार बन जाता है और तब हास्य की बन आती है। साथ ही सोना-रूपा के झगड़े की ध्वनि कुछ प्रतीकात्मक भी हो जाती है। 'रूपा से निबाह होता है, सोना तो देखने को है', रूपा कहती है। स्पष्ट है कि रूपा सोना के मूल्य तथा विशेष दीप्ति से जल रही है। वह अपने को अथवा अपने नाम को हीन समझ रूप को छोड़ गुणों का तर्क लेती है। हीनता सदा यथार्थ से परास्त हो कर अप्रस्तुत आदर्श में सान्त्वना पाती है। सोना यथार्थ सबल है। वह हर बालिका के हृदय में छिपी दुलहिन होने की ललक तथा आभूषणों के प्रति लालसा का मर्म छू देती है—'सोना न हो तो मोहर कैसे बने, नथुनियाँ कहाँ से आएँ, कंठा कैसे बने?' सोना का तर्क स्वभाव तथा सुविधा का तर्क है, और वह जीवन के अरमानों को सामने ला कर चोट करती है।

गोबर बल देता है रूपा को; 'रूपा उजला, सोना सूखे पत्ते की तरह पीला होता है।' लेकिन सोना वधू के सुहाग को ही ला दिखाती है—'शादी-ब्याह में पीली साड़ी पहनी जाती है, उजली साड़ी कोई नहीं पहनता।' धनिया और होरी के दाम्पत्य जीवन की निर्मम वास्तविकताओं से अनभिज्ञ इस भोले बालकों के निर्दोष सपने कितने सरल हैं! फिर वही निर्वाहवाली बात होरी दुहराता है। सोना अमीरों के लिये, रूपा गरीबों के लिये! गेहूँ बड़े आदमी खाते हैं, जौ गरीब। इसीसे रूपा राजा, सोना चमार। अब रूपा बवंडर हो जाती है—'रूपा राजा सोना चमार!' उछल-उछल कर रट लगाती है। रूपा छोटी है, बाप की थाली में खा रही है, और सोना इस तरह जल रही है मानों वह रूपा को ही खा जायगी। 'वाह रे प्यार!' उसकी आँखें कह रही हैं।

ईर्ष्या बढ़ते-बढ़ते जब वैर का रूप धर लेती है तो उसे लाभ अथवा गौरव-सम्पन्नता का उतना मोह नहीं रहता जितना शत्रु-पक्ष के जड़-विरोध करने का। वह यह नहीं सोच

सकती, कोई घटिया काम है जो शत्रु के जिम्मे रहे और बढ़िया काम अपने जिम्मे। वह हर चीज में बराबरी का अथवा कुछ बढ़-चढ़कर दावा करना चाहती है। उसका भी स्थान बना रहे, बस यही आग्रह रहता है। मत्सर वंचित हो जाने के भय से मरता रहता है। ईर्ष्या के मूल में तुलना है। यह तुलना शत्रु की अशर्फी के सामने अपने कोयले को बीम मानकर की जाती है। सोना कहती है कि गाय आयगी तो उसका सब गोबर वही पाथेगी रूपा जल उठती है—'सोना कहाँ की रानी है जो समूचा गोबर वही पाथेगी ?' रूपा भी पाथेगी। भाग-बुद्धि तथा तुलना की ग्लानि की दो अर्द्धचनाड़ियाँ मिलकर सहोदरों की शील-शती बनाती है। भाग और तुलना रूपा और सोना के झगड़े के मूल में है। यदि सोना पानी भर लाती है, तो क्या रूपा कुँए पर रस्सी नहीं ले जाती। किस बात में वह कम है ?

सोना के विवाह की चर्चा सभी करते, इसलिए रूपा स्वयं अपने विवाह के लिए आग्रह करती। इससे सोना के प्रति ईर्ष्या तो देखने को मिलती ही है, साथ ही शैशव की उस अवस्था का रस मिलता है जिसमें लज्जा का विकास पूरा नहीं हो पाया है। रूपा अभी कुमारी की व्रीड़ा नहीं जानती। अपने दूल्हे के रूप-रंग, डाल-बरात आदि की चर्चा वह खूब करती है। वह स्नेहनहास का आलम्बन बन जाती है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी दोनों बहनों का एक दूसरे में तल्लीन होना, जैसे एक दूसरे की चोटी गूँथना, जमकर दूसरे बच्चे से कलह करना, जिसमें सोना शत्रु की आँख मूँदती और रूपा तमाचे लगाती, अथवा गाँव में होली आदि के अवसरों पर गोबर के नाटक के दिन रूपा को रोग-शय्या से, माँ-बाप से छिपाकर, पीठ पर लाद कर, तमाशे दिखाना, रूपा की बीमारी का बढ़ना, होरी का यह कहना कि कि सोना तूने ही रूपा की यह हालत की, सोना का तब फूट-फूट कर रोना और कहना 'तू ही बोल रूपिया, मैंने क्या तुझे मारना चाहा था; रूपा अब तू अच्छी हो जा। अब तू ही गाय की मालकिन रहेगी' आदि ब्यौरे को लेकर गूढ़ सहोदर-भाव की संश्लिष्ट सरलता भी दिखाई जा सकती थी। लेकिन प्रेमचंद जी ने केवल ईर्ष्या पर ही जोर दिया है।

शील-माहात्म्य की दृष्टि से सोना का साक्षात्कार आगे चलकर तब होता है जब वह ब्याहने योग्य हो गयी है। वह जानती है कि मातादीन का झुनिया के यहाँ आना ठीक नहीं। सोना से बोले तो वह उसका मुँह झुलस दे। झुनिया पूछती है कि किसी बूढ़े से ब्याह हो गया तो सोना क्या करेगी।

मुग्धा की सहजबुद्धि नायिकाओं की तरह सोना बड़ी ही विनोदपटुता के साथ वीर-विदूषक के यथार्थ-स्वागत की बात कह डालती है—'मैं उसके लिए नरम-नरम रोटियाँ पकाऊँगी। उसकी दवाइयाँ कूट-छानूँगी, उसे हाथ पकड़ कर उठाऊँगी, जब मर जायगा तो मुँह ढाँपकर रोऊँगी।' बात खरी। सोना पतिव्रता नहीं भी हो, लेकिन स्वाभिमानी तथा सम्बन्ध-

निष्ठ तो इतना अवश्य होगी कि उत्साह से वह किसी भविष्य का सामना कर सकती है ।

'और जो किसी जवान के साथ हुआ !'

'तब तुम्हारा सिर,, हाँ, नहीं तो ?'

कैसी स्वाभाविक व्रीड़ा है !

'अच्छा बताओ, तुम्हें बूढ़ा अच्छा लगता है, कि जवान ?'

'जो अपने को चाहे वही जवान है, जो न चाहे वही बूढ़ा है !' सोना अब समझदार हो गई है और इसमें यौवन के साथ जीवन की माया की सहज दार्शनिकता का विकास भी हो गया है ।

बाप सोना के ब्याह में ऋण ले, यह सोना को पसन्द नहीं। वह पति के यहाँ संवाद भेजती है, और कहती है, 'अगर नहीं सुनेंगे तो हो चुकी सोना से शादी ।' अपने रूप का गर्व तो है ही, साथ-साथ पिता के दैन्य के प्रति इतनी करुणा भी है !

सोना के रूप का प्रखरतम तेज उस समय देखने को मिलता है जब वह मथुरा और सिल्लो को चोर की तरह बातें करते पकड़ लेती है । खुले रूप में हँसी-दिल्लगी को तो वह पसन्द ही करती । दुलारी सहुआइन के यहाँ होरी के एक बार देर तक रुक जाने पर धनिया नैहर भाग गई थी । पकड़ की यह भावना सोना में तीव्र हो गई थी । दाम्पत्य की कठोर निष्ठा में उसके लिए दया का कोई स्थान न था ।

वह सिल्लो से सीधे पूछती है—'साफ-साफ बात बता दो, नहीं यहीं अपनी गर्दन पर गँड़ासा मार लूँगी ।' स्वाभिमान की यह निरपेक्ष बलि-भावना उसके शील के महत्तम तेज की अभिव्यक्ति है । 'सिल्लो ने मथुरा को दाँत क्यों नहीं काट लिया । पापी को लात क्यों नहीं मारी ? खून क्यों नहीं पी लिया ? क्यों नहीं नाक दाँतों से काट ली ? क्यों नहीं दोनों हाथों से उसका गला दबा दिया । तब मैं तुम्हारे चरणों पर सिर झुकाती । अब तुम बेसवा हो···आज से तुमसे कोई रिश्ता नहीं ।'···यह शील की उस स्थायी दृढ़ता का परिचय है जो छोटी बातों पर चिढ़ती नहीं, लेकिन मौलिक अपराधों के लिए उसके न्यायविधान में क्षमा भी नहीं । निरपेक्ष निष्ठा और निरपेक्ष विच्छेद के बीच कोई मध्यम स्थिति सोना के लिए नहीं है । सोना रूपवती ही नहीं, दिव्य पतिव्रता का रूपक भी है ।

जैसा पहले बताया जा चुका है रूपा के शील का विकास नारी और पत्नी के सहज समन्वय के रूप में होता है । परिस्थिति द्वन्द्व की है । पति अधेड़ है। यौवन और शृंगार के अरमानों का क्या होगा ? यहाँ अर्थ काम की रक्षा करता है । रुपये-पैसे के दारिद्र्य से अचानक मुक्त रूपा अपने काम-सुख को भी भूल जाती है । वह अपने यौवन में पति-सुख के अभाव की पूर्ति दर्पण-सुख से करती है । अपने शृंगार से वह पति को लज्जित करना नहीं चाहती । एक दिहाती बालिका के लिए इस तरह का मननसंभवी सामंजस्य कुछ क्लिष्ट-सा मालूम होता है, लेकिन अर्थ की पृष्ठभूमि बड़ी प्रबल है । दैनिक

सामंजस्य का वातावरण, जो होरी के यहाँ रहा है, उससे वंशरेत की परम्परा के रूप में, रूपा को यह विधि हाथ लग गई है। रूपा का गुण निर्वाह का है। रूपा इसी निर्वाह-शील का विरल विर्दोव है।

सोना और रूपा दोनों ही सरल प्राकृतिक जीवन के आदर्श सन्तोष-सी लगती हैं।

सिलिया बेलारी की गोविन्दी जैसी है। मातादीन ब्राह्मण के प्रति जो एक बार प्रेम हो जाता है वह अन्त तक बना रहता है। निष्ठा वर्ण-भेद की अपेक्षा नहीं करती। अवश्य ही मातादीन के ब्राह्मणत्व को लेकर थोड़े गौरव की अनुभूति उसे होती है। लेकिन जब उसका दिया हुआ अनाज मातादीन रोक देता है (वही खत्री वाली कृपणता) और कहता है, 'तू कौन होती है मेरी', तो वह मर्माहत हो उठती है। अपने से ऊँचे वर्ण-से प्रेम करने का यह मौन-मरण वरदान सिलिया के जीवन की करुणा बन जाता है। उसके पूछने पर मातादीन कहता है कि धन में उसका अधिकार नहीं। तन और धन का यह भेद मन के न्याय तथा सत्यनिष्ठा का बड़ा ही गरल-परिहास है। सिलिया की अनन्यता आज मनोभाव और यथार्थ के इस वैषम्य पर सर पटक कर चूर हो सकती है, दूसरा आश्रय न ढूंढ़ सकती है, न पा ही सकती है। घरवालों की भर्त्सना ऊपर से। चमारों ने जब लपटकर मातादीन की जनेऊ तोड़ डाली और हड्डी का टुकड़ा उसके मुँह में डाल दिया, तो इस बलिदान से सिलिया का प्रेम अनुग्रह तथा करुणा से और भी अन्धा हो उठता है। संस्कारों पर यह मौलिक आघात मातादीन को जैसे वैतरणी की भावना से भर देता है। घरवालों के प्रति रोष तथा अपने प्रेम की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सिलिया दृढ़संकल्प हो जाती है। शरीर से लहू आ जाता है, साड़ी फट जाती है, लेकिन वह बाप-माँ तथा भाइयों की लात की परवाह नहीं करती। निर्लज्जता प्रेम की अनन्य श्रद्धा की शिखर-किरणों में जैसे हेम-महार्घ हो उठती है। आभ्यन्तरिक मर्यादा और कर्त्तव्य-भावना ने उसके भीतर धर्मवीर का उत्साह भर दिया है। उसके सामने अब मातादीन का यौवन और लम्पटता नहीं, रसिकता नहीं, है उसके बलिदान का हाहाकार !

'मर जाऊँगी पर हरजाई न बनूँगी'—यह है सिलिया का ध्रुव निश्चय। संस्कृत के शास्त्रियों ने वर्ण-भेद के आधार पर जो शील-भेद किया था वह कितना त्वचा-संज्ञ है। तुच्छ में उदात्त का यह प्रकाश निसर्ग की विधान-निरपेक्षता, संस्कार-निरपेक्षता का उदाहरण है।

दातादीन सिलिया का मुँह नहीं देखना चाहता। मातादीन रक्तवर्ण नेत्रों से उसकी ओर घूरता है। उसे अपने 'परासचित' की सूझी है। मातादीन वर्ण-संस्कारों के भग्नावशेषों के नीचे कराह रहा है। अपनी हीनता तथा पाप-हेतु की चेतना में घुटती सिलिया के लिए ब्राह्मण के पूत संस्कारों की करुणा और भी बढ़ जाती है। चमारिन का संस्कार, पातिव्रत्य का न होकर, रतिलोभ का माना जाता है। वातावरण से सर्वथा स्वतन्त्र, मानस-पाणिग्रहण की मर्यादा के प्रति ऐसे अविचल मोहवाली सिलिया जाति-व्यवस्था के सत्य के

लिए एक चुनौती बन जाती है । डूब कर देखने से दातादीन भय का पशु जान पड़ता है—मात्र लक्षणसंस्कारों का ब्राह्मण । सिलिया लोक-लज्जा से मुक्त, करुणा अथवा ग्लानि से प्रेरित है । लाज (लोक-लज्जा) प्रेम का बाधक है । ग्लानि तथा करुणा प्रेम का संयोजक तत्त्व । मातादीन उसे छोड़ देता है, बाहर टिक्कड़ लगाता है, लेकिन सिलिया के लिए मातादीन वही 'मतई' है जो उसके पैरों पर सिर रगड़ा करता था । उसे विश्वास है कि एक न एक दिन मतई उसके यहाँ आयगा । सिलिया का ऐसा विश्वास कुछ सिनेमा की नायिकाओं जैसा है । 'वह अपना धरम तोड़ रहा है तो मैं अपना धरम क्यों छोड़ूँ' यह सोचती है सिलिया । साधु ने सोचा, बिच्छू अपना धरम नहीं छोड़ता तो मैं क्यों छोड़ूं ? उस साधु में तो प्रतिस्पर्धा की भी भावना थी; यहाँ तो सभी तारे टूट जायँ तो भी आकाश शून्य में स्थिर रहना चाहता है । सिलिया आदर्श के शून्य में अथवा दूर गगन में रहने लगी है । सिलिया प्रेमचन्द के उस युग की कल्पना का आग्रह है जिसमें हरिजन-भावना प्रधान थी । सिलिया भूलकर भी मातादीन के प्रति अन्यथा नहीं सोचती । अब मातादीन सिलिया की ओर भूलकर नहीं देखता । 'अब वह चाहे पण्डित बन जाय, चाहे देवता बन जाय, मेरे लिये तो वही मतई है, जो मेरे पैरों पर सिर रगड़ा करता था'— यही सिलिया के मोह का रूप है ।

फिर सिलिया के शील का वह रूप आता है जिसमें वह मातादीन के प्रति ऐसी निष्ठा रखते हुए भी मथुरा के साथ अँधेरे और एकान्त में श्वास-सामीप्य के क्षणिक तापमान से पिघल-सी जाती है । इसकी चर्चा पहले हो चुकी है ।

मातादीन का स्वभाव संस्कारों के मलबे से ढँका है । गोबर और गोमूत्र पीने के बाद उसका मन, उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है । मन में संस्कार-विघात का व्रण हो गया था । जो अब पक कर बह जाता है । धर्म के जो अग्निहोत्र संस्कार हैं, उनमें, पीछे भाव नहीं रहने से भी, पूर्वजों के अभ्यास-उदाहरण से, संस्कृति की परम्परा चलती जाती है । मन की उस अशुचि-भ्रांति के मिटते ही उसके अन्तस्तल के स्वाभाविक धर्म का प्रकाश फूट पड़ता है । इस भाव-प्रभात में योगदान देनेवाला स्वभाव-धर्म एक भावात्मक तत्त्व है, तथा समाज-धर्म की ग्रंथि का खंडित हो जाना एक अभावात्मक घटना है ।

सिलिया के गर्भ से मातादीन का जो लड़का पैदा हुआ है, अब वह तुतलाता है और मातादीन को बाप कहता है । लड़के को देख वात्सल्य तथा ममता की जो अन्तर्धारा फूट पड़ती है, उसमें वह आडम्बर-धर्म की मूल्यशून्यता को देख लेता है । अभावात्मक तत्त्व के रूप में मन की वह अशुचि-ग्रंथि या चाण्डाल-भावना है जिससे वह अब अपने को मुक्त पाता है ।

बालक के साथ उसकी आत्मा का प्रसार हो जाता है । मातादीन रसिक और मातादीन पिता में शील-भेद दायित्व-बुद्धि के आभिर्भाव में होता है । खेलते बालक को देख बाप

के कंधे बोझ से दब-से जाते हैं। चुपके-चुपके चूमना कैसे काफ़ी होता, जब चाँद-सा लड़का हँस पड़ता है और पिता जैसे स्नेह के अमृत-सरोवर में डूब जाता है। अभी ब्राह्मणत्व का प्रेत-संस्कार रह-रहकर उसके हाथ से बालक छीन लेता। रामू के मर जाने से सिलिया अनाथ हो जाती है, लेकिन उसका आँचल तब भी भींग जाता है। लुटी-सी, पगली-सी सिलिया के हाथों से बच्चे को ले मातादीन श्मशान की ओर चल पड़ता है।

और तब एक दिन सिलिया जब पूर्णमासी के चाँद को देख रामू की याद में डूब जाती है और उसका अंचल दूध से भींग जाता है तो मातादीन कायरता को अन्तिम झटका दे, करुणा की मूर्ति सिलिया को करुणा का प्रेमदान करता है।

'तुम तो खेला नहीं सके!'

'हँसता था?'

'तुम्हीं को पड़ा था।'

बड़ी ही मार्मिक बातें होती हैं। फिर सिलिया पूछती है कि बाप निकाल देगा तो मातादीन कहाँ रहेगा। मातादीन कहता है, 'चलो तुम्हें अपना घर दिखायें।' और जाकर सिलिया की झोपड़ी के द्वार पर खड़ा हो जाता है। सिलिया कहती है, यह तो एक चमारिन का घर है। मातादीन कहता है, 'यह मेरी देवी का मन्दिर है।'

वियोग के बाद के इस संयोग में पुत्र-शोक की हृदय-विदारक अनुभूति को हम भूल जायँ, तो ये बातें सिनेमा के वयःसन्धीय, असिद्ध, भाववातुल प्रेमियों के उच्छ्वास-सी लगती हैं।

स्त्री प्रेम करती है। पर कहने में भी आवरण 'का संकोच करती है। मातादीन तो कह डालता है कि वह सिलिया को सदा याद करता था, लेकिन पूछने पर सिलिया कहती है कि उसे मातादीन पर दया भी नहीं आती थी, उससे जी जलता था। और यहीं प्रेमचन्द जी उद्देश्य-आकुल होकर कुछ ऐसी प्रत्यक्ष की सिद्धि कराने लगते हैं कि शील ध्वन्यात्मक न होकर प्रतिध्वन्यात्मक हो जाता है। यदि सिलिया ही खाना बनायगी तो, वह पूछती है, ब्राह्मण कैसे रहोगे? ' मातादीन कहता है, 'मैं ब्राह्मण नहीं, चमार ही रहना चाहता हूँ। जो अपना धरम पाले वही ब्राह्मण, जो धरम से मुँह मोड़े वही चमार है। यह हरिजनवाद का हितोपदेश है। सिलिया और मातादीन की कथा का यह अन्त उन्हें युगलक्षण-शील बना देता है। सिलिया एक तो होरी को अशरण-शरण बनने का अवसर देती है, फिर वर्णाश्रित धर्म से ऊपर स्वभाव-धर्म की मर्यादा का प्रतीक बन जाती है, तथा रायसाहब वाले शिष्ट समाज के अपवाद-सी लगने वाली गोविन्दी का प्रतिरूप भी प्रस्तुत करती है।

'गोदान' उपन्यास कई छोटी कहानियों के समुच्चय-सा मालूम होता है। वातावरण की एकता तथा पक्ष-चित्रण की विविध-स्पष्टता की आवश्यकता ही इस अतिरिक्त का समर्थन है।

धनिया के शील के पक्ष हैं:—

(१)—विरुद्ध संकल्प दाम्पत्य-सामंजस्य।

(२)—शील का उद्देश्यबद्ध नहीं, बल्कि स्वभाव-विवर्त्त होना ।
(३)—प्रतिकूल संकेतग्राहिता ।
(४)—रूप और आत्मा, बाह्य और अभ्यन्तर का वैषम्य ।

विरुद्ध संकल्प दाम्पत्य-सामंजस्य:—होरी स्वभाव से कुछ भीरु, तथा समझौतों के बीच निरापद मध्यममार्ग से चलनेवाला भोला किसान है । धनिया मुखर, मानप्रिय तथा गुमानी है । पुलीस, पंच, पटवारी, जमींदारों के अत्याचार, सहोदरों के द्वेष तथा मान पर सामान्य आघातों के बीच रहती धनिया 'गाय' की पगहिया हाथ से छीन लेनेवाली है । होरी के पाँव कब से उखड़ गये होते यदि उसे, अप्रिय शैली में ही सही, धनिया के विद्रोह, साहस तथा दृढ़ता का संबल न होता । होरी और धनिया की जोड़ी इस तरह दो विरुद्ध संकल्पवालों का एक सरल सामंजस्य प्रस्तुत करती है । तल में एक दूसरे के लिए जीवन-साथी के भाव को लेकर प्रगाढ़ मोह है ।

शील का उद्देश्यबद्ध नहीं, बल्कि स्वभाव-विवर्त होना:—होरी 'गोदान' का नायक है । लेकिन अपने संघर्षों, संकल्पों, दया-माया, शरणागतवत्सलता तथा जीवन के अभाव से होरी का शील सदा आर्थिक विषमता की उपन्यासबद्ध आलोचना से आच्छादित रहता है । होरी का शील जिन परिस्थितियों में रखकर निरूपित किया गया है, उनमें क्रम तो अवश्य है, लेकिन न कोटिगत तारतम्य है, न भावों के त्रैत (Trivalence) के योग्य परिस्थिति की अन्वित विविधता है, न परिस्थितियों में ही कोई भिन्नरूपता है । प्रायः दो-तीन को छोड़कर, परिस्थितियों में अन्तर्व्याप्ति रूप से नहीं, बल्कि केवल अनन्य रूप से (भीतर-बाहर भी, तथा अन्य परिस्थिति के संश्लेष से मुक्त) 'अर्थ' ही पर्यवस्थित रहता है—मालगुजारी देनी है, लड़के की शादी करनी है, गौ लेनी है, पुलीस को रुपये देने हैं, आदि ।

धनिया के लिए सारी परिस्थितियाँ पत्नी तथा माता होने के नाते पारिवारिक हो जाती हैं, और उन सारी परिस्थितियों में उसके अहं तथा पारिवारिक अथवा दाम्पत्य ग्रन्थि की अभिव्यक्ति होती चलती है । धनिया प्रायः बुद्धि-बधिर होती रहती है, तथा पाठकों को उसके हृदय का द्रव तथा ताप हाथ लगता चलता है । वह स्वभाव-निर्भर की अजस्रता लिये हुए है ।

प्रतिकूल संकेतग्राहिता:—अपनी अहंबद्धता के कारण धनिया के लिए कुछ कर्णधार दान की उल्टी बातें आवश्यक है । होरी यदि कहे कि भोला को भूसा दो तो धनिया मुँह नोंच लेगी, लेकिन अब होरी प्रशंसा से एक बार उसे फुला देता है तो वह कहता है एक खाँचा, और देती है तीन खाँचे । बिना माँगे वह मोती देनेवाली है, माँगने से मौत भी नहीं दे सकती । धनिया अक्खड़ स्वभाव की है । झुनिया को लेकर यदि होरी आश्रय देने के लिए आग्रह करता तो उसे निषेध की नारकीय यातना ही हाथ लगती । लेकिन जब वह बिगड़ खड़ा होता है तो धनिया के अहं पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह जाता, और उस मातृ-हृदय की आँखों में पानी और आँचल में दूध भर जाता है । धनिया जब संकेत ग्रहण करेगी

तो प्रतिकूल। इससे उसकी विजय-भावना और शासन-प्रियता को बल मिलता है। बात यह है, धनिया में पुरुष-तत्त्व ही प्रकट-प्रधान हैं; कोमल नारी-तत्त्व तो विनोद की क्षणिक सरसता तथा अश्रु-पुलक के क्षणों में गूढ़ स्रोत के रूप में ही फूटता है। और इसलिए बाह्य और अभ्यन्तर का वैषम्य देखने को मिलता है। जिस पुनिया से वह होरी की बातचीत भी बर्दाश्त नहीं कर सकती, उसे फिर अनुग्रह से लाद देती है। जिस होरी से उसकी लें-दे होती रहती है, उसे गश आ जाने पर, वह कातर होकर अपने सारे कर्कश बाह्य के मर्म को ही लुटा देती है।

होरी कहीं जाने के पहले कुछ रस-पानी कर ले, इसके लिए धनिया होरी से एक बार कहती ही नहीं, बीस बार झगड़ा करती है। धनिया अधेड़ औरत है, इसलिए उसके हृदय में केवल यौवन-भोग की स्मृतियाँ ही संचित नहीं हैं। दुःख-दैन्य में एक साथ मिलकर-झगड़कर धूप-अंधड़ में, जलती दोपहरी में एक साथ श्रम कर, कठिनाइयों में एक साथ रोकर, सिसककर, परिवार में विग्रह-विघटन के भैरव-चक्र में एक साथ पिसकर भी वह होरी के साथ रहती आई है, और एक क्षण के लिए भी पति के प्रति अन्यथा नहीं सोचती। होरी के ऊपर धनिया का आतंक छाया रहता है। वह कोई स्वतंत्र निर्णय कर नहीं सकता—जब तक दबी जुबान से, अनुनय-विनय से, धनिया को फुसला-बहलाकर उसकी स्वीकृति न ले ले। इस अभाव में धनिया के लाल लुट गये हैं। वह जमींदार के पाँव पलोटने को व्यर्थ ही नहीं, अपमान-जनक समझती है। मान की रक्षा धनिया की गति-प्रेरणाओं की सिद्धान्त-तालिका है। रोष के कटु-कर्कश क्षणों में भी साली-सरहज की बात कर देने से धनिया सरस हो जाती है, बह जाती है। उसका विनोद भी कलह की शैली में ही उच्चरित होता है; कभी ताने का रूप लेता है, जिसमें उँगली चमकाने तथा आँख मटकाने के अनुभाव ही सच्चे उतरते हैं—'ऐसे ही बड़े मजीले जवान हो कि साली-सलहजें तुम्हें देखकर रीझ जायेंगी;' कभी गाली का रूप लेता है, जिसमें वह पत्नी के साथ जवान साली का भी रंग ला देती है। होरी जब पर-पुरुष को लेकर धनिया से मजाक करता है तो कहती है 'ऐसी तेरी बहन, हाँ नहीं तो।' पुनिया-हीरा के साथ होरी को बोलते देख जब धनिया होरी को डाँटती है तो होरी अपनी सहिष्णुता की प्रशंसा कर धनिया को कोसता है, और धनिया होरी को स्त्री पर हाथ उठानेवाले पति के रूप में निंद्य ठहराती है। जब होरी कहता है कि वह किस तरह धनिया की मनुहार करने उसके नैहर तक जाता था तो वह कहती है, जब अपनी गरज सताती थी तो जाते थे, लाला। राय साहब और धनिया से अधिक इस उपन्यास में शायद ही कोई बोलता हो, लेकिन राय साहब मुहावरों, रूपकों तथा असंयत वाग्मिता की सनक से, आवृत्ति से, पाठक को उबा देते है, और धनिया कृषि-जीवन की अशिक्षित सरलता की सहज वाग्धारा से सबको बहा ले जाती है। राय साहब अब चुप नहीं होंगे, और धनिया चुप न हो जाय यह भय पाठक को अधीर बना देता है।

होरी के मुँह से कोई अशुभ बात निकल जाय (साठे की नौबत ही नहीं आयगी, धनिया) तो धनिया आतंक से काँप जाती है। उसके दाम्पत्य में सख्य का अंश इतना अधिक है कि वह सागर में सहारा खोजती है, चाहे वह तिनके का ही क्यों न हो, और वह डूब जाती है, इसलिए नहीं कि सागर अपार और दुस्तर है, बल्कि इसलिए कि साथी तिनके का कहीं पता नहीं।

कोई प्रशंसा कर धनिया की गर्दन ले ले, लेकिन आँख दिखाकर तो पुलीसवाले भी कुछ नहीं पा सकते। जब विरोध के एक ध्रुव से प्रशंसा-विगलित धनिया उदारता के दूसरे ध्रुव तक पहुँच जाती है तो वह और भी भली मालूम पड़ती है।

मानिनी धनिया होरी के भाइयों तथा उसके भाइयों की स्त्रियों के नाम से ही चिढ़ती है। यह सब विघटन का परिणाम है। और विघटन का कारण है धनिया के विशेषाधिकार का मर्यादा-सूत्र। धनिया लल्लो-चप्पो नहीं जानती; जिससे बने, जिसे माने, उससे खूब बने, उसे खूब माने; जिसे दे, उसे खूब दे। जिससे झगड़े, जिससे नहीं पटे, उससे नहीं पटे। पुनिया से होरी बोले, यह वह नहीं सह सकती। जब हीरा के मुख से अपनी निंदा सुनकर होरी गाय लेकर भोला को लौटाने चलता है तो वह पगहिया छीन लेती है। जब यह कहता है कि लोग कहते हैं कि अलग होते समय उसने रुपये दबा लिये थे तो धनिया ताड़ जाती है कि हीरा ने यह सब कुछ कहा है। जब धनिया किसी से ऐसे बैर को लेकर बिगड़ खड़ी होती है तो वह शत्रु को जलाने के लिए इतनी लकड़ी और आग क्षण भर में इकट्ठी कर देती है, और फिर इस स्वाभाविकता से, इस निर्भीकता से जलाती है कि देखते ही बनता है—

"मैं कहे देती हूँ, अगर गाय घर के बाहर निकली, तो अनर्थ हो जायेगा। रख लिये हमने रुपये, दबा लिये, बीच खेत दबा लिये। डंके की चोट कहती हूँ, मैंने हंडे अशर्फियाँ छिपा लीं। हीरा और सोभा, और संसार को जो करना हो, कर ले। क्यों न रुपये रख ले? दो-दो सण्डों का ब्याह नहीं किया, गौना नहीं किया!'

धनिया के कहने में जो सहज साहित्यिकता रहती है, जो तीक्ष्णता तथा चित्रात्मकता रहती है, उक्ति और वर्णशील का जो सामंजस्य रहता है (किसान का बीच खेत दबा लेना, बेईमान का अशर्फियों को हंडे में छिपा देना, पाल-पोसकर किसी को संडा करना, जिन्दगी को मिट्टी में मिला देना आदि) उसमें कटुता का प्रभाव नहीं पड़ता, एक छटा-सी छा जाती है।

धनिया चौमुखी लड़ाई लड़ सकती है। दातादीन, पटेश्वरी आदि ने छेड़छाड़ की तो धनिया सब पर पिल पड़ी 'मैं सबको पहचानती हूँ...एक-एक की नस पहचानती हूँ। मैं गाली दे रही हूँ, वह फूल बरसा रहे हैं, क्यों?'

धनिया के पेट में बात पचती नहीं। पर होरी का दूसरा मित्र कौन है? हीरा पर उसे

सन्देह है। हीरा ने ही गाय को विष दिया है।

"किसी से कहोगी तो नहीं ?'

'कहूँगी नहीं तो गाँववाले मुझे गहने कैसे गढ़वा देंगे ?' उक्ति की वक्रता में वह हृदय के अमृत को छिपाती है, जैसे टेढ़े चन्द्रमा से भी अमृत की वर्षा होती है। एक बात है। धनिया क्रोध में संचित वैर के दाह के भड़क उठने पर जो बक दे, लेकिन इतनी उदार है कि शीघ्र किसी को नीच नहीं मान बैठती। होरी के यह कहने पर कि हीरा ने ही विष दिया है धनिया कहती है 'झूठ, बिलकुल झूठ ! हीरा इतना नीच नहीं। वह मुँह का ही खराब है।' धनिया भी तो ऐसी ही है। मुँह की खराब है, मन की नहीं। लेकिन किसी असुर को असुर जान ले और उसका खुला सामना न करे, आवेश को दबाकर, कायर बुद्धि से काम ले, इतना धीरज धनिया में नहीं है। वह भोर होते ही हीरा को थाने भेजेगी चक्की पिसवायेगी। लाला को तीरथ करना पड़ेगा, भोज देना पड़ेगा। और गवाही दिलवायेगी होरी से, बेटे के सिर पर हाथ रखकर।

और जब होरी भाई के प्रेम, कलह के डर से काँपते हाथ बेटे के सिर पर रख देता है, तो धनिया घृणा से भर जाती है। धनिया सदा सत्य तथा न्याय के रास्ते पर रहती है। धनिया केवल घृणा ही नहीं करती, जमीन पर थूकती भी है—'थुड़ी है, तेरी झुठाई पर !' फिर बेटे के अमंगल की संभावना सोचकर कहती है, यदि मेरे बेटे का बाल भी बाँका हुआ तो घर में आग लगा दूँगी। धनिया किसी आदमी से नहीं डरती, आदमी की नजर से डरती है, अतिभौतिक शक्तियों से डरती है। गाय बाहर न बँधे, कोई यह न नजर लगा दे कि गाय बहुत दूध देती है, इन बातों से उसे बहुत भय है। सौगन्ध, टोने से वह डरती है, मगर दारोगा साहब के मुँह पर बोलती है। होरी हर आदमी से डरता है, और चूँकि अतिभौतिक शक्तियाँ, धर्म के देवता-देवी उतने प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए मन में उनसे पाप कर सकता है, जिससे वह अपराध से बच सके, क्योंकि अपराध से आदमी तथा पाप से भगवान् रूष्ट होता है।

होरी जब उसे मार बैठता है तो वह उसे गाली देती है, शाप नहीं देती। जब पुनिया पीटी जाती है तो अपने पति को कहती है, 'तेरी मिट्टी उठे, तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आये, देवी मैया तुझे लील जायँ, तुझे इन्फ्लुएंजा हो जाय। भगवान करे, तू कोढ़ी हो जाय, हाथ-पाँव कट-कट गिरे।' धनिया पीटी जा रही है, पर वह अपशब्द, धिक्कार तथा आत्मदया के बाहर नहीं जाती—'पापी ने मारते-मारते मेरा भुरकस निकाल लिया, फिर भी इसका जी नहीं भरा।' फिर वह अपने प्रति करुणा से भर जाती है—'इस घर में आकर उसने क्या नहीं झेला, किस तरह पेट तन काटा...।'

दारोगा को तो धनिया की डाँट जीवन भर न भूलेगी। पुनिया की असहायता में, सिलिया तथा झुनिया की विपन्न वेला में धनिया छोह से कातर हो उठती है। धनिया के हृदय की यह माया-ममता उसकी कलह-शैली को और भी मधुर आशीष बना देती है। गोबर

जब थोड़ा स्वर बदलता है, और अपने स्त्री-बच्चे को लेकर चला जाता है तो जाय। धनिया अनुनय-विनय करने वाली नहीं। वह आशीर्वाद देने तक नहीं आती। होरी बेचारा है कि दुःख से भरे हृदय से आशीर्वाद वह देता है, क्योंकि दिये बिना रह नहीं सकता।

होरी की प्रस्थान-वेला में गोदान के पैसे के लिए, यन्त्र की भाँति उठने और फिर पछाड़ खाकर गिर जानेवाली धनिया में जीवन के अधूरे सपनों की निर्मम पराजय, तथा दूर क्षितिज के शून्य अवसाद की पथराई आँखों का सारा मोह समाया है। धनिया जैसी तनकर चलनेवाली और जीवन भर खड़ी रहनेवाली मर्दानी औरत एक ही बार गिरती है--और दुबारा नहीं उठती।

होरी की चर्चा तो सब जगह होती आई है और होती रहेगी। फिर भी, संक्षेप में, होरी किसान के शील में संकोच, सन्धिप्रियता, कलहभीरुता, धर्मभीरुता, ऋजुता, यथार्थ चेतना, भोले कपट तथा सनातनवादिता के साथ-साथ मन की चाणक्य-बुद्धि, कष्टसहिष्णुता, करुणा, गौरवलोभ, भूतदया तथा स्नेहसंकल्प का मंगलमय समन्वय है; फिर भी नियति का परिहास इस बात में है कि दुःख में ही उसके जीवन का अवसान होता है। जीवन की सापेक्षताओं को जितनी सहज प्रज्ञा तथा स्वीकृति की क्षमता किसान होरी को है उतनी है तो फिर झिंगुरी, पटेश्वरी आदि अर्थलम्पटों को ही। समूचे उपन्यास में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जिसके अहित के मूल्यों से होरी ने अपनी अर्थसिद्धि की हो। केवल एक बार गोबर और सोना के विवाह की चिन्ता से वह कातर हो उठता है, और तत्क्षण बाँसवाला अवसर के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। भाइयों की हानि भी अत्यल्प है, इस समय खल नहीं, बल्कि स्वार्थ के असहाय लोभी की तरह वह फिसल पड़ता है। होरी धनिया से डरता है, राय साहब, गोबर, पटेश्वरी, दातादीन, दारोगा, नोहरी, पुनिया, हीरा, आदि किससे भय नहीं खाता वह?

'मालिक असनान-पूजा करके बैठ आयेंगे' इसलिए रस-पानी का भी विचार नहीं उसे। गोबर के लिए राय साहब की पाठ-पूजा अवकाश का भाव-व्यसन या सांस्कृतिक विलास है, तो भोले होरी के लिए यह भय, श्रद्धा और विनय की दूरी की बात है। यह जानते हुए भी कि व्यर्थ ही होरी को गाँव के पिशुन तथा अपने भाई यह कलंक लगाते हैं कि उसने भाइयों के हिस्से हड़प लिये, वह धनिया को मना करता है, मारता-पीटता है कि कलह बढ़ने न पाये। होरी हृदय का भोलानाथ है। हीरा कोड़े पर आ गया, और होरी का स्नेह उमड़ आता है। विपत्ति और असहायता में भोला से वह सौदा नहीं करना चाहता। वह एक ओर तो किसानों के राम-राम कहने से तथा चिलम पीने के निमन्त्रण से विशेष गौरव का अनुभव करता है, दूसरी ओर यह भी जानता है कि दूसरों की जायदाद पर कुड़की आती है। लेकिन कारकुन तक भी उसपर रियायत करते हैं। उसकी यथार्थ-चेतना उसे बहुत दूर तक उदार बना देती है। भोला की प्रसुप्त वासना तथा मनुष्य की सामान्य प्रशंसा-कामना को वह जानता है,

विशेषतः पुरुष की परस्त्री की प्रशंसा के लिए तथा स्त्री की परपुरुष की प्रशंसा के लिए। चाणक्य की इसी बुद्धि से होरी भोला और धनिया को रह-रह कर सँभालता है। जमींदारों के वर्ग के प्रति उसके भाव सामान्य सनातन परम्परा के हैं। राय साहब की कठिनाइयों और विवशताओं के प्रति उसे सहानुभति तो है ही, वह जमींदारों को मानवीय आर्थिक व्यवस्था नहीं, एक ईश्वरीय विधान मानता है। गोबर जैसे आग्नेय विद्रोही को कुछ शान्त-नियन्त्रित करने के लिए तो ऐसे तर्क देता है लेकिन भोला आदि समवयस्कों से वह अपने माध्यम से किसानों की दुर्दशा भी रोता है। गोबर जब स्वार्थ के कृतघ्न आवेश में आकर झुनिया को लेकर चल पड़ता है, तो भी ममता की कातर माता के रूप में तो होरी ही सामने आता है। माँ के चरण बेटा छू ले, चाहे उसका अनादर भी करके चला जाय, होरी इसके लिए अश्रु-गद्गद् हो बेटे से प्रार्थना करता है। और यह सब तब जब झुनिया को उसने पंचों के न्याय की लूट-मार के बावजूद भी शरण दी थी। होरी की असल पराजय तो रूपा की शादी में है। वह गोदान तक नहीं कर सका, यह तो नियति की निर्ममता है। वह जीवन के अविरल संघर्षों से जर्जर तथा शिथिल हो चला है, और तब अधेड़ दामाद को कन्यादान करने पर राजी होता है। फिर भी धैर्यसहिष्णुता तथा कठोर परिश्रम के जीवन के साथ संघर्ष करता जब होरी चक्कर खाकर गिर पड़ता है तो सभी लालसाओं से गूढ़ गो की लालसा उसके कंठ को मोह से अवरुद्ध कर देती है।

✓ होरी की जीवन-कथा के मार्मिक प्रसंग तीन-चार हैं। भाइयों से चोरी कर जब कुछ रुपयों के लोभ में वह बाँसवाले के साथ षड्यन्त्र करता है तो अपनी कोसती अन्तरात्मा के हाथों घुटता, फिर भाइयों के प्रति स्नेह को चौधरी के ऊपर क्रोध के रूप में व्यक्त करता, बिना निमंत्रण के कभी हीरा को, कभी पुनिया को डाँटकर अपनाने की दुर्बलता दिखाता, और अन्त में चौधरी के हाथों छकता तथा धनिया के तानों से घायल होकर अन्दर ही अन्दर मरता होरी किसी के भुलाये नहीं भूल सकता। कृतघ्न गोबर की बिदाई के समय काँपता, आशीर्वाद देता होरी पाठकों के मर्म को सदा के लिए स्पर्श करता है। उसी तरह हीरा को बचाने के लिए गोबर के सिर पर हाथ रखकर सौगन्ध खानेवाले होरी को देख आँखें छलछला उठती हैं। गाय को विष देनेवाले हीरा को प्रेम-शुश्रूषा की स्मृतियों से होरी ओतप्रोत कर देता है। वह याद दिलाता है कि किस तरह इन्फ्लुएंजा में हीरा दवा नहीं खाता था और लड़ पड़ता था और किस तरह होरी रात-दिन खटता था। हीरा उसे 'दादा' कहता है और कहता है कि पाल-पोसकर बड़ा न किया होता तो कलह करने के लिए वे सब कैसे बचे रहते। इतनी मीठी बातें और विष का कुचक्र। राय साहब के यहाँ राजा जनक का माली बनकर गुलदस्ता लिये फूला नहीं समानेवाले होरी पर तो हम विहँस ही सकते हैं। बेटे के सुख, गो की लालसा, और रूपा की मनोनुकूल शादी के सुख से वंचित होकर, ऋण तथा अभाव के दुःख-दैन्य का कालकंकाल सामने देखता हुआ होरी जब अन्त में चक्कर खाकर गिर पड़ता

है तो उसके अन्तिम शब्दों ('मेरा कहा-सुना माफ करना धनिया ! अब जाता हूँ । गाय की लालसा मन में ही रह गई । अब तो यहाँ के रुपये क्रिया-करम में जायेंगे । रो मत धनिया, अब कब तक जिलायेगी ? सब दुर्दशा तो हो गई । अब मरने दे') में तो जैसे खाली मुट्ठी की सारी करुणा, जीवन की संचित व्यथा तथा बेलारी कथा, भारत के कृषकों के एक पूरे युग की पराजय समाई हुई दीख पड़ती है ।

होरी का अन्त, होरी की कथा, करुण तो है लेकिन क्या होरी करुणोदात्त नायक है ? इस प्रश्न पर आगे चलकर विचार करेंगे ।

पहले 'गोदान' के नारी-पात्र और पुरुष-पात्रों को पार्श्वस्थित करके कुछ सामान्य निष्कर्षों का संकलन कर लें । नारी-पात्र ही प्रायः प्रेमचन्द जी की आदर्श-चेतना तथा स्वभाव-प्रज्ञा की कृतियाँ हैं । पुरुष-पात्रों में स्वार्थ की कोष्ठबद्धता तथा जघन्यता देखने में आती है । इसके विपरीत नारी-पात्र स्वार्थ के वैयक्तिक भोग का सहज समावेश कृतज्ञता, निष्ठा तथा परानुरक्ति में कर लेते हैं । नारी-पात्रों में समाधानकुशलता अन्तःप्रसूत-सी दीखती है, इसके विपरीत पुरुष-पात्र समस्या की विविध दृष्टि-सम्पन्नता के रहते हुए भी प्रायः दिग्विहीन तथा उद्भ्रान्त-से छूट जाते हैं । पुरुष-पात्र बहुधा वर्ग तथा उद्देश्यसापेक्षता की सीमाओं से जकड़े हैं । उनमें दीन-सज्जन होरी, वहनी निर्जा तथा ग्रन्थ क्लिष्ट मेहता को छोड़ प्रायः सभी या तो उपहास के भाजन हैं, या तीव्र तिरस्कार के, (जैसे यथार्थ—अधीर, संस्कारकृतघ्न गोबर तथा क्षणिक ईर्ष्या का शनि हीरा) । साहस, स्पष्टवादिता, नष्टबुद्धि (दूसरों को नचाने की बुद्धि) तथा जीवधर्मपरायणता जितनी नारी-पात्रों में है, उतनी पुरुष-पात्रों में नहीं । पुरुष-पात्र स्वतंत्रचेता होते हुए भी प्रायः रूढ़ियों में ही निरापद रह सकते हैं, नारी-पात्र के लिए भाव-धर्म की साधुता आवश्यक तथा पर्याप्त है ।

रूपा-सोना बहनों की ईर्ष्या वात्सल्य का आनन्द देती है । भाई हीरा की ईर्ष्या एक पूरी जाति के मातृसंस्कारों की हत्या कर बैठती है । ईर्ष्या क्रूरता का रूप धरकर घृणित बन जाती है । पुनिया तक इस कुकर्म से पाप-स्तब्ध हो जाती है । सिलिया के लिए बाँह पकड़ा जाने की लाज अकशयन तक ही नहीं, भूमि-शय्या तक है; लेकिन मातादीन के लिए प्रेम एक रसिक का क्रीड़ा-आमोद है । बेलारी के पुरुष महाजन भी रसिक हैं, लेकिन रस तथा विनोद को सूद से पृथक् रखते हैं । उसी बेलारी में नारी महाजन के रूप में दुलारी सहुआइन जब गुलाबी साड़ी पहनकर चलती है और होरी छेड़ता है तो ब्याज भूल जाती है । धैर्य की सती गोविन्दी-जैसी विभूति पुरुष-पात्रों में ढूँढ़े नहीं मिलने की । प्रेम की प्रथम बाढ़ में भी झुनिया प्रेमी को पहले ठोंक-बजा लेती है, मातादीन को उल्लू बनाती है, नोहरी भोला को नचाती फिरती है और मालती खन्ना जैसे आदमी को मूर्ख बनाती रहती है । ऐसा लगता है कि यौवन के प्रेम-संगीत में औरतों को ताल और लय दोनों मालूम हैं, मर्दों का छन्द भी लय की बहक में विकृत हो जाता है । धनिया मुखर है लेकिन हीरा की भाँति मधु जैसी बात करके

विष नहीं घोलती। जब शहर के शिष्टाचारी तथा छैले नकली पठान से डरते हैं, धनिया (अथवा होरी, उसके उत्साह-शिष्य के रूप में) दारोगा के हाथ से थैली छीन लेती है। सोना-रूपा अर्थ, और काम, यौवन के अरमान तथा पितृ-ऋण, वैयक्तिक सुख-स्वप्न तथा पारिवारिक सापेक्षता, शृंगार और करुणा के बीच समाधान ढूँढ़ निकालती है (सोना पति के यहाँ तिलक के विरुद्ध कड़ी चेतावनी देकर तथा रूपा नारी और पत्नी पक्षों को पृथक् रखकर)। लेकिन तंखा, खन्ना, मिर्जा, रायसाहब आदि सभी उपन्यास के अन्त तक आर्थिक अवस्था में परिवर्त्तन हो जाने से जैसे भूत के खँड़हरों या वर्त्तमान के भूकम्प में इधर-उधर लुकते-छिपते, भागते-से नजर आते हैं। आर्थिक सभ्यता की संकर-शृङ्गार-लोलुपता से जब मालती मेहता को पाने के लिए, उन्हीं के प्रकाश में विकसित होती लोक-संग्रह की ओर चल पड़ती है, तथा मेहता से व्याह न कर उनके आदर्शों को ही अपना सुहाग मान लेती है, तो मेहता विस्मय तथा आदर से भले ही भर जाते हों, वस्तुतः वे लुट-से जाते हैं। मेहता भी अन्त में व्याह की बात सोचने लगते हैं। किसी रूढ़ि के बन्दी बने और बनाये बिना मेहता जैसा स्वतंत्र चिन्तक भी अपने को निरापद नहीं समझता।

क्या होरी करुणोदात्त नायक (Tragid hero) है? होरी की कथा करुणा से तो भर देती है लेकिन उसके शील में वह उदात्तता कहाँ जो हमें करुणा से मूक करने के साथ महत्ता से अवाक् भी कर दे। उदात्तता का यह तत्त्व संघर्ष-वीरता, संकल्प की अजेयता, विरोध के विराट्-विस्तार तथा प्रारब्ध की रहस्य-भावना से निर्मित होता है। अपने स्वार्थ के लिए युद्ध करनेवाला वीर नहीं कहलाता; लेकिन जहाँ प्रारब्ध के प्रति, अथवा विरोध की शक्तियों के प्रति, जाति-मात्र का, अखिल मानवता का, द्वन्द्व उच्चरित हो उठता है, वहाँ नायक का संघर्ष वीर का संघर्ष, स्वभाव-धर्म के युद्ध-सा, हो जाता है। भावों और संकल्पों की पुंजीभूत अतिशयता से, परिस्थितियों की भयंकर अतिबलता से, अमितविक्रम नायक के तेज की व्यापक अभिव्यक्तियों से, जो उदात्त का दृश्य उपस्थित होता है वह पहले तो हमें अपनी लघुता का बोध कराता है; फिर अजेय संकल्प की रमणीयता से हमें भी शील के उच्च शिखर तक ले जाता है। तब हम तल्लीन होकर नायक के माध्यम से मनुष्य-मात्र के 'अहं' की, स्वाभिमान की अक्षय तात्त्विकता का साक्षात्कार कर लेते हैं। ऐसे नायक का शील हमें विस्मय, आतंक तथा गौरव की भावना से भर देता है। साथ ही बाह्य तथा आभ्यन्तरिक पुरुषार्थ, कायिक तथा भाविक समृद्धि के क्षय को देख मूलबन्धुत्व सिद्धान्त के अनुसार हम भय तथा करुणा से भर जाते हैं।

किसान होरी में रजस् की अदम्यता अथवा दुर्धर्षता नहीं। वह संघर्षभीरू व्यक्ति है। उसमें सौहार्द तथा सन्धि-भावना अधिक है, आक्रामक अहं के निरपेक्ष प्रसार का संकल्प नहीं के बराबर। वह व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष नहीं, समर्पण करता चलता है। गोबर की कृतघ्नता के समय, रूपा की शादी के समय, पटवारी-महाजन के नोच-खसोट के समय, राय

गो-लालसा सार्थक है। उसकी महत्वाकांक्षा में वह तीव्र असंतोष नहीं, जो किसी महान् भाव अथवा व्यवस्था-विप्लव की ज्वालाओं से खेलता है। होरी गौ है, गौ चाहता है। जो है उससे अधिक की कल्पना उसके प्राण को आकुल नहीं कर सकती। 'गोदान' में दो बार गौ की हत्या होती है—एक बार हीरा गौ को विष देता है, तब। होरी भी गऊ है। उसकी मृत्यु में दुबारा गो-हत्या होती है; वह होती है; आर्थिक स्वामित्व की सामाजिक व्यवस्था के हाथों। होरी में दीन की कष्ट-सहिष्णुता है, स्वाभिमान की वह वज्रकठोरता नहीं, जो अदृष्ट के पवि-लेखों के प्रति व्यंग्य-स्मित का भाव रखती है।

होरी के जीवन में कोई ऐसा खकारी परिवर्तन नहीं जो किसी गौरव-मण्डित शिखर से पतन जैसा दीख पड़े। अरस्तू के इस प्राचीन सूत्र का मूल्य होरी की कथा में देखा जा सकता है। होरी की जीवन-पर्यन्त प्रायः एक ही स्थिति बनी रहती है। प्रत्येक परिस्थिति दयनीय है, साथ ही वीर की नहीं। सिलिया को आश्रय देने में समाज ने जो विरोध है और होरी को जो दण्ड मिलता है उसके कारण उस पर श्रद्धा होती है तो दया भी।

गोदान में कोई ऐसी घटना नहीं घटती जिसमें होरी के भाग्य से हम भीत-त्रस्त हो जाएँ। होरी के जीवन के अंत में एक तरह का साहित्य का वामन्याय (Poetic Injustice) है—न्याय का वह व्यंग्य जो पुरस्कार के योग्य व्यक्ति के विनाश या अपहरण में स्थित है। ऊपर से नीचे गिरनेवाले को देख हम साध्वस और सहानुभूति दोनों से भर जाते हैं। पर यह बात सम धरातल की लम्बी यात्रा से थकनेवाले पथिक को देखकर नहीं होती। गऊ के लिए भोला से चाल चलना, फिर धनिया को झूठी प्रशंसा से फुला देना, राय साहब के यहां माली बनना, बाँसवाले के साथ षड्यन्त्र करना, अलग हुए भाई तथा उसकी पत्नी का प्रेम जीतने के लिए बिना बुलाये उनके लिए लड़ना, झुनिया, सिलिया को शरण देना, रुपये-पैसे तथा अन्न महाजन और पंच के घर पहुँचाना, तन-पेट काटकर जीनेवाली परिस्थिति में बेटे की कृतघ्नता सहन करना, भाई के लि बेटे के सिर पर हाथ रखकर झूठी सौगन्ध खाना, स्वयं काम करते जाना, और चक्कर खाकर गिर पड़ना ये सभी घटनाएँ सम धरातल की हैं।

इसके फलस्वरूप होता यह है कि नायक होरी के जीवन-काल में दुःख का विस्तार तो रहता है, लेकिन पीड़ा का घनत्व नहीं। होरी के हृदय में आलम्बन-गत भाव-द्वैत, आदर्शगत संकल्प-द्वैत, पाप-चेतना के मौन सहलमरण, अथवा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की प्राणनिष्ठुर शक्तियों से द्वन्द्व के मर्मान्तिक क्षण देखने को नहीं मिलते। होरी गाँव से निकाला वह कृषक-प्रधान नहीं जो आंधी में, अनावृष्टि में, पथरीली जमीन पर, चट्टान का संकल्प-मेरु बना आगने में गड़ा, तना, खड़ा, फावड़े चलाता जाता है। लज्जा की किसी वेला में अपने ही पुत्र या पुत्री का गला घोंट देनेवाला और फिर पश्चात्ताप में

रल-निमज्जित होनेवाला, तथा प्रायश्चित्त में, अपने ही दाँतों से गँड़ासे पकड़ने का अभ्यास र, किसी मन्दिर की चौखट पर अपने गट्ठों को सदा के लिए साफ कर देनेवाला (फिर भी वापस जानेवाला) व्यक्ति होरी नहीं है। होरी राय साहब के यहाँ अपनी पूछ की बात तो रता है, लेकिन बेलारी में उसके मान, चरित्र, संकल्प अथवा व्यक्तित्व की कोई धाक हीं। होरी में न तो वर्ग-समर्थ-महिमा है, न वृत्तियों का असामान्य गुणन ही। प्रत्येक रुणोदात्त शील की अभिव्यक्ति में वृत्तियों, भावों, घटनाओं तथा द्वन्द्व की सामाजिक, आभ्यन्तरिक और अतिभौतिक शक्तियों का, प्रकार-विशेष का जो असाधारणीकरण रहता है, वह होरी की करुण गाथा में नहीं।

'गोदान' की प्रारब्ध-भावना उदात्त की नहीं है। आजकल समाज की आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्थाओं का एक निकृष्ट नव्य-प्रारब्धवाद चल पड़ा है। रस की दृष्टि से ऐसे प्रारब्ध के कई दोष हैं। ऐसे प्रारब्ध में काव्य की रहस्य-भावना नहीं। ऐसा प्रारब्ध बुद्धि-कल्पित होता है, उसमें एक व्याख्येय हेतु-दर्शन होता है।

ऐसे प्रारब्ध में व्याख्या की संभावना के कारण मध्याह्न की स्पष्टता है। ऐसा प्रारब्ध दृश्य होते हुए भी अदृश्य-सामान्य बना रहता है। जहाँ नियति (अ) वृत्तियों के घातक आवेश या विरोध के रूप में, (ब) काल की विशेष-निरपेक्ष गति के रूप में, (स) विश्व में व्याप्त अव्याख्येय संकल्प या तत्त्व की रहस्य-लीला के रूप में दिखाई जाती है (कहीं प्रकृति, कहीं दैवयोग के माध्यम से) वहाँ प्रारब्ध अदृश्य होते हुए भी रहस्य-पटल में छिपे शत्रु-भाव, ईर्ष्या-भाव के लोक-साधारण विशेष के रूप में हृदय को विस्मय तथा भय से भर देता है। जहाँ वंशरेत (Heredity) के आभ्यन्तरिक, निसर्गगत प्रारब्ध के बीच शील की अभिव्यक्ति की जाती है वहाँ भी यह रहस्य-भावना बनी रह सकती है, क्योंकि इसमें भी अतिभौतिक शक्ति के सूक्ष्म तथा बधिर रहस्य-विधान का आभास होता है। मनुष्य की शाश्वत वृत्तियों को एक ऐसे अखिल व्यापक प्रारब्ध की पृष्ठभूमि में रखकर दिखलाती, जो या तो ईर्ष्या से हस्तक्षेप करता अथवा व्यक्ति-विशेष के दुःख-विशेष के प्रति व्यंग्य-निर्मम शून्यमनस्कता से व्यवहार करता प्रतीत होता है, इस रहस्यानन्द के अनकूल पड़ता है। उसी तरह वातावरण को प्रतीक लिङ्गों तथा परम्परा की अविच्छिन्न स्मृतियों से निर्मितकर उसे एक सहज-रहस्य, शील-विधाता प्रारब्ध का गौरव दे सकते हैं। जिस तरह रहस्य के नेपथ्य में छिपे प्रियतम के गीत में दार्शनिकता रहती है उसी तरह रहस्य के नेपथ्य में छिपे इस ईर्ष्या-बधिर अतिप्रबल नट के प्रति एक शत्रु-भाव हो जाता है, जो हमें भय से भर देता है, विस्मय से भी; तथा फिर एक विचित्र निर्वेद की अवस्था में छोड़ देता है। निर्वेद की यह अवस्था इसलिए कि उस विराट् के हम सभी अंग हैं, और ध्रुव-निश्चित, पक्षपात-शून्य विधान के प्रति हम कुछ दार्शनिक-से हो जाते हैं। 'गोदान' का नायक होरी उस व्यवस्था के प्रति संघर्ष करता है जिसका प्रति-

निधित्व झिंगुरी सिंह, नोखे राम, आदि करते हैं। ये घृणा और विनोद, दोनों के पात्र हैं। यही हालत राय साहब, तंखा, खन्ना आदि की है। होरी के द्वारा ऐसा कोई संकल्प अथवा कर्म नहीं किया जाता, जिससे होरी के दुःख की चरम स्थिति का हेतु निरूपित हो सके। होरी विद्रोह नहीं करता, होरी शायद इसीलिए दुःख भोगता है कि वह तरह देता चलता है। होरी जिन्दगी से थक-सा जाता है। उसे जीवन की निस्सारता की अनूभूति जितनी नहीं होती, उतनी अपने भूत की दुर्दशा की स्मृति सताती है।

'गोदान' में बहुत-से पात्रों की भीड़ लग जाती है, सेमरी प्रायः एक स्वतन्त्र केन्द्र के रूपमें स्थित हो जाता है। बेलारी में होरी सबका मुंह जोहता फिरता है। इन सभी बातों से उसका व्यक्तित्व उन्नत-विशाल नहीं हो पाता। होरी करुणा का पात्र है। और उसका प्रारब्धभूत, शत्रुभूति सामाजिक तथा आर्थिक आवेष्टन है उपहास का पात्र! यह विचित्र रस-विवात है। विस्तार के द्वारा यह युग के महाप्रबन्ध-सा तो दीखता है, लेकिन बेचारे, नेक, भोले होरी के लिए मोह ही हो पाता है। शील का करुणोदात्त स्वरूप हाथ नहीं लगता।

'गोदान' के यश का बहुत बड़ा श्रेय उसके संकल्प-कथन, कथोपकथन, और भाषा को है। पात्रों के शील, मनोदशा, परिस्थिति, वर्ग, संस्कृति आदि के अनुसार उक्ति का सामंजस्य प्रबन्धकार का विशेष उत्तरदायित्व है। किसी वीर पात्र को लीजिए। प्रलापी शत्रु को देखकर यदि वह यह न कहकर कि तू इन भुजाओं को देख, छाती फाड़ डालने में उन्हें कितनी देर लगेगी, यह कहे कि 'आ बेटे, वह कबूतर-लोट लोटाऊँगा कि तू भी याद करेगा', तो न शत्रु को ही भय होगा न पाठक को ही वीर रस का आनन्द आयेगा।

किसी घोरसंकल्प न्यायाधीश ने यदि न्याय की उच्चतम पवित्रता के लिए अपने बेटे को ही फांसी की सजा दे दी, और वह शोक-पश्चात्ताप-विचलित मनोदशा में हो, तो वह अपनी स्त्री से यह तो नहीं कहेगा कि 'मैंने जाब्ता फौजदारी दफा ३०३ के अनुसार अपने ही बेटे को फांसी दे दी।' वहाँ तो कथोपकथन विक्षिप्त मनोदशा के स्फुट पदों के क्रिया-विहीन वाक्य का स्वरुप ले सकता है—

"आज तो आरती उतार....तेरा पति जज!....धारा ३०३....। हुँइ् आज तो रोना ही पड़ेगा....तेरे लाल को प्राणदण्ड....!....कानून है, कोई खेल नहीं। बाहर की सर्दी....! देख तो....देख—वह बाहर मेरी चिता....। जलने दे न्याय की चिता....फांसी....! आह! मेरे लाल!....तू माँ है न? तेरी छाती क्यों नहीं....?"

परिस्थिति के अनुसार कथोपकथन में मन्द्रता, क्षिप्रता, उदारता, द्रुतता, सरलता, तथा उत्कंठा आदि के धर्म आते-जाते रहते हैं। अनुशासनच्युत शिष्य के पतन पर, तपकुटुम्ब की भरी सभा में तपोवन के कुलपति की प्रायश्चित्त-घोषणा में मन्द्र-मिताक्षरता रहेगी,—"गंगा के तट पर ज्वालाओं के बीच टँगे रहने की तुम्हें आज्ञा है, जब तक पाप की आँखें राख न हो जाएँ।"

इसमें ज्वालाओं के बीच' के पहले 'चतुर्दिक अग्नि की'; 'टँगे रहने' के पहले 'उलटे'; राख न हो जाएँ' के पहले 'जलकर'; 'आँखें' के पहले 'तुम्हारी' का अध्याहार आशय स्पष्ट करने के लिए हमें करना पड़ेगा। लेकिन परिस्थिति की गंभीरता के साथ कुलपति के अविचल निश्चय की अभिव्यक्ति में आकांक्षा निहित होगी, कुछ अतिशय पूर्ति नहीं।

क्षिप्रता:—जहाँ किसी दुष्ट राजकुमार के दुर्व्यवहार से कोई शरीर ग्रामबाला ष्ट हो जाय और राजकुमार का अपमान करने में शोखी से इ लाये तो वह कहेगी, 'तू राजकुमार नहीं, तू लुच्चा, तू पाजी, तू कोढ़ी...थू, हजार बार थू।'

उदारता:—ऐसे कथोपकथन में एक विशद विस्तार, अनाकुलता, इतमीनान रहता है। स्याहीसोख पर एक बूंद स्याही भी फैलकर कितनी जगह छेंकती है। उसी तरह ऐसा कथन भरे-पूरे, मंथर गतिवाले वटवृक्ष की तरह फैला हुआ होता है। लेकिन परिस्थिति यदि विरोधी पात्रों की हुई तो कथोपकथन में वैदग्ध्य अथवा खंडन की तीक्ष्णता आ जाती है, जिससे जड़ कटने का खौफ रहता है, शाखाओं के फैलने की संभावना नहीं। जहाँ दो अभिन्न पात्र किसी प्रिय भेद को लेकर हृदय हलका करते हैं, अथवा एक दूसरे के व्यक्तित्व को इतमीनान के साथ आत्मसात् करना चाहते हैं वहाँ उदारता का गुण देखने में आता है। ऐसे कथोपकथन की परिस्थिति थोड़ी स्थिर तथा काल-चेतना से व्यग्र होती है। चाय की प्यालियों के बीच सुहृदों की टोली जहाँ एक दूसरे से प्रेरणा लेती, अथवा किसी सामान्यतः भले लेकिन अचानक हठ पकड़ लेनेवाले सुहृद को नीति, परमार्थ की रीति, इतिहास, पुराणों के दृष्टान्त तथा स्नेह, आदेश, अनुनय आदि की बातों से लौटा लेना चाहती है, वहाँ उदारता का धर्म ही देखने को मिलता है। 'गोदान' में गोविन्दी और उनके श्रद्धालु प्रोफेसर मेहता की बातों में यही उदारता देखने को मिलती है। वहाँ वाक्यों के गठन में व्यायाम की चुस्ती नहीं, बलगमी शरीर का फैलाव है। इसमें पर्यायवाची शब्दों, मुहावरों, रूपकों कहावतों आदि के लिए पर्याप्त अवसर रहता है।

द्रुतता:—काल-चेतना से व्यग्र, संकटापन्न परिस्थिति में एक ही सांस में बहुत कुछ कह जाने की आवश्यकता द्रुतता ला देती है—

"आग लगी है आग लगी है, भाई जल्दी आओ,
देखो सारा घर जलता है, पानी डाल बुझाओ।
छप्पड़, कड़ी, किवाड़ जल गये चटक रहे हैं बाँस
देर हुई तो जल जाओगे, रोते-मलते हाय।"

"शिशु-प्रमोद' की ये पंक्तियाँ कालव्यग्र परिस्थिति की उक्ति-द्रुतता के लिए सनातन उदाहरण-सी मालूम पड़ती हैं।

सरलता:—भावुक हृदय जब ऐसी भावविह्वल परिस्थिति में हो जाता है कि वचन तथा भाव कर्म में साकार होना चाहते हैं तो कथोपकथन में सरलता आ जाती है। चित्र-

कूट में प्रायश्चित्त के निमित्त आकुल भरत के लिए वशिष्ठ को एक चरम वेला में सीधे यह कहना पड़ता है कि तुम और शत्रुघ्न बन में रह, जाओ, और राम-लक्ष्मण-सीता अयोध्या वापस चले जाएँ। भरत को उस समय और कुछ नहीं सूझता और वे सरल समाधान के ब्यौरे रख देते है—जैसे भरत और शत्रुघ्न बन जाएँ, राम, लक्ष्मण, सीता अयोध्या जाएँ, अथवा, भरत अकेले वन जाएँ और सभी घर लौट जाएँ, अथवा, तीनों भाई वन जाएँ और राम सीता लौट जाएँ। राम के प्रति उद्गार व्यक्त करने में भरत को केवल बचपन से चली आती सरल स्मृतियाँ ही सूझती हैं—बालपन से ही संग नहीं छोड़ा, राम अपराध करने पर भी खिन्न नहीं हुए, खेल में भरत के हार जाने पर जिता दिया, और भरत ने भी संकोचवश सामने कुछ बात नहीं की, भर आँख देखा भी नहीं, दर्शन के लिए तो आज तक तरस रहे हैं। ऐसे अवसरों पर विशेषण और वाक्य की भाषा दर्शनीय नहीं होती।

उत्कंठा:—जिस परिस्थिति में भयंकरता अथवा व्यक्तियों का रौद्र—भयावह नर्तन होता है, उसमें अथवा उसके ठीक बाद, कथोपकथन में एक तनाव, उत्कंठा-सी हो जाती है। 'आकाशदीप' के प्रारम्भ में—;

'वन्दी।'

'क्या है ?'

'मुक्त होना चाहते हो ?'

'अभी नहीं, सोने दो'....। यह उत्कंठा का उदाहरण है।

'शेखर' के आरम्भ में 'फांसी !' शब्द से उत्कंठा अक्षरशः जगा तो दी जाती है, पर निभती नहीं।

इस तरह जहाँ विराट् तथा नाटकीय का संयोग हो जाता है, वहाँ भाषा कुछ घुटी खोपड़ी-सी हो जाती है लेकिन उसमें स्फीत-शिर उत्साह देखने को मिलता है। पाठक के प्राण उत्कंठा से कंठगत हो जाते हैं।

उसी प्रकार वर्ग के अनुसार शील तथा उक्ति के सामंजस्य का विचार रखना चाहिए। उदाहरणतः प्रोफेसर की बातचीत में ग्रन्थ-क्लिष्टता, सम्पादक की बातचीत में सभी वादों की सामयिक-असामयिक चर्चा, बीमा के एजेंट की बातचीत में मुवक्किल के लड़के-वाले के समाचार की जिज्ञासा तथा उसकी लड़की की शादी के लिए कल्पना के चार-पाँच घरों और वरों के रूप-वैभव का बँधा-बँधाया वर्णन या उसके शत्रुओं की कुछ यों ही शिकायत, मौसम के विषय में पसन्द पड़नेवाली कुछ बात और उसीमें धीरे-धीरे अपने लक्ष्य का प्रवेश आदि रहेंगे, तो हम आसानी से पहचान सकेंगे। फिर वर्ग के साथ संस्कृति का भी विचार आवश्यक है। माना कि किसी उपन्यास में एक पात्र कलाकार है। अब उसके विचारों को प्रकट कराने के लिए उपन्यासकार किसी किसान के नौजवान लड़के से उसका झगड़ा कराये, और वह जितना बोले उतनी ही शास्त्रीयता (अथवा सरलीकृत शास्त्रीयता)

से किसान का लड़का भी उसके साथ विनोद छे दे तो उस लड़के की अचानक की यह संस्कृति नेपथ्य-भाषित सी लगेगी। अथवा कलाकार को छोड़िए। मन की किसी स्थिति में कोई विद्वान् अपनी किसी जटिल समस्या पर एक लम्बी चौड़ी वक्तृता उस किसान जवान को सुना दे, तो इसमें न तो संस्कृति का, न श्रोता-प्रतिपात्र का ही विचार दीख पड़ेगा। उसे एक दीवाने की उपाधि मिल सकती है। लेकिन जहाँ उपन्यास में शील की सामान्य गति-विधि तथा गुण-योजना से उसकी दीवानगी मेल न खाती हो, वहाँ व्यर्थ ही श्रोता के रूप में अनुपयुक्तपात्र को बिठाकर विद्वान् महोदय 'ब्राडकास्ट' ही कर सकते हैं।

प्रेमचन्द जी ग्रामीणों के वार्त्तालाप, विवाद अथवा कथोपकथन में एक तरफ तो प्रचलित कहावतों, मुहावरों, चित्र-वाक्यों की भरमार रहने देते हैं, दूसरी ओर शब्दों के प्राकृत-जन-संस्करण, या ग्राम्य-रूपान्तर भी प्रयुक्त करते जाते हे जिससे उनकी ग्रामीणता की चेतना बनी रहे।

पात्रों की बातचीत में उर्दू की तर्जियत है। बातचीत में उदारता अधिक है। ऐसा मालूम होता है कि रस लेने के लिए अथवा रस ले-लेकर, वे बातें करते हैं और सभी शैली में बोलते हैं। गंभीर तथा कर्मठ लोगों का संयम, और फलतः उत्कंठा, नहीं के बराबर है। जहाँ चार जने जुट जाते हैं, वहाँ या तो हास लीला, या गोष्ठी (विवाद के अवसरों पर) या मित्रमंडली का आनन्द रहता है।

"तू जो बात नहीं समझती, उसमें टांग क्यों अड़ाती है। भाई ! मेरी लाठी दे दे और अपना काम देख। यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है। नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गये।....जब दूसरों के पावों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।"

अन्तिम वाक्य को पढ़ते-पढ़ते लगता है जैसे किसी परीक्षार्थी को कई मुहावरों का प्रयोग करने के लिए कहा गया है, और उसने ऐसी बन्दिश बाँध दी हो कि सभी एक ही जगह खप जायँ। ऐसे उदाहरण, अनेक मिलेंगे। ध्यान से देखिए। होरी दूसरों के पाँव-तले नहीं कहता, जो परिष्कृत रुचि के लिए भी काफी था, बहुवचन का आग्रह रखता है। फिर दिहाती लोगों का कुछ ऐसा बँधा-बँधाया अभ्यास होता है कि 'जब यह बात तब या तो यह बात' कह कर ही वाक्य-शान्ति पाते हैं।

होरी कहता है 'जब दूसरों के पाँवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, उन पांवों के....।' 'उन पांवों' के पहले 'तब' या 'तो' को उड़ा देने की संस्कृति भी, पता नहीं कैसे होरी की हो गई है। धनिया या पुनिया के लिए, झगड़ने, व्यंग्य करने, ताने कसने या रोष-प्रलाप करने की जो स्वभाव-सिद्ध आवश्यकता है उसमें अगर थोड़ी किरकिरीदार भाषा और शब्दों का बवंडर रहे तो बात उचित मालूम होती है। लेकिन भोला, होरी, झुनिया, सिल्लो आदि की तबीयत और राय साहब, मिर्जा की तबीयत में केवल छोटे-बड़े शब्दों का भेद

हो तो यह बात खटकती है। ढांचा प्रायः एक ही है। बीच-बीच में 'परसाद', 'असनान', 'रस-बस', 'इनगिलजा', 'मिरजई', 'मेहरिया' आदि के आ जाने से बात बनती नहीं।

रस की बात और बात के रस में भेद है। पहले में परिस्थिति निबद्ध पात्रत्व का विचार रहता है, दूसरे में शब्दराग की स्वच्छन्दता होती है। सब कुछ कह लेने के बाद भी चमत्कार का कुतूहल बना ही रहता है। बात यह है कि उपन्यासकार के हृदय-कमल की पंखुड़ियों का उड़-उड़कर पात्रों के मुंह को ढंक लेना तो बुरा मालूम होता है, लेकिन उसके पराग के सूक्ष्म सौरभ की विशेषता, जो अन्य उपन्यासकारों से उसे पृथक् करती है, पहचान के लिए जरूरी है। प्रेमचन्द जी प्रसंगों की उद्‌भावना कर सकते हैं तो अवश्य, लेकिन जितना पात्रों के कर्मों के द्वारा नहीं, उतना बातचीत के द्वारा उनमें प्राण डाल-कर। यदि प्रेमचन्द के उपन्यास में सिकन्दर एक पात्र होता तो उसकी खुली मुट्ठियाँ मूक संकेत नहीं करतीं कि लोग संसार से खाली हाथ जाते हैं, इसपर जरूर कुछ न कुछ शैली की ठिठोली होकर रहती। प्रेमचन्द जी सामान्यतः उपन्यासकार नहीं, विशेषतः 'गल्प' कार हैं। उनके किसी उपन्यास या आख्यायिका को इन्हीसे पहचाना जा सकता है। और इसमें उनकी बराबरी करने वाला कोई नहीं।

ध्यान देने की बात है कि 'मुदा' और 'लिलाम' के साथ-साथ होरी की बातों में—'सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है, उन्होंने पूर्वजन्म में जैसे कर्म किये थे, उसका आनन्द भोग रहे हैं'—के तत्सम—प्रयोग का आदर्श भी है।

फिर भी सामान्यतः प्रेमचन्द जी शील-परिस्थिति और भाव-मुद्रा का बड़ा ही सरल सामंजस्य उपस्थित करते हैं। भोला को भूसा देने के लिए होरी धनिया को फुसलाना चाहता है। कहता है—'मैंने तो कह दिया, भैया, वह नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती, गालियों से बात करती है; लेकिन वह यही कहे जाय कि वह औरत नहीं, लक्ष्मी है। बात यह है कि उसकी घरवाली जबान की बड़ी तेज थी। बेचारा उसके घर के मारे भागा-भागा फिरता था। कहता था, जिस दिन तुम्हारी घरवाली का मुंह सबेरे देख लेता हूँ, उस दिन कुछ-न-कुछ जरूर हाथ लगता है। मैंने कहा—"तुम्हारे हाथ लगता होगा, यहाँ तो रोज देखते हैं, कभी पैसे से भेंट नहीं होती।"

यहाँ नाक पर मक्खी नहीं बैठने देती' मुहावरे की निश्चित विशेषता 'गालियों से बात करती है' की दुहरी वास्तविकता में घुल-मिल जाती है। दुहरी इसलिए कि भोला की कल्पित स्त्री गालियों से बात करती थी, इधर झुनिया का भी तो यही स्वभाव है। होरी का यह दैनिक सौभाग्य है।

लेकिन 'वह यही कहे जाय' और 'वह यही कहता जाता था' में भेद है। बार-बार कहने के आग्रह का कितना सुन्दर लेखा है यह! लाख मना करने पर भी न मानने की ध्वनि है। धनिया औरत नहीं है, लक्ष्मी है, यह कहकर तुरत होरी यह न कहता कि सबेरे

मुंह देख ले से कुछ-न-कुछ मिल जाता है, क्योंकि यह तो साध्य और प्रमाण की शृंखला जैसा लगता । बीच में भोला की घरवाली की जबान के तेज होने की बात कही जाती है । धनिया भी तो ऐसी है । धनिया लजायेगी, इस बार कम-से-कम पति का विरोध नहीं करेगी । अथवा प्रशंसक भोला की दृष्टि में जबान की तेज होकर गिरना नहीं चाहेगी । ऐसी हालत में सवेरे मुंह देखने के फल की बात, और तब होरी के द्वारा की गयी निन्दा भी, कही जाती है, जिसमें होरी से चिढ़कर भोला से धनिया और अधिक प्रसन्न हो जाय ।

गाय को हीरा विष देता है, उस समय के प्रसंग को देखिए । प्रेमचन्द जी ने इस प्रसंग में जितना संयम, जितनी स्वाभाविकता दिखाई है, उतनी शायद ही और कहीं । परिस्थिति कूट परिहास की है । परिहास में नियति की निर्मम मुस्कान है ।

हीरा गौ को विष दे चुका है । उसी समय होरी आ जाता है । होरी के कौड़े पर हीरा आ गया, होरी को जैसे क्या नहीं मिल गया । उसी क्षण वह पिघल कर मोम हो जाता है । सोचता है, हीरा दिल का साफ है । कैसा करुण-व्यंग्य है । हृदय के भोला-नाथों की यही हालत है । बीच में बोल-चाल तक बन्द थी । वर्षों के मन-भेद के बाद जो स्नेह उमड़ता है, उसमें संकोच बहुत रहता है—इसलिए बातचीत में इधर-उधर का बहाना रहता है ।

होरी पूछता है—'तमाखू है कि ला दूं ?'

हीरा—'नहीं, तमाखू तो है, दादा !'

तमाखू लाने की बात में जो आवभगत है, उसमें आत्मीयता के साथ संकोच भी है । 'दादा' का सम्बोधन ! होरी को अमृत मिल गया । साथ ही याद कीजिए, विष देनेवाला हीरा यह कह रहा है । अपराध की चेतना के साथ भय, पश्चात्ताप और ग्लानि के कारण कितनी पूंजी खर्चकर उसने 'दादा' कहा होगा । भोले हीरा के बाल सुलभ अज्ञान की कल्पना कीजिए ।

बातचीत करने का कौन बहाना ढूंढ़ा जाय । सोभा भी तो है ।

होरी कहता है, 'सोभा तो आज बहुत बेहाल है ।' कोई दवाई नहीं खाता तो क्या किया जाय । उसके लेखे तो सारे वैद्य, डाक्टर, हकीम अनाड़ी हैं । भगवान् के पास जितनी अक्ल थी, वह उसके और उसकी घरवाली के हिस्से पड़ गई ।' 'कोई' कैसी सरल तथा सरस उपेक्षा है ।

तीन भाई अलग होते हैं । फिर दो भाइयों में मेल हो जाता है और तीसरे की शिकायत करते हैं, वह भी ऐसी शिकायत जिसमें स्नेह का क्रोध छिपा हुआ है । यहाँ मन-मुटाव के क्रमशः धुलने का सूक्ष्म आनन्द बड़ा ही मार्मिक है ।

होरी को अब मौका मिला कि दोनों को अपना ले । हीरा ने सोभा को दुराग्रही कह कर छांटा । होरी हीरा को भी दुराग्रही सिद्ध कर देता है, तो स्नेह में तीनों की छाया-मूर्ति डूब जाती है । होरी अब दौड़ पड़ता है ।

'यही तो बुराई है उसमें । और चिढ़ने तो बीमारी में सभी हो जाते हैं । तुम्हें याद है कि नहीं, जब तुम्हें इंफिज़ा हो गया था, तो दवाई उ ाकर फेंक देते थे । मैं तुम्हारे दोनों हाथ पकड़ता था, तब तुम्हारी भाभी तुम्हारे मुंह में दवाई डालतीं थीं । उस पर तुम उसे हजारों गालियाँ देते थे ।"

कुछ दिन पहले धनिया से लड़ाई हुई थी । स स्मृति से भाई के स्नेह का भूखा होरी किस तरह एक हो जाने और एक बना लेने के लिए आतुर दीखता है ।

"हाँ दादा, भला वह बात भूल सकती है ? तुमने इतना न किया होता, तो तुमसे लड़ने के लिए कैसे बचा रहता ?"

उधर होरी के भ्रातृ-वात्सल्य की स्मृति, इधर विषपान की स्मृति ! आत्मधिक्कार के सभी सर्प एक ही साथ अन्तरात्मा में विष घोल रहे हैं ।

भोला होरी दया से भर जाता है—"बेटा, लड़ाई-झगड़ा तो जिन्दगी का धरम है ।" आदि ।

डाक्टर मेहता की स्पीच, बीच-बीच में खन्ना, ओंकारनाथ जैसे दिलजलों की द्वेषावृत टीका, मिर्जा साहब की सहानुभूतिपूर्ण लेकिन स्वतन्त्र उक्तियाँ अत्यन्त ही सुन्दर उतरी हैं। राय साहब जैसे रुग्ण-श्लथ शील की बातों में उदार विस्तार, मेहता की बातों में तर्कपूर्ण वैदग्ध्य तथा वैयक्तिक मर्माक्षेप, ओंकारनाथ की बातों में साहित्यिक योग्यता, स्वतन्त्र विचार, तथा सम्पादकीय की शैली देखने को मिलती है । मालती नचानेवाली पुतली न होकर जब मेहता के लिए नाचनेवाली हो जाती है, तो उसकी बातों में आक्षेप, झीने आवरण की निर्लज्जता तथा नखरे आ जाते हैं। कर्कशा पुन्नी की शैली में बौछार का एक झटका देखिए । ऐसा लगता है जैसे हवा की चौआई चल रही हो—'तेरी मिट्टी उठे, मरी आये, देवी मैया तुझे लील जाएँ, तुझे इन्फ्लुएँजा हो जाए । भगवान् करे तू कोढ़ी हो जाए, हाय-पाँव कट-कट गिरें ।

हीरा के शील के कोणत्व के योग्य उक्ति देखिए । मृत्यु तक आदमी सह सकता है। काली माई आई, उठाकर ले गई, लेकिन कोढ़ी होना, हाथ-पाँव का कट-कटकर गिरना । हीरा बिगड़ता है—'हाथ-पाँव कट-कटकर गिर जाएँगे, तो मैं तुझे लेकर चाटूंगा ! तू ही मेरे बाल-बच्चों को पालेगी ? एं ! तू ही इतनी बड़ी गिरस्ती चलायेगी ? तू तो दूसरा भरतार करके किनारे खड़ी हो जायगी ।' यह तो मत्यु होने पर भी हो सकता था, मगर हाथ-पाँव कटने की बात ही और है ।

राय साहब के यहाँ गोष्ठी में मिर्जा साहब ही मस्त हैं, और तो सभी शास्त्र के भारी-भरकम हाथी या लदे-लदाये ऊँट हैं—'विवाह को मैं सामाजिक समझौता समझता हूँ और उसे तोड़ने का अधिकार न पुरुष को है, न स्त्री को । समझौता करने के पहले आप स्वाधीन हैं, समझौता हो जाने के बाद आपके हाथ कट जाते हैं ।"

स्पष्ट है कि यह ग्रंथों की वैज्ञानिक भाषा है । यह भाषा न तो व्यक्ति के माध्यम से गुजर चुकी है, न इसका साधारणीकरण ही हो पाया है । 'एक बार बाँह पकड़ ली और फिर छोड़ दिया, ऐसे आदमी को मैं मर्द नहीं कह सकता । पहले पकड़ो नहीं, पकड़ी तो निभावो ।' यह बात लोकग्राह्य होती । लेकिन यह समाज ग्रंथ-ज्ञान के अजीर्णवालों का है । इसलिए कृत्रिमता को उपहास्य बनाने के लिए कुछ हद तक इस शैली की वकालत की जा सकती है ।

मिर्जा के 'आपको इल्म की कसम, माशूक की अदाओं की कसम, अपनी इज्जत की कसम, पीछे कदम न हटायें !' को कौन भूलेगा !

यह दिल्लगी नहीं, दिल्लगीबाजी है । ओंकारनाथ जी जब शराब पी लेते हैं तो वाह-वाही का क नमूना देखिए....'वाह देवी जी ! क्या कहना है ! कमाल है मिस मालती, कमाल है ! तोड़ दिया, नमक का कानून तोड़ दिया, धर्म का किला तोड़ दिया, नेम का घड़ा फोड़ दिया ।'

यह हॉल के शोर-गुल का समवेत स्वर है । लेकिन आप आवाजें पहचान सकते हैं । देवीजी कहने वाले मेहता होंगे, मिस मालती कहनेवाले खन्ना हैं, तथा नमक का कानून तोड़वाने वाले सिवा मिर्जा साहिब के कौन होगा ?

ओंकारनाथ जी जहाँ शराब पी लेते हैं वहाँ वाक्य से 'ने' चिन्ह लुप्त होने लगता है । 'तुम हमारी तारीफ क्यों की ?'—एक ही बात धक्के से तेहराई जाती है । 'क्यों की ?' क्यों की ?' बोलो, क्यों हमारी तारीफ की ?'

'हम किसी का नौकर नहीं हैं'—हिन्दी बंगालियों और विलायतियों की ही जाती है । भाषा में एक ओर गुंडा-तत्त्व आने लगता है, दूसरी ओर सानुनासिक का लोप होने लगता है, और कोमलता आने लगती है, जिसमें व्यंजन स्वर होने लगते हैं–'हम किसी के बाप का नौकर नई हैं' ।' पण्डित जी साहब की बोली बोलने लगते हैं । फिर शब्दों की छूत से कल्पना काम करने लगती है । हम खुद संपादक हैं । 'हम "बिजली" का संपादक हैं । हम उसमें सबका तारीफ करेगा । देवी जी, हम तुम्हारा तारीप करेगा ।' उच्चारण भी कष्ट-साध्य होने लगता है । 'फ' तक न पहुँच कर पण्डितजी 'प' तक ही रह जाते हैं ।

उसके बाद धीरे-धीरे अर्थ, सम्बन्ध, संगति आदि के धर्म लुप्त होने लगते हैं । अन्त में अतिशयता घर दबाती है । 'हम कोई बड़ा आदमी नहीं है । हम सब का गुलाम हैं । हम आपका चरण-रज है । मालती देवी हमारा लक्ष्मी, हमारा सरस्वती, हमारा राधा ।...

मेहता-प ान में उसी तरह लूट-खसोट, सरकार के प्रति उद्दण्ड निर्भीकता' गाली-गुफ्ता गया शब्दों के प ानी संस्करण देखने को मिलते हैं ।

'हम' के बदले 'अम', 'कहाँ जाते हो तुम' के बदले 'कहाँ जाता तुम', 'अभी' के बदले 'अबी', तथा जशन मनाने , हुस्न पर आशिक होने, कबीले के खान होने तथा दिलदार

कहकर सम्बोधन करने का जो सिलसिला है, उसमें दर्शन के प्रोफ़ेसर और सरहदी प ान का भेद ही नहीं रह जाता उन तालीम के जाहिलों के लिए।

इसी तरह नोखेराम, पटेश्वरी, मातादीन, झिंगुरी, दुलारी सहुआइन आदि जहाँ जुट जाती हैं वहाँ बातों में दिहाती कहावतों, मुहावरों की भरमार हो जाती है।

औरत औरत से कैसे चिढ़ सकती है, यह देखिए। झुनिया के बोलने पर दुलारी सहुआइन कहती है—'बाकी भाई, बड़ी गालदराज औरत है न।' 'बाकी भाई' का सुखन तकिया कितना मौजूँ है! उसी तरह गुलाबी साड़ी देखकर जब होरी छेड़खानी करता है तो सहुआइन के बनने-मटकने के शब्द भी उतने ही लाजबाब हैं।

गोबर के जाते समय होरी की प्रार्थना, तथा मृत्युशय्या पर धनिया से कहे गये उसके अन्तिम शब्द तो करुणा के पुटपाक ही हैं।

सुनीता

(१)

'सुनीता' में शील-निरूपण एक विपरीत यज्ञ है जिसमें बलिवेदी पर पशु ही देवी को कवलित कर जाता है। बलिवेदी है श्रीकान्त की मैत्री-भावना या वीर-पूजा। देवी है हरिप्रसन्न, और यज्ञ-पशु है सुनीता। शक्ति और रहस्य के इस शील-यज्ञ की परावधि तक यज्ञ-पशु सुनीता हरिप्रसन्न को निमित्त मात्र बना छोड़ती है। जैनेन्द्र जी ने बाएँ हाथ से काम लिया है। उनकी पद्धति किसी कुशल सव्यसाची की है, और यह यज्ञ समर्पण का यज्ञ न रह कर यदि आप क्षमा करें तो, व्यक्तित्व के अप-हरण का 'ज्ञय' हो जाता है। हरिप्रसन्न से कहीं अधिक सशक्त तथा रहस्यमयी सुनीता ही हो जाती है।

सहृदय की सहानुभूति तथा गौरव-स्वस्तिका पाने के लिए हरिप्रसन्न और सुनीता में एक होड़-सी है। हरिप्रसन्न प्रारम्भ से ही बेतहाशा दौड़ता है, और आगे चलकर हाँफने लगता तथा पीछे से आनेवाली सुनीता को मुड़-मुड़कर देखता जाता है। सुनीता शुरू में तनिक धीमी चाल से चल कर शक्ति संचित किए रहती है और फिर अदम्य प्राण से बढ़ कर बाजी मार लेती है। कवलित कर जाने का तात्पर्य शील की अपेक्षाकृत अधिक रमणीयता से है।

(२)

ध्यान देने पर यह बात और भी अपेक्षणीय हो जाती है। कल्पना कीजिए, सुनीता नौकारूढ़ है और फिर भी उसकी दृष्टि इतनी अव्यर्थ है कि वह जग को चलते नहीं देखती। हरिप्रसन्न घाट पर बैठा है फिर भी उसका सिर चक्कर खाने लगता है।

सुनीता हरिप्रसन्न को अपने पति की रागरंजित पुतलियों से देख चुकती है, तब हरिप्रसन्न का साक्षात्कार होता है। जो समय प्रणय-केलि तथा सुहाग के मदिर मुक्तक क्षणों में बीतता, उसे श्रीकान्त परोक्ष हरिप्रसन्न के लुब्ध कीर्तन में बिताता है। दिन-रात हरिप्रसन्न के अनन्वय व्यक्तित्व की ही चर्चा रहती है। हरिप्रसन्न तो सुनीता के लिए एक सूक्ष्म सपत्नी की चुनौती लिए आता है और रहता है। इसके दो परिणाम हो सकते थे (क) या तो सुनीता असूया की अगोचर पृष्ठभूमि के कारण हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व के प्रति अनुदार हो जाती (यह तब जब सुनीता एक व्यक्तिमात्र रहती) अथवा (ख) पति के मुँह से ऐसी प्रशंसा सुन कर वह हरिप्रसन्न को पर-पुरुष नहीं, अति पुरुष समझती

और नारी-जाति की सहज साधारण विजय-वासना से टूट पड़ती। इस तरह टूट पड़ने का अर्थ होता लोभ की वे ललचायी आँखें जिन पर पूर्व-राग का नशा चढ़ा होता। तब वह हरिप्रसन्न का अतिमूल्यन कर बैठती और शरीर का चाहे जो होता, भावना का सतीत्व अभ्रष्ट नहीं रह पाता। हरिप्रसन्न के साक्षात्कार के पहले उसको ले कर श्रीकान्त सुनीता को पूर्व-राग की मदिरा पिलाता चलता है। लेकिन नशे के बावजूद सुनीता में जैसी है वैसी बने रहने का साहस है। उसकी यह एकान्त प्रकृतिस्थता रति की नग्न मुद्रा को भी एक दार्शनिक गौरव-प्रदान करती है। लगता है जैसे शल्यचिकित्सा सीखने वाले विद्यार्थी के सामने नग्न शरीर रख दिया गया हो, जिसे शरीर की रचना से मतलब है, वासना से नहीं।

एक देवर के आसक्त होने पर एक भाभी ने जमालगोटा खाकर मल-मूत्र का कुंड इकट्ठा कर उसे दिखाया था और देवर को विरक्ति हो गयी थी, क्योंकि वासना को उत्तर मिल गया था। वह भाभी स्पर्श से भागती है। ठीक वैसी ही वितृष्णा का आघात, नहीं चाहते हुए भी, सुनीता पहुँचाती है नंगी लेट कर और 'आओ लो' कह कर।

हरिप्रसन्न कहता है, 'तुमको चाहता हूँ, समूची तुमको चाहता हूँ" । इसका पूरा उत्तर भी वह दे देती है, तथा स्पर्श से भागती नहीं, भगा देती है। प्रवृत्ति को चुनौती दे कर वह निवृत्ति पैदा कर देती है।

सुनीता के इन व्यवधानों के विपरीत हरिप्रसन्न को कुछ विशेष सुविधायें हैं। वह सुनीता से कम बात करता है, क्योंकि सब कुछ होने पर भी सुनीता 'भाभी' है, अर्थात् उसकी अपनी वहीं तक जहाँ तक जाने के बाद वह मित्र की धर्मपत्नी हो जाती है। शायद इस दूरी से कुछ मोह के असत्-रंजन की आशंका भी हो। लेकिन एक समय आता है जब हरिप्रसन्न का आदर्शवाद स्वप्न का नील व्योम छू लेता है, और ठीक इसी समय सुनीता उसके लिए इतनी निकट और इतनी पूर्णतः समर्पित मिलती है कि एक ही बात होनी चाहिये थी। अज्ञेय तथा अचिन्त्य रहस्य के, निरपेक्ष प्रश्नचिह्न के, आह्वानों के बीच रहने वाले हरिप्रसन्न में सुनीता हाड़मांस वाली घनिष्ठ काया के लिए उपेक्षा होनी चाहिए थी। लेकिन भावनाओं और आदर्श प्रेरणाओं के आरोप के बावजूद वह चट्टान, और वह चाँदी की रात, और वह एकान्त और वह सिहरा देने वाला, जगा देने वाला कम्प समीर—ये सभी मिल कर उस जंगल में अपना षड्यन्त्र पूरा कर ही लेते हैं। समाज तथा शिक्षा के संस्कारों को हटा कर वे निसर्ग की वह सोई भूख जगा देते हैं जिसमें हरिप्रसन्न व्यक्ति नहीं, जाति हो जाता है। वह पुरुष हो जाता है और उसे स्त्री का आरोपित उन्नयन नहीं चाहिए, मानस-पूजा नहीं, त्वचा-संवेदन चाहिए। सुनीता तो केवल उसकी मज्जा के मूक उत्थान को अभिव्यंजित कर देती है। पुरुष नारी को जिस सम्पूर्णता में पा सकता है या पाना चाहता है वह है नग्न और अबाधित स्पर्श-सुख।

आलिंगन आदि उसी की प्रक्रियायें हैं। स्पर्शेन्द्रिय को छोड़ अभी तक प्रकृति के पास कोई साधन नहीं जिसके द्वारा वह पहले और अन्तिम पुरुष को पहली और अन्तिम नारी को पूर्णतः आत्मसात् करने की सिद्धि दे दे। ब्राउनिंग के 'Pophyria's Lover' में प्रेमी प्रेयसी को, सर्वथा और सर्वदा के लिए पाना चाहता है, और उसी की लटों से उसका गला घोंट देता है। यह हिंसा के माध्यम से प्राप्त सम्पूर्ण सिद्धि भी शारीरिक या स्पर्शेन्द्रिय की अपेक्षा करती है। दूसरी बात। वह हिंसा इसलिए करता है कि वह हरिप्रसन्न की तरह केवल सम्पूर्णतः पाना नहीं चाहता, बल्कि सर्वदा के लिए भी। उसके मन में भय है कि शायद यह क्षण फिर न आए। अतः क्षण और सत्ता दोनों की अमर-सम्पूर्ण सिद्धि के लिये वह मैथुन नहीं, हिंसा करता है। उसके मन में आशंका है कि वह कहीं खो न दे। इसलिये प्रेयसी की हत्या प्रेमी की आशंका की हिंसा है; हत्या नहीं, आत्महत्या है। उसमें समाज वैरी है, यहाँ समाज की ओर से छुट्टी है। इस-लिए यहाँ केवल सम्पूर्णतः पाने की भूख है। और इसीलिये केवल रति पर्याप्त है। वहाँ देश और काल दोनों की सम्पूर्त्ति अभीष्ट है, यहाँ केवल देश की सम्पूर्त्ति। नारी इस बात को जानती है; क्योंकि तात्विक दृष्टि से हरिप्रसन्न और श्रीकान्त में कोई भेद नहीं। इस विशेष परिस्थिति में तो श्रीकान्त का सर्वात्मना समर्पण का आदेश भी है। इसलिए नारी के मनोयोग में पाप नहीं रह जाता। बेचारा पुरुष नहीं जानता, और जैसे पशु का शरीर उसे छोड़ कर चला जाय वैसे ही यथार्थ के विषम एकान्त में हरिप्रसन्न के आदर्श तथा उन्नयन उसे धोखा दे कर झोंक देते हैं। अब तक जब जीत नहीं रही तो हरिप्रसन्न के मैथुन नहीं करने से बात कुछ बन नहीं जाती। यह तो पुरुष की—आदर्श भावुक पुरुष की—शाश्वत कुंठा, संकोच या कायरता है। 'ताया' के सन्त की यही हालत होती है। उन्नयन लगता है जैसे स्त्री के लिए सहज ही संभव हो, क्योंकि वह नग्नप्रकृति है और नग्न प्रकृति को जानती है। लेकिन पुरुष तो पुरुष और नारी दोनों के संसार में रहता है। पुरुष का संसार उसका समाज है, और स्त्री उसका एकान्त है। समाज और एकान्त का यह द्वन्द्व उसे घोंट डालता है। नारी के लिए पुरुष में समाज और एकान्त दोनों हैं, क्योंकि नारी के लिए पुरुष के बिना न तो एकान्त का, न समाज का ही कोई मतलब है। इसलिए वह बीस क्या बाईस पड़ती है। यदि यह कहा जाय कि हरिप्रसन्न को एकान्त से उत्तेजना मिलती है तो बात सतह की है। हरिप्रसन्न तो असाधारण एकान्तवादी, और आदर्शप्राण-पुरुष का रूप है। ऐसे व्यक्ति को तो एकान्त के तथा नित्य के यथार्थ-सम्पर्क से सुनीता के प्रति उपेक्षा होनी चाहिए थी।

(३)

इस उपन्यास में श्रीकान्त बाएँ हाथ से सुनीता तथा दाएँ हाथ से हरिप्रसन्न को पकड़े खड़ा है। फिर हरिप्रसन्न दाएँ हाथ से सुनीता तथा बाएँ से श्रीकान्त को पकड़े

खड़ा है । एक प्रवाह-मंडल है; प्राण का, प्रेम का, पुण्य चक्र है । इस तरह मित्र हरिप्रसन्न की स्थिति पति और पत्नी के बीच विभाजक की नहीं, संयोजक की है । परिवार में श्रीकान्त और सुनीता क्रमशः घर और बिजली की तरह रहते हैं । हरिप्रसन्न बटन है । परिस्थिति जब-जब उसे दबाती है तो सुनीता की बिजली फूट पड़ती है और तब कहीं घर को बिजली के प्रकाश की चमक मिलती है । कभी-कभी तो बिजली फूट पड़ती है । तब हम देखते हैं कि अनजाने ही बटन दबाया गया है । सुनीता को देखकर जब हरिप्रसन्न रह-रह कर विचलित हो जाता है और आग्रह से 'भाभी' कहता है, तो लगता है यह शम-दम-नियम-नीति का स्मृति-योग है, स्वभाव नहीं । वह आँखें नीची कर लेता है, या आदर्शों तथा कल्पनाओं के एकान्त में चला जाता है । पर वह झकझोर दिया जाता है, यह बात शायद श्रीकान्त भी जानता है । श्रीकान्त और सुनीता की आत्मीयता है, ममता नहीं । ममता ईर्ष्या करती है, आत्मीयता विश्वास । आत्मीयता का प्रसार हो सकता है, ममता की कृपणता, संकीर्णता होती है । इसीलिए श्रीकान्त सुनीता और हरिप्रसन्न के एकान्त को न सिर्फ बाधा नहीं पहुँचाता बल्कि प्रोत्साहन देता है । लेकिन आत्मीयता सादी, मूक, अन्तर्मुखी हो जाती है । उसमें स्वीकृति है इसलिए भेद-जन्य आकर्षण नहीं । उसमें सज-धज, बेल-बूटे, वासक-सज्जा अभिसारिका की रंगीनी तथा गर्म उच्छ्वास, और लबा-लब भावों के लिए अवकाश नहीं । वह समागम के बाद का शृंगार है जो निर्वेद-सा लगता है । जब ऐसा भाव व्यवहार के जीवन में जीर्ण पड़ता चलता है तो वह विरुचि या उचाट जैसा लगता है । इस विरुचि के लिये विरह ही संजीवनी है । पूरे उपन्यास में श्रीकान्त इस विमन जीवन का धन्वन्तरि-कल्प करना चाहता है । बिछुड़े साथी हरिप्रसन्न की स्मृति इस विरह का काम करती है । पर यह विरह पलायन नहीं । सुनीता उसे देख ले, हरिप्रसन्न सुनीता को देख ले––इस व्याज से अचेतन मन उचटे संयोग का प्रसार कर उसमें संजीवनी फूँकना चाहता है । श्रीकान्त अन्तर्निष्ठ व्यक्ति है । इसलिए वह इतने बड़े संसार में सुनीता को नहीं झोंक सकता कि खुद खो बैठे । भूल से भी उसके हृदय में सुनीता के प्रति मृत्यु-वासना या विच्छेद-प्रार्थना नहीं । वह तो एक ऐसा भाव-समारोह चाहता है जो जीवन की इतिवृत्तात्मकता को थोड़ा सरस बना दे । आखिर उसकी आत्मीयता योगी की आत्मीयता नहीं । वह जीवन का भोग तो चाहता ही है, और भोग के लिए पति-पत्नी का इतना प्रगाढ़ परिचय घातक है । उसकी सुनीता बस अपनी हो गयी है तो हो गयी है । उसी तरह हरिप्रसन्न अपनी धुन में मस्त है तो मस्त है । स्त्री मित्र हो गयी है इसलिए उचाट है, मित्र ओझल हो गया है इसलिए आकर्षण है । अब पत्नी को अपनी विवाहिता के रूप में देखने से काम नहीं चलेगा । अब पत्नी का तीसरे की आँख में प्रतिबिम्ब देख कर थोड़ा अभिमान होगा, तब काम चलेगा । अब अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन करना नहीं तो

पता देना ही पड़ेगा। कीट्स के 'लामिया' में प्रेमी को एकान्त की स्वप्निल मादकता से ऊब हो जाती है, और वह दूसरों को दिखाना चाहता है। मनुष्य प्रेम करने से अधिक रस प्रिय की प्रशंसा सुनने में पाता है। आँखों में वह प्रिय को बन्दी रखता है, कानों से उसका यश सुन कर लगता है जैसे प्रिय पसन्द के लिए दुनिया के पास गया हो और फिर प्रशंसा के रूप में कानों की राह लौट आया हो। जब हम प्रिय की प्रशंसा सुनते हैं तो प्रिय दूसरों की आँखों तक जा चुका होता है। दूसरे की आँखों तक उसके जाने में प्रेमी के लिए विरह है। फिर प्रशंसा सुनने में प्रिय का लौटना होता है, जो विरह के बाद का मधुर समागम है। इस तरह पूँजी पर जीना नहीं होता, सूद भी मिलता चलता है। मगर श्रीकान्त को इससे खतरा हो सकता है। दुनिया में हर तरह के देखने वाले हैं। कुछ केवल देखते ही रह जाते हैं। उनकी टकटकी में प्रिय की छवि आप देख सकते हैं, और तब वह प्रिय वस्तु आपकी है इसकी मदिर अनुभूति होती है। लेकिन कोई-कोई तो देख कर पलक मूँद ले सकते हैं कि वह सुन्दर छवि बाहर ही न निकले। तब तो आप खो बैठते हैं। इसलिए श्रीकान्त यह नहीं कर सकता कि वह खूब सजाकर सुनीता को घुमाता फिरे और छिछोरे शोहदों के 'हाय राजा' सुन-सुनकर अपने भाग्य पर इतराये। माली की कल्पना कीजिए। माली की बाग के प्रति जो आत्मीयता है उसको सात्विक बल उन प्रमादियों से नहीं मिलता जो फूल की तारीफ करते हैं इसलिए तोड़ लेते हैं, सूँघते हैं, मसल देते हैं, बर्बाद कर देते हैं। उसे तो भौंरे से ही ऐसी सात्त्विक मित्रता, दो की एकनिष्ठता मिलती है। भ्रमर सारग्राही है। सारग्रहण करने से सौरभ का सतीत्व नहीं चला जाता। मित्र हरिप्रसन्न श्रीकान्त की सुनीता के लिये ऐसे ही भ्रमर के रूप में अपेक्षित है। हरिप्रसन्न कहता है—'समूची तुमको'। इसका अर्थ है असल तुमको। सुनीता दे देती है "लो"। 'समूची अपने को' देती है। उसमें नग्न शरीर की शारीरिकता नहीं, उसके पीछे की सार-भावना है। सार-भावना के आदान-प्रदान से सतीत्व खंडित नहीं होता। खंडित और अखंडित सतीत्व की बात आगे चलायेंगे। इस प्रश्न के उठने पर—और इस प्रश्न के उठे बिना रहना नहीं चाहिए—'सुनीता' समस्या-उपन्यास बन जाता है।

(४)

आत्मीयता और ममता का जो प्रसंग छिड़ गया है, उसके सिलसिले में एक बात दूसरे दृष्टिकोण से कहनी है। श्रीकान्त को, लगता है, सुनीता के प्रति आत्मीयता की भावना है लेकिन मित्र हरिप्रसन्न के लिए जैसे ममता हो। हरिप्रसन्न के लिए उसे इतनी ममता है कि वह सुनीता को अपनी स्त्री के रूप में न देख कर हरिप्रसन्न की भाभी के रूप में देखना चाहता है। मन का विश्लेषण करने वाले आधुनिक अन्तर्यामी कहेंगे इसमें अवश्य कोई ग्रन्थि है (जो जटिल बनायी जा सकती है)। उसकी रति में बद्ध-

आलम्बनत्व है ऐसा कहा जा सकता है । कह सकते हैं कि श्रीकान्त स्वयं हतवृषण सा है, केवल साक्षी पुंसक है । वह स्वयं भोग नहीं कर सकता । दूसरे को, जिसे स्वयं वह 'कामी नारि' की तरह चाहता है भोग करते देखकर ही उसकी शिरायें झना-झना सकती हैं, आदि-आदि । जैनेन्द्र जी विश्लेषणवादी हैं नहीं, इसलिए ऐसे कपोल-निदान के फेरे में पड़ना ठीक नहीं । श्रीकान्त की वास्तविक परिस्थिति की कल्पना करें । हरिप्रसन्न इसका विद्यार्थी जीवन का साथी--आदर्शवादी, खूब कर्मठ, अज्ञेय, अदम्य तथा मौलिक । श्रीकान्त उसकी सहायता करके भी अपने को कृतकृत्य समझता था । स्पष्ट है कि हरि-प्रसन्न की आदर्शवादिता, दृढ़ता, मौलिकता, स्वयं पर्याप्त व्यक्तित्व, सेवाव्रत तथा त्याग और सहज तपस्या के जीवन के लिए उसका मोह पुराना है । श्रीकान्त वकील हो गया है--उसके जीवन में अनिश्चय के प्रति सामरिक उत्साह नहीं, खतरे नहीं । विवाह के बन्धन से मुक्त, छुट्टा विचरता अल्हड़ जीवन नहीं । वह घेरे के भीतर है, दायित्वों के तले है । यह जीवन उसे सुरक्षित किन्तु साधारण, स्वचालित लेकिन नितान्त तृतीय श्रेणी का मालूम होता है । इसमें उत्साह नहीं, हल्का-फुल्का उपार्जन है; वीरता नहीं, तट की स्थिरता है । उसे हरिप्रसन्न के प्रति इस तरह श्रद्धा; थोड़ी ईर्ष्याजिन्य झुँझलाहट तथा करुणा भी है । श्रद्धा इसलिए कि वह महान् लगता है । ईर्ष्या इसलिए कि श्रीकान्त स्वयं फँस गया और हरिप्रसन्न गृहस्थी के झमेले में फँसा नहीं । और करुणा इसलिए कि बेचारा साथी कहाँ-कहाँ भटकता होगा; उसे सुधारना चाहिए । श्रीकान्त हरिप्रसन्न को सुधारना चाहता है तो इसका यह अर्थ है कि हरिप्रसन्न सुनीता को देखकर गृहस्थी के सौंदर्य तथा सुविधा को देखेगा तथा यह भी देख लेगा कि जो इसमें फँस जाता है वह कितना विवश है, कैसा बन्दी है ।

जीवन में हरिप्रसन्न उस शिव-साधना का उदाहरण है जो काम-भस्म करने के फेर में रहती है और कभी-कभी मोहिनी के पीछे दौड़ पड़ती है । जीवन में सुनीता नीतिमूलक वैष्णव प्रयास का उदाहरण है जिसमें कोई विकार ही नहीं होता, जहाँ काम एक लीला है--रंजन के लिए, आस्वादन के लिए नहीं । जीवन में श्रीकान्त नित्य-रमणीयता, नित्यरसात्मकता की वह खंडित अनुभूति है जो सेवा और विश्वास की लक्ष्मी या रुक्मिणी के पैर दबाते रहने पर भी घर से बाहर निकल पड़े भटकते, 'ओ तू ! पुकारते' साधक (हरिप्रसन्न) के लिए करुणा से छटपटाती है ।

श्रीकान्त, जो बारम्बार सुनीता और हरिप्रसन्न को एकत्र करने के लिए छट-पटाता है, रस की इसी खंडित अनुभूति से बचने के लिए ऐसा करता है । रस की खंडित अनुभूति का दूसरा रूप होता है एकरसता (monotony) । इससे श्रीकान्त मुक्ति चाहता है और इस तरह वस्तु के संदर्भ को बदल कर संदर्भ-भेद से हम उसका अर्थ बदलते हैं । सुनीता जब पत्नी से बदल कर स्त्री और भाभी हो जायगी तभी उसका तत्त्व

मुक्त दीख पड़ेगा, यानी सुनीता तब नारी हो जायगी—पुरुष की पूरक प्रेरणा तथा पुरुष के लिए चुनौती। एक अंग्रेज पात्र जब अपनी स्त्री से ऊब जाता है तो विवाह की अँगूठी उसकी उँगलियों पर से उतार लेता है और प्रतीक को हटाकर विवाह की स्मृति से भी मुक्त हो जाता है। वह इस तरह धर्मपत्नी की प्रेयसी-कल्पना कर मुक्तक-विभोर हो जाता है। श्रीकान्त भी सुनीता को धर्मपत्नी के संदर्भ से हटा कर 'हरिप्रसन्न की भाभी' के संदर्भ में रख देखता है और इस तरह एकरसता से, अवरुद्ध प्रवाह से बचना चाहता है।

(५)

सुनीता को एक समस्या-उपन्यास के रूप में देख सकते हैं। समस्या-उपन्यास इसलिए ही नहीं कि इसमें किसी रूढ़ि का खंडन और नया व्यवहार-दर्शन है, बल्कि इसलिए कि उपन्यास का अन्त होते-होते हम नारी को लेकर जिज्ञासा के द्वैत में टँग जाते हैं। "तब नारी क्या है ?" यही सुनीता का अन्तिम तथा पूरा परिचय है।

विवाह की मर्यादा की माँग है कि पर-पुरुष को शरीर नहीं दिया जा सकता। इधर पत्नी का धर्म है कि वह पति की आज्ञा का पालन करे। इसलिए विवाह की परम्परा निश्चित आचार-स्मृति है वह अपने ही विरोध से आपन्न हो जाती है, जब पति श्रीकान्त पत्नी सुनीता को हर तरह से 'हरि' को 'प्रसन्न' रखने का आदेश दे जाता है। सुनीता जब नंगी लेट जाती है और हरिप्रसन्न उसे चूम चुकता है तो क्या सुनीता सती रह गयी है, वह पतिव्रता भले ही हो ? यदि 'सती' का अर्थ 'हृदय-पति का' है तब तो वह सती है। यदि सती का अर्थ 'शरीर पति' का है तब तो वह पतिता है।

फारस के एक राजा ने अपनी स्त्री को कहा, "मित्रों के सामने नंगी नाचो"। बड़ी ही श्रद्धालु पत्नी ने 'नहीं' कह दिया। शायद नग्न होना नारी की अन्तिम परीक्षा है। साथ ही कुल और असल योग्यता भी। सुनीता तो बात मान लेती है। इस तरह विवाह की शारीरिक मर्यादा पति के ही आदेश के सामने निकृष्ट ठहरती है तथा परम्परागत विधान स्वयं आत्म-विरोधी दीखता है। टेस के साथ बलात्कार होता है, टार्डी उसे कुँआरी या सती मानता है। पति पीपा की आज्ञा से संतों को खिलाने के लिए पत्नी सीता शरीर बेच कर द्रव्योपार्जन करती है और हम उसे देवी मानते हैं। इस तरह सतीत्व की शारीरिक कसौटी अति-आचार ठहरती है; मानसिक भावना ही हरि-दृष्टि है। समाधान आवश्यक नहीं। समाधान क्या है ? क्या यही समाधान है कि स्त्री सुनीता की तरह पति के कहने पर पर पुरुष की खातिर करे और फिर आकर कहे, "नाथ, हमें छोड़कर जाना मत" अथवा "मैं तो सदा तुम्हारी हूँ" छिः छिः छिः, मेरे लिए यह प्रेम का आवेग कैसा ?" यदि यह समाधान है तो उपहास्य है। समस्यामूलक प्रबन्ध या नाटक जहाँ खंडननिष्ठ हों वहाँ चुनौती का दिग्दर्शन मात्र ही चाहिए। समाधान तो

उसे प्रचार-साहित्य बनाता है । तब पाठक एक ओर प्रचार से भागता है, फिर लौट कर प्रचार के सिद्धान्त पर आक्रमण करता है । जिस परम्परा का खंडन अभीष्ट था वह परम्परा बच जाती है । कहा जाता है कि समस्या-साहित्य के लेखक को बुद्धिवादी होना चाहिए। लेकिन बुद्धिवादी होने का यह अर्थ नहीं कि खंडन की तर्क-सरणि के आधार पर एक समाधान की सिद्धि कर दी जाय । बुद्धिवादी लेखक हृदय की यथार्थ परिस्थिति ही ऐसी रख सकता है जिसमें कोई सुनीता दो धर्म-मूल्यों के बीच ऐसी पड़े कि एक को पाने का अर्थ हो दूसरे को खोना । इसी पाने और खोने में पाठक की सहानुभूति समाधान ढ़ूँढ़ लेती है ।

लेकिन सुनीता इतनी सी ही बात के लिए समस्या-उपन्यास नहीं है । 'सुनीता' का प्रश्न सामाजिक नहीं, स्वाभाविक तथा नैसर्गिक है ।

सुनीता कौन है--एकनिष्ठ पतिव्रता या पहले सूक्ष्मतः और फिर जंगल के एकान्त में नंगी होने के समय स्थूलतः पर-रता ? हरिप्रसन्न जब कुछ दिनों के लिए बाहर चला जाता है तो सुनीता उदास रहती है । क्या वह उसे चाहती है ? हरिप्रसन्न जब उसे अपने दल की महाप्राण क्रान्ति की प्रतीक-शक्ति बना कर जंगल में ले जाना चाहता है और फिर रह-रह कर कहता है--"पततिव्रता पत्नी को नहीं, तुमको पाना चाहता हूँ" । तो वह 'हाँ' कहती है, लेकिन रह-रह कर पति के चित्र से बल माँगती है उसके मन में क्या द्वन्द्व है ? क्या यह कि पति का प्रेम इतना निर्बल न पड़ जाय कि वह हरिप्रसन्न को माँगने पर तन दे दे, या यह कि पतिपरायणता इतनी न निर्बल पड़ जाय कि वह श्रीकान्त के आज्ञा देकर जाने पर भी हरिप्रसन्न के तन माँगने पर 'नहीं' कह दे । हरिप्रसन्न के लिए उसके मन में दुर्बलता है, ऐसा आभास होता ही है, और श्रीकान्त के लिए अटूट निष्ठा है, यह भी स्पष्ट है । हरिप्रसन्न अपनी बाँहों से उसे अपनी जाँघ का सहारा दे कर लिटा देता है तो वह लेट जाती है, और उपन्यासकार कहता है कि सुनीता कृतज्ञ है । कभी वह सम्भ्रमपूर्वक अलग होकर बैठ भी जाती है तो हरिप्रसन्न की पीड़ा से भर कर । दिगम्बर अवस्था में सुनीता और परास्त हरिप्रसन्न पुरुष-नारी के आदि-द्विविध, अन्योन्याश्रयपूरक के रूप में उद्घाटित हो जाते हैं । सुनीता क्या रह जाती है ? पुरुष-तत्त्व के भोग के निमित्त तथा इच्छुक के रूप में निसर्ग-मौलिक नारी-तत्त्व ? या गोपियों से भी आगे फारस की रानी से भी आगे अविचल निष्ठा की देवी, या संस्कार-प्रबल धर्मपत्नी जो सतीत्व की बलि, यज्ञ-भावना से, पति के लिए कर देती है ? वह निसर्ग-नग्ना है या शाक्तों की कुंडतपस्विनी ? अपने शील के नग्न-चरम क्षण में सुनीता सभी संज्ञाओं, विशेषणों, सर्वनामों से अव्याख्येय स्वतंत्र नारी-प्राण है, अथवा उपाधि-सबल आदर्श-अनुशासित नीति-बद्ध, पद्धति-मर्यादित पत्नी ? सुनीता पति की आज्ञा का पालन करती है या उसकी छिपी रति की भूख जोर

मारती है ? इसी को ले कर सुनीता एक समस्या-उपन्यास है । समस्या इसलिए कि संभावनाएँ समतोल हैं ।

जिस तरह यह प्रश्न उठता है कि नग्न सुनीता अभ्रष्ट पत्नी रह पायी या नहीं, उसी तरह सुनीता को नारी मात्र मान लेने से एक और प्रश्न उठता है । अन्त तक कौन प्रधान रह पाया--पुरुष तत्त्व या नारी-तत्त्व ? किसकी जीत और कसकी हार हुई ? उपन्यासकार कहता है "पति-पत्नी,····माता-पुत्र····बहन-भाई···· । वे तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योगायोग के मार्ग से बने नाना सम्बन्धों के लिए हमारे नियोजित नामकरण हैं । किन्तु सर्वत्र कुछ बातें तो सम-भाव से व्याप्त हैं । सभी जगह स्त्री-पुरुष इन दोनों में परस्पर दीखता है आंशिक समर्पण, आंशिक स्पर्धा । सर्वत् एक दूसरे के प्रति इतनी उन्मुखता है कि एक दूसरे को अपने भीतर समा लेना चाहता है । सब नातों के बीच में और इन सब नातों के पार भी, यही है । एक में दूसरे पर विजय की भूख है, किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की भी चाहना है ही । एक दूसरे को जीतेगा भी, किन्तु उसके लिए मिटेगा भी कैसे नहीं ? दोनों में परस्पर होड़ है, उतनी ही तीव्र जितनी दोनों में एक दूसरे के लिए उत्सर्ग होने की आकांक्षा । वे दोनों विरोधी भाव स्त्री-पुरुष के बीच में समतोल हैं । जहाँ इन दोनों का विरोध भी सिद्ध है और समन्वित ऐक्य भी, उस विस्फोटक महातत्त्व के लिये क्या शब्द है ?"

'विरोध भी, समन्वित ऐक्य भी'--यही तो समस्या की परिभाषा है । पुरुष-नारी एक दूसरे पर विजय और एक दूसरे से पराजित होने की इच्छा रखते हैं । यह है शील की समस्या जो शाश्वत है चूँकि अव्याख्येय है । समस्या का समाधान माँगनेवालों का मुँह अब भी बन्द होना चाहिए । समाधान तो है दोनों की जीत, दोनों की हार । दूध सी चाँदनी जब बिछ जाती है और बयार में गुलाबी सर्दी अंग-अंग को सिहराने लगती है तो हरिप्रसन्न अपने भीतर 'अरे जा, अरे जा' के साथ 'अरे आ, अरे आ,' सुनने लगता है । सुनीता के 'विनिदृत, सम्पुटित' मुखड़े को देख उसके भीतर तूफान-सा मच जाता है । इस अपदार्थ के द्वारा उसके भीतर का अणु-अणु झकझोर दिया जाता है । उसकी अहंता चूर हो जाती है और धीरे-धीरे वह चूम लेता है ....

अज्ञेय 'ओ तू !' पुकारने वाला कठोर जितेन्द्रिय-सा लगने वाला हरिप्रसन्न हारता है, सुनीता जीत जाती है । यही नहीं, जब सुनीता अपने को समर्पित कर देती है तो वह पराभूत होकर पराजय में गड़ जाता है । .... लेकिन इतनी विजय के बाद भी प्रेम की दुहाई देकर भी सुनीता पूछती है कि "कहो कि अपने को नहीं मारूँगा" तो वह जवाब देता है, "नहीं मारूँगा ।" फिर वह कहती है "मेरी ओर देख कर तुम यह भी क्यों न कह सको हरि, कि जिससे मैं कहूँगी उससे शादी कर लोगे ?" तो वह "नहीं भाभी,

नहीं" कहता है । और सुनीता झुककर उसके चरणों की रज ले लेती है । सुनीता हार गई, वह जीत गया । हार दोनों की, जीत दोनों की ।

सुनीता को श्रीकान्त उपन्यास समाप्त होते-होते धन्यवाद देता है । श्रीकान्त के अनुसार हरिप्रसन्न के भीतर चित्त की एक गाँठ है जैसे हिरन के भीतर कस्तूरी । कस्तूरी हमारे लिए, उसे लिये बेचैन घूमने वाले हिरन के लिए तो वह शाप है । "यह चित्र, सुनीता, हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है—वह जिज्ञासा, वह आकांक्षा जो हरिप्रसन्न के जीवन का जीवन है । क्या मैं नहीं जानता कि यह गाँठ उसके भीतर से खींच निकालने में उपलक्ष तुम बनीं ?" यह गाँठ भी बड़ी विचित्र है ।

हरिप्रसन्न जिस 'ओ तू !' को पुकारता है वह एक शून्य प्रसार है, सर्वहारा रमणी है, और उसके सामने एक पुरुष ईसा की कॉस मुद्रा में खड़ा है ।

दूसरी जगह जैनेन्द्रजी स्पष्ट संकेत करते हैं कि हरिप्रसन्न की जो ग्रंथि है वह चेतना की एक पृथक् पिण्ड की भाँति बनी गाँठ है । वह अहं की गाँठ है । इसकी विपरीत पद्धति सुनीता की है—अपनी खातिर ममत्व न रखना, सहज भाव से रहना ।

श्रीकान्त इस बात के लिए कृतज्ञ है कि सुनीता ने हरिप्रसन्न की गाँठ बाहर निकाल दी । तो क्या सचमुच सुनीता का सहज समर्पण हरिप्रसन्न के बद्ध अहं का स्खलन कर देता है ? क्या उसका रेचन हो जाता है और वह सामान्य मनुष्यों की तरह हो जाता है ? जब पुरुष तत्व अहं है, तो क्या उसका रेचन तब होता है जब नारी के कारण उसके काम तत्व (libido) का द्रव हो जाता है ?

यदि ऐसी बात है तो यह कैसे कि हरिप्रसन्न फिर अपनी ही राह चला जाता है, और लगता है जैसे सुनीता के सहज प्रवाह का प्रभाव उस पर नहीं पड़ा ? तो क्या अहं अधिक मौलिक है वह अहं जो "समूची तुमको" पाना चाहता है, जिस पाने में प्रेम की कम, अधिकार की अधिक वासना है, जिसमें फ्रायड का कम ऐडलर का सत्य अधिक प्रबल है ?

जब तक हरिप्रसन्न विवाह नहीं कर लेता, वह सुधर नहीं सकता ऐसा श्रीकान्त सोचता है । सुनीता यही उससे स्वीकार करा लेना चाहती है । पुरुष समागम के पूर्व, वयः सन्धि की अवस्था में, कल्पना की मरीचिकाओं को 'ओ तू' कहकर पुकारता है जो एक प्रकार की सूक्ष्म बुभुक्षा है । सुनीता ही वह "ओ तू" ! है, और नग्न सुनीता उस "ओ तू" की पूर्णता है ।

कभी 'ओ तू' और कभी क्रांति की देवी के रूप में हरिप्रसन्न नारी को ही पाना चाहता है । नन्दी का उन्नयन शिव है, पशु का उन्नयन हंस ।

मगर क्या सुनीता (संभोगवासना) सफल नहीं रही ? क्या हरिप्रसन्न (अहं, अधिकार, सम्पूर्ण ममत्व) की विजय रही ? संभावनाओं के इसी द्वैत में समस्या की सतत रमणीयता है । अंत में श्रीकान्त से सुनीता कहती है, 'सच कहती हूँ कि मैंने उनसे यही कहा कि वह जावें नहीं, रुकें । सच कहती हूँ मैंने अपने को नहीं बचाया । न जाने वह कहाँ गये हैं । मुझे डर लगता है .... श्रीकांत कहता है "देखना होगा । कहाँ गया है । बट अवर क्वीन कैन डू नो रौंग-"

जाने कितनी बातें इसमें भरी हैं। अभी अभी हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ बाहर हो गयी, उसके लिए श्रीकान्त सुनीता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर चुका है। तब तक सुनीता कहती है, "वे रुके नहीं। जाने कहाँ गए। डर लगता है ....।" भारी डर लगता है, क्रांति आंदोलन में न चले गये हों। फिर वही हिंसा, क्रांति, देश प्रेम, आदर्श और मृत्यु का असामान्य जीवन ही हरि का न हो गया हो। तब ? तब तो शायद गांठ नहीं निकली ? व्यवहार के निरापद तथा मिथुन-परम्पर जीवन के प्रति वह आसक्त न हो सका। "सच कहती हूँ, मैंने अपने को नहीं बचाया" में सुनीता गंभीर मितव्ययिता के शब्दों में अपने नग्न समर्पण का संकेत करती है, लेकिन उसका यह भी अर्थ हो सकता है, कि मैंने उन्हें आराम देने में कोई कोर कसर नहीं रखी। सुनीता स्पष्ट क्यों नहीं कहती, इसके तीन उत्तर हैं। विश्वास के कारण वाक्संयम के कारण या कपट के कारण ।

स्पष्ट है कि श्रीकान्त जंगलवाले दृश्य की कल्पना नहीं करता । वह कहता है--"अवर क्वीन कैन डू नो रौंग" । विचित्र अज्ञात परिहास है । क्वीन तो रौंग कर चुकी है । लेकिन अगर आज्ञापालन ही धर्म है तब तो वह 'रौंग' 'रौंग' नहीं 'राइट' है । श्रीकान्त परिस्थिति का मूर्ख बन रहा है या उदार ज्ञानी ? उसके बाद सुनीता कहती है, 'क्या विधाता ने हमें व्यर्थ ही नारी बनाया है ?' नाथ, हमें छोड़ कर जाना मत !" कहती है--"इस अधिकार में तो तुम सदा मेरे हो ।" तो क्या अभिव्यंजित होता है ?

पत्नी जानती है कि वह नारी है, और उसे बार-बार नारी बनने का अवसर न दिया जाय तो अच्छा । पत्नी अपनी इस मौलिक दुर्बलता से डरती है कि पुरुष के निकट उसकी यह प्रार्थना व्यर्थ है कि वह छोड़ कर न जाय । हरिप्रसन्न चला गया । लेकिन 'नाथ' 'स्वामी' 'पति' तो नहीं जा सकते । यह नाटकीय संवाद पेचीदगी से भरी है । सुनीता की यह दुर्बलता बड़ी ही मार्मिक है । उतने ही स्वाभाविक तथा सरल और कूट परिहास से भरे श्रीकान्त के अन्तिम शब्द हैं, जिनमें अनजाने वह कहता है "ओ छलनामयी ! अरी ओ तू !" सुनीता छलनामयी तो है ही ।

पर पुरुष के सामने नंगी लेट जाने वाली सुनीता, और पति से 'मुझे छोड़ कर मत जाना' कहने वाली सुनीता, और दोनों सुनीता एक ही सुनीता, छलनामयी नहीं तो और क्या है !

श्रीकान्त द्रवित होकर, भाव-तरल होकर, कृतज्ञ होकर जो कहता है वह प्रकाश-सरल सत्य है । इतना कम बोलने वाली सुनीता, हरिप्रसन्न जैसे पर शासन करने वाली सुनीता, रात को बाहर निकल जानेवाली सुनीता और फिर इस तरह पति से संग के लिए गिड़-गिड़ाने वाली सुनीता एक रहस्य है•••और सुनीता एक नारी है ।

विजय भी जिसकी पराजय भी उसी की। श्रीकान्त की उपर्युक्त स्तुति में असं-दिग्ध सत्य है । निर्लज्जता की नंगी सुनीता और "हटो ! हटो !" की व्याज-व्रीड़ा

वाली सुनीता ही सम्पूर्ण को वश में कर लेने की अथवा पा लेने की इच्छा रखने वाले पुरुष को दूर से इंगित करती है, हार कर भी जीतती है । वही छलना है, माया है, अभाव की अनुभूति है । वह एक साथ ही पत्नी और नारी है--'नारि विश्व माया प्रकट' ।

पात्रों और घटनाओं के रूप में सुनीता के इस मूल विषय का शिल्पण जैसे किया गया है उसके विनियोग-पक्ष को देखें । सुनीता में घटनाओं की असाधारणता या कुतूहल नहीं, निर्वाह-मात्र है । उसकी गति के लक्ष्य में प्रतिरोध नहीं, व्यक्तियों में शत्रु-भावना नहीं; वैर नहीं है, हरिप्रसन्न के चलते केवल हठ है, विलम्ब है । सुनीता की बहन सत्या भी वैर नहीं करती, हरिप्रसन्न की असाधारण पूजा को समझ नहीं सकने के कारण कुछ हैरान है, कुछ खीझती है । बहन, बहनोई और मेहमान के गूढ़-सूक्ष्म संकल्पों, द्वन्द्वों तथा विमुख आलिंगन (सभी प्रेम भी करते हैं, पर उसमें अधिक संकोच भी; घुटते भी हैं लेकिन एक दूसरे का हाथ छुड़ाये भी रहते हैं) को वह एक सरल बालिका के रूप में देखती रहती है । भौंहों को सिकोड़ कर राग के इस विचित्र कपट को, इस अजीब चोरी को, परोक्ष भावुकता की अतिशयता तथा प्रत्यक्ष व्यवहार की कृपणता को, देखती रहती है । सत्या व्यवहार जगत् के सामान्य-सरल लोगों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है । घटनायें ये हैं । हरिप्रसन्न की खोज, हरिप्रसन्न का श्रीकान्त के घर में रहना, विश्वास से दो बार रुपये माँगना, सुनीता का ऐसा लगना कि वह रुपये नहीं देगी, लेकिन हर बार रुपये दे देना, या तो चौके में रसोई की बात चलना या फिर ऊँचे धरातल पर जीवन के आदर्शों पर विवाद होना, फिर एकान्त में भावनाओं का आवेग आ जाना, क्रान्तिकारी जीवन का रुपये लेने आने वाले युवक के रूप में केवल उल्लेख्य परिचय मिल जाना, बार-बार श्रीकान्त का हरिप्रसन्न से साथ सोने के लिए आग्रह करना और उसका न मानना, फिर श्रीकान्त का कहीं बाहर चला जाना, सत्या का एक नाटकीय परिस्थिति में लौटे श्रीकान्त को रोके रखना कि कहीं जंगल को गयी सुनीता का भेद न खुल जाय,·····आदि-आदि । समूची 'सुनीता' में एक ही घटना है, जो शील को चरितार्थ करते हुए भी स्वयं अपने में एक घटना है । वह है सुनीता का नंगी हो जाना । इसके अतिरिक्त पूरी की पूरी सुनीता की स्थिति हरिप्रसन्न के 'ओ तू'! नाम के चित्र की स्थिति है, तत्र स्थिति है जिसमें कोई गति नहीं । जो कुछ होता है, मन में, अन्तर्जगत् में । जैनेन्द्र में भरी-पूरी भिन्नताओं से समृद्ध उस सृष्टि के निर्माण की क्षमता नहीं, जिसे विसर्ग कहते हैं । उनके पात्र तो अपने में सब की लय करते दीखते हैं । हरिप्रसन्न अपनी योग-माया में, उसी तरह सुनीता और श्रीकान्त अपनी-अपनी योग-माया में, शेष दो की लय कर लेना चाहते हैं । एक प्रबल पड़ता है तो उसका विकास कम दीखता है, दूसरे का निरोध अधिक दीखता है ।

जैनेन्द्र ने शीलविधान में वर्ग की गंध तक नहीं आने दी है। पात्रों की भावुकता, नीति-भावना तथा कल्पना-विलास मध्यमवर्गीय भद्रता का परिणाम है, ऐसा कहने वाले बेचारे अर्थशास्त्र को लोकप्रिय बनाने के लिये कहते हैं। न बहुत पूँजी है, न पूँजी का अभाव है। इसके कारण न तो श्रीकान्त कुछ हो गया है, न सुनीता, न हरिप्रसन्न। इनमें से कोई वर्गशील नहीं। श्रीकान्त वकील है, इसके कारण वह कुछ नहीं करता, या महसूस करता। श्रीकान्त सामान्य शील भी नहीं। हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी युवकों का जातिधर्मी नहीं। परिस्थिति आदर्शबद्ध नहीं, स्वाभाविक है। श्रीकान्त आदर्श पति के रूप में नहीं रखा गया है न आदर्श मित्र के रूप में। हमें यह शिक्षा नहीं मिलती कि हमें भी शादी करके उदास रहना चाहिए तथा जीवन को सरस बनाने के लिए विश्वास के साथ पत्नी को कह देना चाहिए कि वह मित्र को हर तरह से प्रसन्न रखे और यह आदेश दे बाहर चले जाना चाहिए कि दोनों को मौका मिले। उसी तरह यह भी शिक्षा नहीं मिलती कि चूकि कोई मित्र असाधारण साधक है और हम ब्याह के घेरे में अनुल्लास के दिन काट रहे हैं, इसलिए किसी तरह उसकी मानसिक असामान्यता का रेचन अपने घर पर करा कर उसे भी साधारण धरातल पर खींच लाना चाहिए। हरिप्रसन्न के जीवन से तो न मित्र होने की शिक्षा, न क्रान्तिकारी होने की प्रेरणा मिलती है, और न इस तथ्य की कोई प्रतिष्ठा होती है कि क्रान्तिकारी ऐसे ही होते हैं। उसी तरह सुनीता भी न आदर्श धर्मपत्नी के रूप में रखी गयी न नारी के चिरन्तन आदर्श के रूप में। नारी का मातृत्व भी एक नित्य सत्य है, जिसे हम यहाँ नहीं पाते।

सम्पूर्ण पारिवारिक, वैयक्तिक तथा जातीय उपकरणों के त्रंत से जैनेन्द्र जी प्रायः प्रत्येक शील को स्वलक्षणशील बना देते हैं। स्वलक्षणशील में विलक्षणता ही नहीं, एक तरह की अनन्वयता रहती है।

पारिवारिक उपकरण पति-पत्नी के नीतिमर्यादित पवित्रता के सामाजिक आदर्श उस जीवन की शुष्कता, रुपये-पैसे के मामले में पत्नी के मान और अधिकार तथा दम्पति के पारस्परिक शील-संकोच और आदर में मिलते हैं। स्वयं हरिप्रसन्न भी परिवार की एक आवश्यकता और समस्या है---अतिथि--देवर का रूप लिए पति का मित्र। हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी है, यह बात तो जैसे उसके ऊपर लेई लगाकर लेबल पर साट देने जैसी है। उपन्यासों में इसके जैसा व्यर्थ क्रान्तिकारी शायद ही मिले। पिस्तौल और कारतूस लिए आता है। दल के एक नौजवान को आसानी से दो बार रुपये दे देता है और क्रान्ति की शाक्त-भावना का प्रतीक बना-बना कर सुन्दर सुनीता को गद्य-गीत सुनाता है। वह भी ऐसी स्थूल आखों से कि वासना साफ झांक रही है। वह प्रेम भी करता है और उसको यह मलाल भी है कि सुनीता श्रीकान्त की पत्नी क्यों है। .... जो

हो, परिवार में आकर्षक गुणों या असाधारण योग्यता से सम्पन्न एक मित्र के कुछ दिनों के लिए आ जाने से जो रस मिलता है वही हरिप्रसन्न चरितार्थ करता है। वह भी परिवार का अंग बन कर प्रधान है। उसके लोक-संग्रह से बस इतना ही होता है है कि मित्र की असामान्यता असामान्य की मित्रता में बदल जाती है।

श्रीकान्त का पतित्व पारिवारिक; उसकी मैत्री-भावना, जातीय; मित्र-स्त्री परस्पर की अतिवादिता; तथा उस अतिवादिता का मूल वैयक्तिक है।

सुनीता का पत्नीत्व पारिवारिक; गंभीरता, जंगल वाली रात का साहस, पति के आज्ञा-पालन तथा हरिप्रसन्न से प्रेम का द्वैत वैयक्तिक; तथा साथ ही एकान्त में पुरुष को हराने और उससे हार जाने का अज्ञात-अनायास संकल्प जातीय है।

हरिप्रसन्न अतिथि-मित्र के रूप में पारिवारिक स्खलित व्रती के रूप में पुरुष जातीय तथा अज्ञेय 'सम्पूर्ण' के अभिलाषी के रूप में वैयक्तिक है। इस श्लिष्ट त्रैत के कारण तीनों इस तरह स्वलक्षणशील वाले ठहरते हैं।

स्वलक्षणशील वाले अप्रत्याशित के विधाता होते हैं। हरिप्रसन्न कठोर जितेन्द्रियता से कपोल-चुम्बन तक आ जाता है। इतना ही रहता, तो संन्यासी के पतन का व्यंग्य भर हाथ लगता, लेकिन वह तो जनसामान्य की तरह विवाह में बँध जाने की आशा को झटका देकर न मालूम कहाँ, जाने क्या करने चला जाता है। उसी के चलते उसकी भाभी कल्पना के उदात्त शिखर से गिर कर विषयोद्यत नग्ननारी हो जाती है। क्या इसी लज्जा और ग्लानि से वह भाग खड़ा होता है या और कुछ ? सुनीता उतनी मितभाषी, उतनी संयत तथा गंभीर, उतनी कातरप्रार्थी, दुर्बल तथा निष्ठावान् कि जंगल में देवी बनने के लिए ही पति के चित्र से बल माँगती है, और वह नग्न होकर "आओ लो" की निस्संकोच दार्शनिकता तक पहुँच जाती है। उसी तरह इतना कुछ हो जाने के बाद भी पत्नी के प्रति पति कृतज्ञ है, यह कोई साधारण बात नहीं। हरिप्रसन्न की ग्रंथि बाहर निकलवाने में श्रीकान्त अपनी स्त्री तक को दाँव के ऊपर रखता है।

श्रीकान्त भी एक 'ओ तू!' के फेर में है। जब तक हरिप्रसन्न आँखों से ओझल, उन्मुक्त, स्त्री के बिना विचरता है, तब तक श्रीकान्त के मन के सामने एक घुंडीदार प्रश्नचिह्न है।

विवाह के बन्धन में सामाजिक शृंखला जितनी नहीं उतनी परवशता है, और हरिप्रसन्न इससे मुक्त-सा मालूम पड़ता है। स्त्री, किसी रूप में सही, पुरुष की व्यापक और चिरन्तन आवश्यकता है या नहीं ? यदि वह है तो श्रीकान्त क्यों बँध गया और हरिप्रसन्न कैसे बच गया ?

श्रीकान्त के भीतर सदा 'बद्धोस्मि अतएव हीनोस्मि' की अजपा चल रही है। श्रीकान्त पुरुष स्वभाव के ही दो मूल्यों के बीच घुटता है। मूल्य का अर्थ यहाँ अनुभूति

है । स्वभाव की एक आवाज है "स्त्री चाहिए कि हमें पूर्ण होना है, कि हमें सम्पूर्त्ति चाहिए" । दूसरी आवाज है--"लेकिन विवाह या प्रेम परवशता है" ।

श्रीकान्त के सामने जीवन एक वाक्य है, जिसका स्वरूप है--"यह यह है परन्तु यह वह भी है, तो यह क्या है ? " लगता है जैसे सुनीता एक प्राकृतिक विधान है । हरिप्रसन्न उसकी व्याप्ति का अपवाद-सा प्रतीत होता है । इसलिए श्रीकान्त चाहता है कि उस अपवाद का भी व्याप्ति में समावेश हो जाय । इसलिए श्रीकान्त की उदासी एक रिक्ति नहीं, असमंजस है, समस्या की बेचैनी है, चुनौती है, किसी हेमलेट की अन्तर्विभक्ति है । उन्मुक्त हरिप्रसन्न को देखने पर उसे विवाह परवशता-सा लगता है. सुनीता की आँखों को देख वह आवश्यक प्रतीत होता है । श्रीकान्त चाहता है कि प्रश्न-चिह्न को सुनीता मिटा कर वाक्य के सामने विराम चिह्न लगा दे । इस दृष्टि से श्रीकान्त पारिवारिक और जातीय न होकर वैयक्तिक भी हो जाता है । दो विरोधी ध्रुवों का सामञ्जस्य श्रीकान्त की उदासी की गर्भाकांक्षा है । श्रीकान्त में पारिवारिक, जातीय और वैयक्तिक तीनों तत्त्व मिल जाते हैं, इस तरह जैनेन्द्र जी त्रैत के श्लेष से विरल की सृष्टि करते हैं ।

इस उपन्यास के पात्र इतने अन्तर्मुख तथा चिन्तन-प्रवृत्त हैं कि लगता है--परिवार का यह ढाँचा-ढाँचा मात्र है । साधुता से देखिए तो उपन्यास का दूसरा नाम 'नारी' रखा जा सकता है । नारी पुरुष की शाश्वत आवश्यकता तथा बंधन, नारी दासी भी, विजेत्री भी; नारी देवी भी, (हरिप्रसन्न की प्रतीक-कल्पना को एक देवी चाहिए), नग्न भी । यह बात सही है कि विवाहित जीवन से उचाट, उसमें रस की अजस्र धारा का अभाव, नारी के बिना रम नहीं सकते और नारी के साथ रह नहीं सकते--ऐसा द्वन्द्व--एक व्यापक द्वन्द्व है । नारी के प्रति पुरुष की यह मुद्रा स्वाभाविक है, व्यापक है । हरिप्रसन्न उसे अपनी साधना में बाधक समझता है, अथवा उससे परिचय नहीं, इसलिए भागा-भागा फिरता है । फल, फूल, कुर्सी-टेबुल की तरह नारी भी एक वस्तु है । लेकिन परिचय के बाद उसे एक धर्ममाता चाहिए, भाई की स्मृत्ति से मुक्त एक भाभी भी चाहिए और "समूची वह" चाहिए ।

ये सारी की सारी बातें स्वाभाविक है--नारी की चाह, उससे पलायन और उससे पराजित होने की ग्लानि तथा मुक्ति की आकांक्षा । इसलिए ये शील केवल विकल्प से क्लिष्ट नहीं हो जाते, मूल बन्धुत्व अर्जित कर लेते हैं। शील का सबसे घातक दोष है निसर्ग प्रणाश । इस उपन्यास में निसर्गातिक्रान्त अथवा अतिनिसर्ग आचरण किसी का नहीं--ग्रंथि के रेचन अथवा मुक्ति के लिए जो मार्ग चुना जाता है, साधना की जो विधि अपनायी जाती है, भले ही उससे परम्परा-मुक्त संस्कारों को धक्का पहुँचे । कोई मित्र अपनी स्त्री को इतनी दूरी तक दे सकता है, कोई धर्मपत्नी अपने को इतनी दूरी तक कैसे

दे सके और क्या हम उसे देने देंगे आदि-आदि सवाल उठ सकते हैं। लेकिन जैनेन्द्र जी की घटनाओं को न ग्रहण कर उनके अर्थ को ही ग्रहण करना चाहिए। सुनीता में जैनेन्द्र जी का शील-निरूपण प्रायः अर्थ का रूपक है, मन की अभिव्यक्ति नहीं। मन की अभिव्यक्ति में अर्थ नहीं, कारण विवर्त्त है। यहाँ तो मन को एक अर्थ सता रहा है, लेकिन सता भर रहा है। और वह अर्थ, वह प्रश्न है व्यापक, भले ही एक व्यक्ति में उच्चरित हो उठा हो। इन बातों को ध्यान में रखते ही एक बात और स्पष्ट हो जायगी। वह यह कि जो लोग जैनेन्द्र जी पर अश्लीलता तथा अस्पष्टता का दोष मढ़ते हैं, बिना काठ का ढोल मढ़ते हैं।

अस्पष्टता तो समस्या-उपन्यास का प्राण है। अस्पष्टता का अर्थ सायास-दुरूहता नहीं, अनिवार्य जटिलता नहीं। उसे तो दोष ही कहेंगे। लोग इसलिए चिढ़ते हैं कि परिस्थिति का जितना और जैसा अंकन जैनेन्द्र जी करते हैं वह निर्वचन-सापेक्ष रह जाता है। कोई इधर देखता है तो यह अर्थ लगाता है और दूसरा उधर देखता है तो वह अर्थ लगाता है। प्रत्येक परिस्थिति को वह साफ-साफ समझा नहीं देते। लोग चाहते हैं, जैनेन्द्र जी, अपह्नुति-पद्धति से कहते। अपह्नुति-पद्धति का मतलब यह कि जैनेन्द्र जी इतना ही नहीं कहते कि "बात ऐसी है" बल्कि यह कि "बात वैसी नहीं है, ऐसी है"। इतना जोर देते कि निश्चय एक अलंकार बन जाता। कहते, 'बात ऐसी ही है, सुनीता कामी नारी ही है अथवा श्रीकान्त साक्षी पुंसक ही है, या हरिप्रसन्न अपराजित ही है, या पराजित ही हुआ।

लोगों की शिकायत है कि किसी परिस्थिति में पता नहीं चलता कि सुनीता का चौके में कोई काम करना-मात्र चौके का काम है या हरिप्रसन्न के प्रेम अथवा मन के किसी भाव को छिपाने का बहाना। सुनीता हल्की बातों का पर्दा कर लेती है। लेकिन अब तक के परिचय से ज्ञात हो गया होगा कि यह निर्वचन-सापेक्षता, यह संभा-नाओंका द्वैत, यह असमञ्जस ही तो 'सुनीता' का प्राण है। इसलिए कहने वाले नहीं जानते कि वे साफ-साफ प्राण निकालने को कहते हैं। किसी-किसी ने इस अस्पष्टता की गलत वकालत भी की है। कहा है, जैनेन्द्र जी भावों के आवेग के कलाकार नहीं, सूक्ष्म भावनाओं या उपदशाओं के हैं। शायद यह कह कर जैनेन्द्र जी के पात्रों के बौद्धिक राग, उनके मन की मस्तिष्कता, उनकी भावुकता की भाववाचकता, उनके पुलक की विचारपरता की ओर संकेत किया जाता है---इससे जैनेन्द्र जी और उनके समझने वाले पाठक द्विज-मान पा लेते हैं। उन्हें दूसरे जन्म, सांस्कृतिक जन्म का गौरव मिलता है। ऐसी वकालत से अनायास तथा अत्यन्त सरल साधारणीकरण वयः सन्धीय (Adolescent) हो जाता है। मताधिकार-प्रौढ़ पाठक तो ऊति के साथ, वासना के साथ, विकल्प या ऊहा भी खोजते हैं। (जीवों की वे वासनायें जो कर्म द्वारा उन्हें बन्धन में डाल देती

हैं, ऊति कहलाती हैं) जैनेन्द्र जी प्रौढ़ों के लिए हैं। लेकिन ऐसा यदि हम सोच लें तो छक जायँगे।

यदि वयःसन्धीयता बुरी चीज है तो मतवयस्कता (Adulthood) क्यों अच्छी है ? कुछ अक्ल आ जाती है इसलिए ? तब तो बुढ़ापा सबसे अच्छा है। इसलिए जो काव्य केवल बूढ़ों को अच्छा लगे वह तो सर्वश्रेष्ठ होगा। होता भी है। 'रामचरित मानस' का कोई जवाब नहीं। लेकिन बूढ़ों को जवानी की शिकायत भली लगती है। दिखाई कम पड़ता है—दूर दिखाई पड़ता है और वे या तो नित्य पारमार्थिक दृष्टि से देखते हैं, जो साहित्य में वेदान्त की माँग है, या आदर्शों से चिढ़ी स्थूल दृष्टि से देखते हैं, जिसमें अनुभवजन्य व्यावहारिकता, शिश्नोदरवादिता रहती है, भावुकता का लेशमात्र नहीं होता। जीवन के किसी अध्याय-विशेष को ऐसी प्रतिष्ठा झक्की लोग ही देते हैं। माना कि हलके संवेदन भी होते हैं। उनकी अपनी मार्मिकता होती है—इसलिए नहीं कि उनकी अभिव्यक्ति अस्पष्ट है, बल्कि इसलिए कि अभिव्यक्ति संयत और सूक्ष्म हैं। भारी द्वन्द्व में पड़ी सुनीता आती है और कहती है, "सोच देखिएगा, हरि बाबू ! कहेंगे तो चलूँगी। क्यों न चलूँगी ? आप का कहा टालूँगी नहीं। लेकिन क्या यह जरूरी है ? खैर, अभी सोइये, फिर आऊँगी।"

यहाँ यदि सुनीता एक लम्बा-चौड़ा गद्यगीत या संवाद सुना जाती तो पाठक के हृदय में अन्तर्द्वन्द्व की अनुभूति का स्थूल रेचन हो जाता, और अन्दर ही अन्दर घुलने या घुटने की करुणा उतनी मार्मिक न होती। इसलिए यहाँ संयत अभिव्यक्ति है। असल अस्पष्टता तो, जैसा कह आये हैं, उस निर्वचन-सापेक्षता में है जहाँ संभावनाओं के द्वैत में जैनेन्द्र जी हमें छोड़ देते हैं। और वह अस्पष्टता—जो निस्संग सहानुभूति, तटस्थता, उभयपक्ष के प्रति सद्भाव के कारण है—समस्या-उपन्यास का प्रकृत धर्म है।

दूसरा कथित दोष अश्लीलता का है ! अश्लीलता दर्शन में नहीं होती, प्रदर्शन में होती है, विश्वनाथ मन्दिर में अश्लीलता नहीं है वह तो विनोद में ही मिलती है। जहाँ स्वरूप-साक्षात्कार ही अभीष्ट है वहाँ अश्लीलता नहीं। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ अश्लीलता नहीं। जहाँ नग्नता, आवरण से मुक्ति है, वहाँ अश्लीलता नहीं। परन्तु जहाँ नग्नता का भोग है, नग्नता एक उत्तेजना है, वहाँ अश्लीलता अवश्य है। नग्नता के साक्षी की दृष्टि जहाँ शैशव की दृष्टि है, विस्मय की दृष्टि है, वहाँ अश्लीलता नहीं। जहाँ नग्नता शृंगार रस का विभाव है वहाँ अश्लील है, जहाँ अद्भुत रस का वहाँ अश्लील नहीं। अश्लील का स्रोत स्त्री के वक्ष तथा स्त्री-पुरुष दोनों के अंग-विशेष का प्रदर्शन है, अथवा उनकी निस्संकोच चर्चा है। वीभत्स से अश्लीलता नहीं होती। विनोद भी जहाँ मैथुनमतिक होते हैं वहीं अश्लील हो जाते हैं। नंगे शिशु को देखकर जो वात्सल्य होता है उसमें शिशु को देख कर तो वात्सल्य लेकिन उसकी नग्नता को देख कर अद्भुत

रस में हम मग्न हो जाते हैं। शिशु की नग्नता सामाजिक पार्श्व से उत्पन्न भेद-बुद्धि से एक उदात्त मुक्ति है। नग्नता जहाँ मैथुन को उत्तेजना नहीं देती, वहाँ उदात्त का साक्षात्कार है। शिव की नग्नता की कल्पना कीजिए ! आवरण का भाव है, लज्जा। लज्जा एक भय है कि हम पकड़ न लिए जायँ, या हम पकड़े गये। मैथुन की नग्नता दो का एकान्त है जिसमें समाज के भय से छुट्टी मिलने के कारण भी सुख है। लेकिन आनन्द की अवस्था निर्भयता की अवस्था है। और ऐसी नग्नता जो आनन्द की निर्भयता है, उदात्त है। बच्चे के आनन्द में निर्विकल्पता है, क्योंकि लज्जा नाम के सामाजिक विकल्प को वह नहीं समझता। इसलिए निर्विकल्प नग्नता अश्लील नहीं, उदात्त है। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा Peter Pan की कल्पना कीजिए। (Cupid) की कल्पना अन्धे, नग्न बच्चे की है। अन्धे होने का तात्पर्य निर्विकल्पता से है। निर्विकल्पता शैशव की है, जो हर बच्चे की है। निर्विकल्पता समाधि की है, जो शिव की है।

लेकिन जहाँ सामाजिक चेतना के संदर्भ में किसी नायिका के अंगविशेष का प्रदर्शन या उल्लेख-मात्र रोचकता के लिए किया जाता है, वहाँ अश्लीलता का मैथुन ही है, क्योंकि वह सविकल्प है। फरिश्तों के चित्रों में अश्लीलता नहीं, क्योंकि वहाँ निर्विकल्प आनन्द है। बच्चे आत्मरमण, अजातस्मृति होते हैं, इसलिए उनमें अश्लीलता नहीं। योगी या उदात्त नग्नता का कलाकार विस्मृत तथा तुलना-विभोर होता है, आत्मरत नहीं, तत्‌रत होता है। विशुद्ध रूप (pure form) का विचारण (contemplation), तद्रूप की समाधि, जहाँ हो वहाँ अश्लीलता नहीं। उदात्त हमें ऊँचा उठाता है। लज्जा से (जो समाज का भय है) हम गड़े होते हैं। उससे ऊपर उठने का मतलब है उस साक्षात्कार के क्षण तक विकल्प का त्याग। जहाँ किसी रंगिणी की नग्नता प्रथम साक्षात्कार की रश्मियों से आलोकित हो वहाँ अश्लील अथवा उदात्त नग्नता के दर्शन होते हैं। जहाँ पूर्व साक्षात्कार, पूर्व परिचिति की आवृत्ति-सी लगे वहाँ अश्लीलता आ जाती है। इसलिये उदात्त में प्रथम तथा नित्य साक्षात्कार लेकिन प्रत्यभिज्ञा में, पुराने को दुहराने में, जानकर नंगा होने में, सायास चीरहरण में अश्लीलता है। दुःशासन की करनी में सभा में बैठे हुओं के लिए अश्लीलता है। लेकिन वहाँ तो चीरहरण एक विषय नहीं, विषय है द्रौपदी की दयनीयता का दुष्ट भोग। इसलिए हमें क्रोध होता है। वहाँ द्रौपदी दीन है, सुन्दर स्त्री नहीं, असहाय पत्नी है। बात वहाँ शक्ति-प्रदर्शन की है। नग्नता वहाँ शैली है, तत्त्व नहीं, तत्त्व तो वैर है।

आजकल निसर्गवाद (Dadaism) के दंभी सामाजिक भय से मुक्ति अनेक प्रकार की कृतघ्न, आसुरी, तथा वीभत्स स्वच्छन्दताओं में पा रहे हैं। किसी पात्र को देखिए, वह गिर्जाघर के सामने या मन्दिर के सामने खड़ा होकर पेशाब कर लेता है तो समझता है, वह मौलिक है। जीवन्मुक्त पुरुष का यह पौन्ड्-संस्करण है। पौन्ड् ने

विष्णु के सभी आयुध धारण कर लिये थे और कृष्ण को चुनौती दी थी। ऐसे लोगों की नग्नता के मूल में शील-संकोच के पितामहों को चिढ़ाने की एक दुष्टवासना है। यह स्वाभाविक नहीं, असत्य के विरोध के लिए क्रान्ति नहीं, पूज्य और पवित्र के प्रति एक कुटिल द्वेष की प्रवृत्ति है जो परिणामान्ध होकर अपने को मौलिक समझती है। उनकी अश्लीलता एक हठ है जिससे वे काम नहीं, क्रोध की उत्तेजना करना चाहते हैं। और क्रोध में आप चिढ़े कि उनकी विजय हुई। वे ताली पीटेंगे और और चिढ़ायेंगे। आपकी बुरी हालत है। यदि आप क्रोध नहीं करते तो आप अन्दर ही अन्दर मरते हैं। क्रोध करते हैं तब वे आपको कठन चिल्लाते हैं। विचित्र शुकराती व्यंग्य है। कहना नहीं होगा कि चिढ़ाना बच्चों का कौतुक है, फिर भी निसर्गवादी कलाकार अपने को प्रौढ़ समझते हैं।

उसी तरह अस्तित्ववाद (Existentialism) के नाम पर दर्शन-प्रतिष्ठित घासलेटी साहित्य देखने को मिलता है। निराशा, विषाद, भाग्य, कृतान्त-चेतना तथा विरल-विशेष के प्रति अस्तित्ववादियों का आग्रह कोई नयी चीज नहीं। लेकिन मैथुन के प्रति उनका आग्रह तो वाम कोलों से भी बाजी मार लेता है। वे चिढ़ाने के लिए ऐसा नहीं करते। वे बेचारे बुभुक्षित हैं। नीरस जीवन में किसी तरह सिकता से तेल निकालने के लिए ही ऐसा करते हैं। वे हमें भाव के ऐसे अनायास-क्षण में नहीं ले जाते जहाँ नग्नता ही अद्वितीय अभिव्यक्ति हो सकती है, न तो उदात्त का निर्विकल्प दृश्य-चित्रण ही उनका लक्ष्य है। ऐसे कलाकारों के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उनके पात्रों से उनको नहीं, आज के जीवन का पता चलता है। जीवन इतना नीरस, शुष्क, बालू की तरह सूखा हो गया है कि बार-बार थूकना, पीड़ा, फेंकी हुई बीड़ी को पीना, गाली बकना तथा मैथुन के वर्जित अति का आलिंगन ही जी लेने की अन्तिम आशा है और प्रतीक-क्रिया भी।

नग्नता एक और प्रकार से अश्लील नहीं होती। जहाँ वह किसी अर्थ की अभिव्यक्ति है, किसी तत्त्व का प्रतीक है अथवा एक शब्द में, जहाँ वह रूपक होती है, रूप नहीं, वहाँ वह अश्लील नहीं होती। शिशु-सारल्य (Innocence) अकलुषता, निष्पापता, अखंड कौमार्य या सतीत्व आदि की अभिव्यक्ति के रूप में नग्नता अश्लील नहीं।

शेखर एक झील को देख, चाँदनी को देख कर कुछ ऐसे संवेदनों को पाने लगता है कि जैसे वह गंदा हो और उसे स्नान करना चाहिए। गंदगी की इस भावना के संदर्भ में वह नंगा स्नान शारीरिकता से मुक्त होकर आत्मा के स्नान-सा लगता है।

सुनीता में कठोर दमन वाले हरिप्रसन्न के हृदय में "जा रे जा" और "आ रे आ" का इतना तुमुल द्वन्द्व उच्चरित हो उठता है कि अब रेचन का नहीं होना ही अस्वाभाविक लगता। लगता, जैनेन्द्र जी लज्जा के मारे, समाज के भय से सत्य-निरूपण

के प्रति घात कर रहे हैं। उस सुनसान एकान्त की वह रात सुनीता के हृदय में हरिप्रसन्न के लिए दबी हुई कितनी स्फुट दुर्बलताओं के विस्फोट की आदर्श घड़ी है। हरिप्रसन्न उन्मत्त-सा हो उठता है--

"समूची तुमको, पूरी तुमको पाना चाहता हूँ"। यह सम्पूर्त्ति का सन्निपात-सा तुरीय प्रलाप-सा दीखता है। सुनीता भी पति और देवर-मित्र, निष्ठा तथा प्रेम के द्वंद्व से टूट रही है। और इस सम्पूर्त्ति की माँग के बाद वह अपने को, अपनी सामाजिक स्वीकृति वाली सत्ता को, उस सत्ता के आवरण को बचा नहीं सकती। इसलिए नग्न होती है। अतएव अश्लीलता का दोष अपरीक्षित शीघ्रता का है।

समस्या को सामने रखने के कारण शील-निर्माण में जैनेन्द्र जी निम्नलिखित पद्धतियों का प्रयोग करते हैं:--

(क) व्यास की हैसियत से शील-विवरण प्रस्तुत करने में 'तथापि' 'परन्तु'--कथन,
(ख) गौण तथा नगण्य ब्योरों से गंभीर मनोवृत्ति का आच्छादन,
(ग) तटस्थ पात्र की विस्मय-मुद्रा का अंकन,
(घ) कर्म और भाव के क्षणों का रह-रह कर स्वतन्त्र पटपरिवर्तन;
(ङ) प्रतीक दृश्य का प्रयोग (जो हृदय-योजना में 'सूक्ष्म' अलंकार का चमत्कार ला देता है); तथा
(च) तत्क्षण आवेश तथा स्थायी भाव-मुद्रा का विरोधाभास।

(क) पहली पद्धति है--व्यास की हैसियत से शील-विवरण प्रस्तुत करने में 'परन्तु या तथापि कथन'।

(१) "परिणाम यह था कि यद्यपि श्रीकान्त अवस्था में और श्रेणी में बड़ा था और उसके खर्च का भी अधिकांश बोझ उठाता था, फिर भी, आपसी सम्बन्धों की अपेक्षा श्रीकान्त कुछ अनुप्रार्थी और अनुगृहीत प्रतीत होता था।

(२) "खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एकदम अज्ञेय"। ("और" का अर्थ यहाँ "परन्तु" है। कर्मसंकुल व्यक्ति में रहस्य!)।

(३) "वह अत्यन्त परार्थ-तत्पर था, पर स्वयं खटाई में न पड़ता था। जीवन के सम्बन्ध में वह हिसाबी था पर स्थूल हिसाब पर नहीं चलता था।"

(४) "वह अपने दिये पैसे और लिये पैसे भूलता नहीं था पर ऐसी बात कभी मुँह पर नहीं लाता था।"

इससे कहीं विरोधाभास, कहीं असंगति आ जाती है। शील में इतना ही वैचित्र्य आता है कि पात्र निष्प्राण शिलीभूत उद्देश्य मात्र न हो रहे।

(५) "सुनीता? वह उच्चशिक्षिता है। वह तनिक भी इस तरह नहीं रहती कि लोग न समझें वह उच्चशिक्षिता नहीं है। कुछ दिनों से नौकर हटाकर घर का काम

धन्धा करना शुरू कर दिया है । चौका-आसन भी करती है । हारमोनियम और वायलिन पर धूल चढ़ने देती है । ...."

(ख) सुनीता और हरिप्रसन्न एक दूसरे के प्रति क्या-क्या नहीं सोचते लेकिन उपन्यास में इसकी अभिव्यक्ति के रूप में केवल तरकारी परोसी जाती है या एक रोटी और ले लेने का का गृहिणी की ओर से आग्रह होता है । या सुनीता इधर का सामान उधर रखने लगती है, या बात टाल देती है । इस संयम के कारण नगण्य या गौण ब्योरे से गंभीर मनोवृत्ति का आच्छादन होता है । कभी-कभी ऐसे ब्योरे अन्तर्द्वन्द्व या विचारमग्नता में लीन अवस्था से वास्तविकता के जगत् में खींच लाते हैं । जब श्रीकान्त हरिप्रसन्न की स्मृतियाँ तथा अपने जीवन की जटिल उलझनों में खो जाता है तो सुनीता कहती है, "दूध ठंडा हो रहा है, लाऊँ ?" श्रीकान्त चौंक उठता है "दूध ?"

(ग) सत्या एक तटस्थ पात्र है । उसकी विस्मय-मुद्रा इस समस्या के रहस्य को पुष्ट करती है । वह समझती है कि हरिप्रसन्न में कोई असाधारण बात नहीं । उसे पता नहीं चलता कि क्यों जीजा जी और बहन उसके पीछे पड़े हैं । हिसाब की किताब तक फाड़ देती है कि हरिप्रसन्न से पढ़ना न पड़े । जब वह सुनीता और हरिप्रसन्न को प्रायः अनुचित एकान्त में देख लेती है तो भी उसकी सहानुभूति बहन के ही प्रति रहती है । हरिप्रसन्न सिनेमा ले जाना चाहता है तो वह खुश ही होती है ।

हरिप्रसन्न कभी सुनीता को लेकर भाव के आकाश चूमने लगता है, तो कभी ऐसा लगता है जैसे क्रान्तिकारियों का आन्दोलन तथा उसके लिए रुपयों की व्यवस्था ही उसका सर्वस्व है । सुनीता उसी तरह नारी-पुरुष, जीवन के आदर्शों आदि को लेकर विवाद में पूरी विदग्धता दिखाती है—कभी भावों की, कभी दर्शन की भाषा बोलती है, तो कभी सत्या की पढ़ाई, श्रीकान्त को सुखी करने की चिन्ता, और घर से मकड़ी का जाला साफ करने में लग जाती है । भावों और कर्मों के रह-रह कर ऐसे स्वतन्त्र पटपरिवर्तन होते रहते हैं कि शील किसी श्रेणी का बन्दी नहीं हो पाता । व्यावहारिक जीवन और आनुभूतिक जीवन समतोल से चले चलते हैं ।

जैनेन्द्र जी ने कम से कम तीन बार प्रतीक दृश्यों की योजना की है, जिससे अर्थ के उद्घाटन तथा शील की अभिव्यक्ति में सूक्ष्म अलंकार का चमत्कार आ जाता है ।

सुनीता घर साफ कर रही है । सिर पर से साड़ी हट गयी है । एकाध तिनका-जाला बालों में उलझ गया है । किसी राग का भूला-सा पद गुनगुना रही है । मकड़ियों के जाले में बुहारी को बाँस में लगा कर दे-दे मार रही है । ये मकड़ियाँ इतनी जाने कहाँ से पैदा हो जाती हैं । इतना जाला अपने पेट से कहाँ से निकाल लेती हैं ।

इसी अस्तव्यस्त अवस्था में हरिप्रसन्न आ जाता है। पहले तो यह घर के जीवन का एक सच्चा जीता-जागता दृश्य है। लेकिन असल सौंदर्य तो अर्थ का है। हरिप्रसन्न की गाँठ, श्रीकान्त सुनीता के जीवन की ग्रंथि सभी तो मकड़ी के जाले हैं, और नारी को उनका रेचन करना है। थोड़ी धूल सुनीता पर पड़ ही जाती है, जो पत्नी के सतीत्व पर पड़ी धूल है। कहानी का भविष्य पहले ही नाटक का पूर्वाभ्यास (Rehearsal) कर रहा है। दूसरा अवसर आता है जहाँ श्रीकान्त, सुनीता, सत्या और हरिप्रसन्न चित्रपट देखने जाते हैं, और अँधेरे में हरिप्रसन्न और सुनीता का स्पर्श हो जाता है तो सिहरन-सी हो जाती है। चित्र की कहानी मीरा की है। मीरा को सुनीता समझना चाहती है, राणावाली मीरा, विष के प्याले वाली मीरा, फिर भी साँवलिया वाली मीरा। मीरा पति को नहीं, फिर भी प्रेम तो करती है। सुनीता पति की ओर से मीरा को भर्त्सना भी देना चाहती है। मीरा को खंडिता, लांछिता ठहरा कर भी उसके प्रति वह अपने में स्नेह और वेदना पाती है। श्रीकान्त को राणा समझिए, हरिप्रसन्न को साँवलिया और सुनीता को मीरा। तो इस रूपक की कुछ और सार्थकता हो जाती है। यह स्फुट और निरपेक्ष रूपक नहीं, बल्कि परिवार वाली इस विशेष परिस्थिति में, इस राग-त्रिभुज में, भीतर से जीवित है।

एक द्वन्द्व का उसी तरह चित्रण हरिप्रसन्न के उस प्रयास में है, जिसमें वह किताब पर 'श्रीकान्त सुनीता' लिखा देख कर अपने को वंचित पाता है, और शायद व्यंग्य से 'श्रीमती सुनीता देवी' लिख देता है। "ओ तू!" वाला चित्र उसी तरह अज्ञेय की जिज्ञासा, चिरन्तन नारी, छलनामयी सम्पूर्त्ति की खोज का प्रतीक विधान है।

(५) इन सब बातों से एक बात और समस्या को समस्या बनाने में योग देती है। एक दृष्टि से देखिए तो मकड़ी झाड़ती हुई, अधनंगी, धूलि-धूसरित सुनीता की आकस्मिक छवि ही शायद हरिप्रसन्न पर सदा-सदा के लिए जादू कर जाती है। दूसरी ओर लगता है जैसे हरिप्रसन्न तो दूर-दूर रहता है, बहुत दूर भागता है, लेकिन परिचय होते-होते वह दुर्बल हो जाता है। उसी तरह सुनीता तो शायद पहले से ही घायल है, मीरा में अपना रूप देखती है। एक ओर बात है यह और दूसरी ओर पति के आदेश के अनुसार ही वह सब कुछ करती है। जंगल की नग्न एकान्त वाली घटना में, तत्क्षणता है या स्थायी की अभिव्यक्ति? तत्क्षण आवेश और स्थायी भाव-मुद्रा की समतोल योजना से भी समस्या बनी रहती है।

शील-संक्षेप—

(क) श्रीकान्त का साक्षात्कार होने के पहले ही उससे सुनीता का परिचय हो जाता है। उपन्यासकार पहले उसे मित्र के रूप में रखता है जिसमें उसकी परापेक्षा खिन्न-स्मित स्वीकृति तथा अनुगृहीत दाता की दीनता के रूप में प्रकट होती है। वह

हरिप्रसन्न का मुँह जोहता है। बहस नहीं करता, उदास मन से मुस्कुरा कर बात मान लेता है और सहायता देकर भी कृतज्ञ बना रहता है। श्रीकान्त उन आदमियों में है जो एकान्त में उदास रहते हैं लेकिन भीड़ से भागते हैं। ऐसों के लिए एक उपास्य मित्र की आवश्यकता होती है। हरिप्रसन्न अनासक्त, अल्हड़, कर्मठ तथा आदर्शवादी है। श्रीकान्त उसके चरित्रबल तथा स्वयंपर्याप्त व्यक्तित्व की मन में पूजा करता है। श्रीकान्त की उदासी तथा अपने को मिटा कर भी उल्लास के दर्शन करने की भूख स्पष्ट हो जाती है। ऐसा आदमी संसार से अपना मूल्य बढ़ाना नहीं चाहता, वह तो अपने को वातावरण का एक साधन बना देता है। यह श्रीकान्त के शील का मूल बीजत्व है जिससे अन्त तक स्त्री-मित्र को एकान्त में छोड़ जानेवाले सहज साहसी की पहचान होती है। वही श्रीकान्त है। विकास पिठरपाक सम्मत है।

श्रीकान्त का मित्र हरिप्रसन्न से वियोग हो जाता है। मित्र भटकता है लेकिन अपने में मस्त है। श्रीकान्त वकील हो गया और पुरानी लकीर को पीट रहा है। तूफान से युद्ध करते माँझी को यदि कोई समुद्र के तट पर खड़े दुर्ग की खिड़की से देखे तो उसे कैसा लगेगा? वह कह उठेगा "कितना अद्भुत वीर है?" और साथ ही "आह बेचारा!"। इस तरह श्रीकान्त के मन में जो हरिप्रसन्न के प्रति राग है उसमें मित्र के श्रेष्ठ होने की भावना—अतएव आदर—कठिनाइयों से युद्ध करने वाले प्रबलतर रजस के प्रति विस्मय तथा "कवन बिरिद्ध तर भींजत होइ हैं" वाली करुणा भी है। इतना ही ही नहीं, आत्म-भर्त्सना भी इसलिए है कि वह स्वयं क्यों उपयोगिता, व्यावहारिक सुलभता, निरापद दैनिकता तथा तेजविहीन निष्प्राणता के जीवन में आ फँसा। अपने प्रति धिक्कार के साथ दया के भी भाव हैं। उसके साथ बुद्धि का यह कटाक्ष—आश्वासन भी है कि बच्चू हरिप्रसन्न एक बार इस फँदे में फँस कर देखें तब समझेंगे। ऐसे श्रीकान्त ने जो विवाह कर लिया है तो उसकी कुछ वेदना और भी कठिन हो जाती है। पति-पत्नी के दैनिक जीवन में उल्लास और समारोह के क्षण तो आ सकते नहीं। जीवन में यान्त्रिक क्रम आ गया है। लेकिन स्त्री का पाणिग्रहण किया है। वह भी एक जीव है। उसे वह पूरा प्रेम दे नहीं सकता। इसकी पीड़ा, इसकी अन्याय-चेतना भी है। प्रेम का जो आदि-रस रहता है उसके आलम्बन के रूप में तो हरिप्रसन्न बहुत मजबूत जड़ें जमा चुका है। भला दूसरों से अनुग्रह पाने की भूख रखनेवाला श्रीकान्त स्वयं प्रेमी कैसे बन पाता? श्रीकान्त, हरिप्रसन्न की सहायता कर भी अहं नहीं आने देता था। क्या इसका यह अर्थ है कि वह प्रेमी नहीं, प्रेम है? नहीं। यदि ऐसा होता तो वह सुनीता को भी प्यार करता, उससे भी संतुष्ट हो जाता। लेकिन उसे तो अद्भुत और असाधारण से अपने सम्बन्ध मात्र के प्रति मोह है। हरिप्रसन्न का उस पर अधिकार है, उसका सुनीता पर। प्रारम्भ में स्मृतियों से श्रीकान्त और हरिप्रसन्न का चित्र बनता चलता है।

हरिप्रसन्न ने कहा था "क्या आगे बढ़कर अपनायी गयी मौत (जगत को नवीन चीज देने के लिए) व्यर्थ है ?" [बातचीत में ब्रैकेट देने वाला उपन्यासकार है, पात्र नहीं] ।

तो श्रीकान्त ने कहा था, "मौत आगे बढ़कर अपनाने लायक चीज नहीं है । उसका आकर्षण है तो समझो उसका भय है .... ।"

हरि मौत से खेल रहा है । इसलिए करुणा के साथ-साथ भय और आदर भी .... । ऐसा नहीं कि श्रीकान्त विदग्ध नहीं । कहने को तो जैनेन्द्रजी उसे बात मान लेनेवाला कह जाते हैं लेकिन जब-जब अवसर आता है श्रीकान्त हरिप्रसन्न से अधिक विदग्धता से बात करता है । लेकिन श्रीकान्त की शिक्षा और परिस्थिति पर उत्प्रेक्षा करने की शक्ति उसकी शांति के लिए घुन है ।

श्रीकान्त एक पत्र लिखता है । उसमें विवाह, स्त्री-संज्ञा आदि पर विवाद है । "तुम जानते हो, परवश होना मुझे कभी नहीं भाया"--कैसा आत्मव्यंग्य है ! साथ ही "तुमसे प्रत्याशा रखने वाले भूखे रहें और तुम निरन्तर घटते जाओ--यह क्या है ?" वाली पेचदारी भी है । स्पष्ट है कि पत्र श्रीकान्त का नहीं, हरिप्रसन्न के योग्य बनाकर लिखा गया है और जैनेन्द्र जी का आशय स्पष्ट करने के लिए । फिर कहानी में कुछ घटना घटायी जाय इसलिए ही चिट्ठी लौट आती है और शहरों में, कुंभ में, खोज की जाती है । सुनीता जब चिट्ठी का लौटना सुनकर कहती है "अच्छा !" तो श्रीकान्त खीझता है कि सुनीता इस बात को इतना साधारण क्यों समझती है । तीर्थयात्रा की तैयारी जानबूझ कर संयुक्तता का स्वाद जगाने के लिए की जाती है । विचित्र बात है ।-- दोनों जानते हैं कि वे एक दूसरे में दिलचस्पी जगाने जा रहे हैं । इसमें कम से कम एक भी लक्ष्य को नहीं जानता तो बात मन की होती, मनोविज्ञान की नहीं । श्रीकान्त रेचन का लक्ष्य समझता, सुनीता केवल यात्रा समझ कर अनायास आस्वादन करती । पर शायद उदासी को घनीभूत तथा व्यंग्य-मार्मिक करना जैनेन्द्र जी को अभीष्ट है ।

हरिप्रसन्न को दूर से देखकर लेकिन न पाकर, पति-पत्नी में विवाद चल पड़ता है । श्रीकान्त कहता है, "मैं अपना मालिक हूँ । मैं उसका कोई नहीं । और मेरी मरजी है, मैं उसको साधु बनने देना नहीं चाहता । .... जिसने विवाह जाना ही नहीं, स्त्री को झेला ही नहीं वह साधु नहीं बन सकता । तुम्हारी ही राह से मैं उसे दुनिया में लाना चाहता हूँ ।" फिर कहता है हरिप्रसन्न के भटकते रहने से एक घुंडीदार प्रश्न-चिह्न सामने आ खड़ा होता है "तुम यह श्रीकान्त ! तुम यह ? जब कि तुम्हीं देखो मैं क्या हूँ ।"

'बद्धोस्मि अतएव हीनोस्मि' वाली इस ग्लानि की चर्चा हम पहले कर चुके हैं । सचमुच श्रीकान्त की कल्याण-कामना में एक स्वार्थ है । हरिप्रसन्न को घेरे में

लाकर वह हीनता की ग्लानि से मुक्त होना चाहता है । मैत्री असमानता को मिटाना चाहती है ।

श्रीकान्त और सुनीता के घुटते जीवन को बड़े ही हल्के ब्योरे से जैनेन्द्र जी चित्रित करते हैं । श्रीकान्त बाहर जाता है तो पूछ लेता है--"चलोगी ?"। सुनीता अनजान बन कर पूछती है--"कहाँ ?" श्रीकान्त कहता है--"अमुक जल्से में" तो वह कहती है--"मैं वहाँ जाकर क्या करूँगी ?" श्रीकान्त "ठीक तो है, वहाँ जाने में क्या रखा है !" कहकर चल देता है और सुनीता मन में दुहराती हुई "ठीक तो है, वहाँ जाने में क्या रखा है" द्विगुणित वेग से काम करने लगती है । यहाँ स्पष्ट है कि श्रीकान्त कुछ दया, कुछ निर्वाह, कुछ न्याय-भावना से पूछता है लेकिन यह गूढ़ भय भी बना है कि व्यर्थ ही सुनीता तैयार न हो जाय । सुनीता का अनजान बनना और यह कहना कि जाकर क्या करूँगी, पति से स्निग्ध आग्रह पाने की भूख है । फिर सुनीता के हिचक दिखाने पर श्रीकान्त जैसे मुक्ति की साँस लेकर, भय से मुक्त हो भाग निकलता है, और सुनीता गम को गलत करने के लिए और दूने वेग से काम करने लगती है । इन सूक्ष्मताओं में संयम के चलते पूरी मार्मिकता है--यहाँ तक कि जहाँ श्रीकान्त अपनी पत्नी को लेकर थोड़ा विनोद करता है वहाँ भी पुलिस और चोर की ही हालत रहती है--"वह देखो--(किवाड़ पर दूसरी ओर से आती हुई थपथपाहट को सुन कर) । वह टेलीफोन पहुँचा।" बड़ी ही सूखी हँसी है । श्रीकान्त और सुनीता जहाँ रहते हैं वहाँ परिवार का वातावरण प्रधान हो जाता है, व्यक्तित्व नहीं रह जाता ।

उसके बाद से श्रीकान्त हरिप्रसन्न और सुनीता के बीच आता जाता रहता है । कभी हरिप्रसन्न के लिये सुनीता से रुपये माँग कर देता है । पत्नी का कितना आदर है, मान है, यह दिखला जाता है । कभी हरिप्रसन्न के प्रति सुनीता की झाँकती रुचि को देख मन ही मन प्रसन्न होता है ।

फिर तीन और प्रमुख अवसर उसके शील-साक्षात्कार के मिलते हैं । श्रीकान्त लाहौर जा रहा है । सुनीता कातर स्वर से आर्त्त भाव से, प्रार्थना करती है कि वह न जाय और लगता है जैसे श्रीकान्त कुशल अभिनेता की तरह नाट्य कर रहा हो कि वह समझ नहीं पा रहा है । सुनीता यहाँ तक कह चुकती है कि श्रद्धा की पूर्णिमा को डँसने राहु आया है । वह पूछती है,--"क्या विवाह लौकिक नीति मात्र है ?" वह यह भी कहती है कि उसका मन उससे खिसका जा रहा है । पर श्रीकान्त अपनी धुन में आप मस्त है ? अपनी धुन में आप खाली होना चाहता है ।

वह विश्वास दिलाता है "मैं तुम्हारा हूँ" तो वह कितने नाटकीय हाव-भाव के बाद यह भी कहला लेती है कि "तुम मेरी हो" । स्पष्ट है कि फिसल भी जायगी

तो वह पति की ही रहेगी इसका आश्वासन सुनीता माँगती है । श्रीकान्त है कि यह सब कुछ कह कर चल देता है । भारी प्रयोगवादी है । ऐसी वैज्ञानिक संगति शील को प्रयोजन-बद्ध, बधिर और अन्ध बना देती है । एक क्षण के लिए भी वह दुर्बल नहीं पड़ता । श्रीकान्त शिशु-सा सरल दिखाया जाने वाला है और पाठक की आस्था डिग जाती है । विचित्र गोरखधंधा है । यह घर है या प्रयोगशाला ?

जाने के समय श्रीकान्त हरि से कहता है, "हरि, हमलोग दुर्गम पथ से दूर हट कर सुगम राह पकड़ कर चले जा रहे हैं तो क्या उस पथ के पथिक को समझना जानते हैं । हरि, घबराना नहीं । हम टूटें तो टूटें, पर तुम मत झुकना, निर्मम रहना, बढ़ते रहना ।" विचित्र बात है । यह तो आदर्श की वह लच्छेदारी है जिसमें केवल बुद्धि को तृप्ति होती है । फिर समस्या भी बन जाती है । श्रीकान्त का यदि यह प्रयोजन है कि सुनीता से हरिप्रसन्न अपराजित हो न कि सुनीता उसे विवाह-पथ पर लाये तब तो श्रीकान्त खुद नहीं समझता कि वह कब क्या और किससे कहता है । या वह अखाड़े में दोनों पहलवानों को ललकारता है महज दंगल के कुतूहल के लिए ?

पुरुष-मित्र और नारी-पत्नी के बीच उसकी सहानुभूति का असमंजस ही उसके शील-निरूपण की उपलब्धि है ।

दूसरी झाँकी मिलती है उसके पत्र के द्वारा जहाँ वह एक ओर सुनीता को यह आदेश देता है कि हरि को समाज के लिए उपयोगी बनाए । (याद कीजिए वह कह चुका है कि हरि तुम हारना नहीं, झुकना नहीं) । फिर सुनीता को आदेश देता है कि वह अपने को हरि की इच्छा के नीचे छोड़ दे, अपने लिये कोई काम्य कर्म न सोचे । इस तरह कोई निषिद्ध कर्म भी नहीं रहेगा । कर्म में अपने को ह्रस्व, अनासक्त पाना ही तो इष्ट है । स्पष्ट है कि वह सुनीता को खंडिता भी बनाना चाहता है तो उसे गीता का अनासक्त योग कह कर । हरिप्रसन्न उसके लिए कलाकार है , महात्मा नहीं । यह सूझ बड़ी अच्छी है । कलाकार आदर्शों की उलझन में, आने-जाने वाली अनुभूतियों के साथ इधर-उधर आता-जाता रहता है । महात्मा तो एक आदर्श सिद्ध कर लेता है । हरिप्रसन्न को सुधार कर श्रीकान्त कला और प्रयोजन की शादी करना चाहता है । बड़े ही मार्के की बात है । हरिप्रसन्न जब अपनी राह चला जाता है तो कला प्रयोजन से बँध जाना अस्वीकार कर देती है । इस तरह श्रीकान्त से यह ऐसा कहला कर जैनेन्द्र जी यह दिखला देना चाहते है कि हरिप्रसन्न की कहानी का एक मतलब यह भी है कि कला का धर्म स्वभाव का धर्म है । कला आनुभूतिक है--अपने भीतर से प्रयोजन की उद्भावना करती है । सुनीता से सुधार नहीं होता । कलाकार सत्य के साथी मात्र होते हैं । लेकिन इस पत्र से एक बात तो और संकेतित हो ही जाती है कि श्रीकान्त हर

बात की छुट्टी दे देता है। और तब कल्पना कीजिए कि सुनीता को वह कहता है "अवर क्वीन कैन डू नो रौंग" तथा "ओ छलनामयी ! " "ओ तू !"

श्रीकान्त प्रयोग भी करता है; रहस्य को भी स्वीकार करता है, यथार्थ को पहचानता है, फिर भी विस्मित है--यही उसकी पहेली है।

यदि हरिप्रसन्न सत्य का जिज्ञासु कलाकार है तो सुनीता जिज्ञासा के विषय के रूप मे जीवन-तत्त्व है। कठिनाई यह है कि जीवन तत्त्व शुद्ध रूप में मिल पाता नहीं। वह उपाधियों तथा विकारों के साथ मिलता है। पत्नी सुनीता उपाधि विकृत है, आच्छादित है। नंगी सुनीता, जीवन की नंगी माया है। सत्य की नग्नता स्वयं एक प्रयोजन है, स्वयं रमणीय है तथा कला की सिद्धि है। इससे अतिरिक्त किसी कलाकार को कोई थोथा उपदेश-कथन चाहिए नहीं। हरिप्रसन्न भी ऐसा ही विशुद्ध कलाकार है और सुनीता सत्यप्रकाश है। लेकिन इस नग्नता में विज्ञान का विश्लेषण नहीं, सम्पूर्ति का भाव है और रहस्य की कल्पना है।

प्रेमचन्द्र जी की मालती की तरह जैनेन्द्र की सुनीता भी विकास के एक छोर से दूसरे छोड़ तक चली जाती है। क्या वही सुनीता है या दो सुनीतायें हैं, या भिन्न-भिन्न सुनीतायें हैं ? पिठरपाक की यही पूछ है ? सुनीता सबसे अधिक सजीव तथा मौलिक पात्र है। उसके शील-निरूपण का क्रमिक विकास स्पष्टतः लक्षित है। सुनीता पहले शिक्षित पत्नी, फिर विमन पत्नी, फिर पति के मुँह से दूसरे पुरुष की तारीफ सुन कर अन्यमनस्क पत्नी, फिर कुतूहल तथा धीरे-धीरे गुप्त प्रेम की नारी हो जाती है। फिर पति और पत्नी के मित्र के बीच द्वन्द्व का अनुभव करती है। पति से कातर होकर सहारा माँगती है, संग माँगती है और अन्त में अपने ही पति द्वारा पत्नी भावना से मुक्त कर दिये जाने पर एकान्त पाते ही दूसरे को नग्न समर्पण भी कर देती है। पिठरपाक सम्मत यह विकास है।

पत्नी सुनीता पढ़ी-लिखी है और उपन्यासकार कहता है कि पत्नी और पति दोनों सम्मत हैं कि विवाह (कुटुम्ब अथवा समाज कायम रखने के लिए एक रूढ़ि संस्था) निबाहने योग्य संस्था है। यहीं अन्त की सुनीता का बीजारोपण होता है। "दोनों सम्मत हैं"। स्पष्ट है कि विवाह व्यक्ति के भाव की नहीं, समाज की सत्ता की निमित्त संस्था है। यह कुछ ऐसा है जैसे कोई प्रस्ताव के विरुद्ध बोलने वाला भी प्रस्ताव के सर्व-सम्मति से स्वीकृत हो जाने पर उसका पालन करे। जंगल के एकान्त की सुनीता सदस्यता से मुक्त है। इसलिए व्यक्ति का संकल्प नग्न हो जाता है। फिर श्रीकान्त के लौट आने पर संस्था की सदस्यता पुनर्जीवित हो जाती है और मर्यादोचित व्यवहार शुरू हो जाता है। सुनीता आद्योपान्त पहचानी जा सकती है।

सुनीता पढ़ी-लिखी है लेकिन साधारण व्यक्तित्व की नहीं, जो चौका-बासन न करे। वह चौका-बासन भी करती है तथा हारमोनियम और वायलिन पर धूल चढ़ने देती है। "वह तनिक भी इस तरह नहीं रहती कि लोग न समझें वह उच्चशिक्षिता नहीं हैं।" विमन कर्त्तव्य-पालन, आत्मनिर्भरता के प्रति प्रशस्ति तथा व्यंग्य दोनों के भाव और साथ ही वह दुरूह सादगी या सादी दुरूहता जो सुनीता की अमोघ रहस्यमयता का प्राण है--सभी की अभिव्यक्ति हो जाती है।

फिर परिवार के उस यन्त्रवत् चलने वाले जीवन में कभी श्रीकान्त, कभी सुनीता के स्फुट स्वगत मिलते हैं जिनमें प्रत्येक हैरान है कि आखिर वह कैसे दूसरे का प्रसादन करे। सुनीता घर के काम में अपने को भुलाए रहती है। ऐसे वातावरण में एक बालक रहता तो बात बहुत बन जाती। लेकिन नहीं है तो तरस खाइए और भूल जाइए। सुनीता कभी "दूध !" लेकर आती है तो विचारमग्न पति चौंक पड़ता है "दूध !" फिर वैसे दृश्य आते हैं जिनमें पति ऊपर मन से कहीं साथ जाने को पूछ देता है, सुनीता ऊपर मन से टाल देती है। न वह फिर से आग्रह करता है, न सुनीता को यह सुख नसीब होता है कि पति नाज उठाये। वह भाग खड़ा होता है और यह गम को भुलाने के लिए झाड़ू की आँधी मचा देती है। यह संयोग में विप्रलंभ की स्थिति है, संग है पर रति नहीं।

श्रीकान्त जो पत्र हरिप्रसन्न को लिखता है उसमें भी वह एक तरफ वनस्पति है, झरना है (प्राण का निसर्ग-प्रवाह, शुद्ध नारी; पुरुष के लिए गुरुत्वाकर्षण), तो दूसरी तरफ पत्नी तथा भारतीय संस्कृति की भाभी।

कुंभ में हरिप्रसन्न की एक झलक मिलती है, लेकिन वह नहीं मिलता। श्रीकान्त उसकी तारीफ के पुल बाँध देता है। कहता है वह अदम्य आदर्शवादी है। वह साधु नहीं हो सकता। सुनीता की बन्द दुनिया का एक झरोखा जैसे थोड़ा खुल-सा जाता है। चर्चा के ही रूप में सही, तीसरे का प्रवेश तो हो ही जाता है। यहाँ मानव-स्वभाव का एक परिचय मिलता है। दो की दुनिया तभी चल सकती है जब एक कर्म, भाव, व्यक्ति या पदार्थ उभयनिष्ठ आलम्बन के रूप में हो। एक ही आलम्बन के दो आश्रय के रूप में ही काम चल सकता है। आलम्बन और आश्रय का एकान्त, निपट उदासी का एकान्त है जिसमें विमुखता आ जाती है। इसी से शायद भगवान को पाकर भी भक्त संसार को भागवत-दृष्टि (उभयनिष्ठ दृष्टि) से देखता है और सेवा अपनाता है; राम के साथ तीनों भाई, केवट, शबरी, हनुमान आदि की भी चर्चा करता है। यह शरीर का दंड है। एक से दो हुआ कि तीसरे की आवश्यकता हुई। सुनीता और श्रीकान्त की दुनिया में पहले पहल हरिप्रसन्न की चर्चा से थोड़ा स्फुरण होता है। लेकिन रुचि संयम के बाहर नहीं

जाती । सुनीता को कुछ कुतूहल होता है और मन ही मन हरिप्रसन्न को कुछ सनकी समझती है । यह द्विविध-मुद्रा सहज-स्वाभाविक है । यहाँ विस्मय और विरोध दोनों हैं । जब श्रीकान्त एक लम्बा-चौड़ा प्रलाप करने लगता है कि किस तरह वह सुनीता के माध्यम से हरि को सुधार कराना चाहता है तो सुनीता हँस कर कहती है "अच्छा, अच्छा" ।

लेकिन साथ-साथ उस ओझल रहस्य को मूर्त्त रूप में देखने की अभिलाषा शनैः शनैः सुनीता के हृदय में बढ़ती जाती है । उस "गोरखधंधे" को लेकर जिज्ञासा होती है जिसे वह गुप्त रखना चाहती है । गूढ़ मनोवृत्ति यह है कि वह रहस्यमय व्यक्ति कुछ इतना घर करता जा रहा है कि पति के सामने कहने में संकोच है । जिज्ञासा अज्ञात रूप से गूढ़ स्नेह बनती जा रही है । उस आदमी के भाई-बहन है कि नहीं ? अपनी कल्पना से उत्तर भी देती है । लेकिन सन्तोष नहीं होता ।

फिर अपने अन्दर को कुरेदने के लिए, अन्यमनस्कता का नाट्य करने के लिए मित्र के प्रति कितना प्रेम पति को है यह जानने के लिए, तथा परीक्षा के द्वारा विचलित करने के लिए वह पूछती है कि क्या हरिप्रसन्न को भी उतनी ही चिन्ता होगी जितनी उसके लिए इस घर को रहती है । पति कहता है "हाँ होगी और होनी पड़ेगी ।".... तो शायद वह अन्दर ही अन्दर खुश होती है ।

लेकिन श्रीकान्त को भेद-सुहृद चाहिए, सुनीता जीवन की अनुभूतियों को अपने तक रख चली चलती है और व्यावहारिक ब्योरों को ही पति तक आने देती है ।

एक दिन सुनीता फेंटा कसे '(मानहु मदन दुंदभी दीनी" परन्तु अज्ञात भाव से) मकड़ी का जाला साफ करती है । इसके प्रतीक-गर्भत्व का संकेत हम पहले कर चुके हैं । साथ ही अस्तव्यस्त नारी के सहज सौंदर्य का आकस्मिक प्रभाव हरिप्रसन्न पर पड़ कर ही रहता है । प्रथम साक्षात्कार के सहज मोह का यह उदाहरण है । लेकिन सुनीता के भीतर भी गुदगुदी है ।

आज सुनीता को नौकर नहीं रहने से रीझ है । नौकर रहता तो वह बाहर जाता और ये (श्रीकान्त) उन्हें (हरिको) बहलाते । बहुत छोटी बातों में अभि-व्यक्ति की संयत मार्मिकता होती है । जैनेन्द्र जी इस कला में प्रवीण हैं । यहाँ तक कि खातिर की खुशी में बाजार के मोलभाव और सौदे की खरीद पर वह पति से दो-दो बात भी कर बैठती है । सुनीता का अपना "काठिन्य"--(जैनेन्द्र जी का शब्द) व्यर्थ लगता है । उसे हरि की दाढ़ी-वाढ़ी ठीक करवा देने की जिद्द-सी हो जाती है । नारी को पुरुष में रुचि हो गयी । पत्नी का संकोच दुर्बल पड़ रहा है । सुनीता ऊपर से कहती तो है कि "न आदत हो तो जाने दीजिये" लेकिन इस व्यंग्य और अनपेक्षा में उपेक्षा

नहीं गूढ़ दुर्बलता तथा खिलाने की इच्छा का आवरण है । नारी चाहती है हरि रहे । पत्नी इस भेद से संकोच करती है । इसलिए पति को व्याज से कहती है "यह बहुत अकेले रहते हैं और आप को याद करते थे ।. आप आते रहेंगे" हरि चले जाने की हठ करता है तो इस कठिनता पर और विस्मय तथा इस रहस्य को खोजने की और इच्छा होती है । लक्ष्मी ने सभी देवताओं को छोड़ निरपेक्ष विष्णु को वरमाला पहना दी इस रूपक में नारी हृदय का एक चिरन्तन सत्य है । पुरुष तथा दृढ़ पुरुष को नारी और अधिक पाना चाहती है । कोमल तथा दुर्बल पुरुष तो स्वयं नारी हैं । हरि के सामने श्रीकान्त तो जैसे अबला पुरुष हो । सत्या की ट्यूशन सुनीता की सूझ है । हरि को फँसा रखने की चाल है, नारी-नारी एक है । शायद हरि की कठिनता का स्राव हो जाय, फिर पाना आसान होगा । अपने में शायद गूढ़ विश्वास भी है कि सत्या छीन नहीं सकती ।

अँधेरे हाल के 'मीरा' चित्र-पट की वैयक्तिक मार्मिकता, औचित्य तथा उद्देश्य के प्रतीक प्रत्यक्ष की बात हम पहले कर चुके हैं । श्रीकान्त सोचता है राणा को पागल हो जाना चाहिए, वह निर्दयी होकर ही क्यों रह गया ? श्रीकान्त प्रेम का पक्ष लेता है । लेकिन प्रेम किसका--मीरा का या राणा का ? राणा के प्रेम का पक्ष लेता है तो श्रीकान्त मीरा के कर्त्तव्य तथा आदर्श पर भी जोर देता है । विचित्र पहेली है । श्रीकान्त के आग्रह करने पर सुनीता जो कहती है उसमें शील के अनुकूल उपकथन नहीं, निबन्ध तथा विचार और विवेचना का आयास है--"अलौकिक ही कुछ हो सकता है जो लौकिक का आधिपत्य स्वीकार कर दे । अतीत जो है उसे चलाने के लिए बुद्धि के पैर और पैर के स्टेप्स काम नहीं देंगे । .... मैं जानती हूँ कि लौकिक के दिशा-दर्शन, मार्ग-दर्शन के हेतु से अलौकिक यदा-कदा घटित होता है । बहिष्कृत तो उसे करना ही होगा, पर उससे चेतावनी भी ले लेनी होगी । मीरा को समझती मैं भी नहीं हूँ पर समझती हूँ, वह समझी जा सकती है ।"

सुनीता चुप रहती है तो चुप और बोलती है तो अधिकार के साथ । सत्या के बारे में कहती है तो इस तरह "सत्या स्वप्नशील लड़की है और उसके स्वप्न में भावना भी है । इससे मैं समझती हूँ वह सृजन भी कर सकती है । भोग में वह अभाव सृष्ट कर लेगी और सूने अभाव के मध्य में भरने के लिए रंग ।"

तनिक ठहर कर सुनीता कहती है "देखो हरि बाबू, तुम बड़े हो । लेकिन हमलोग स्त्री हैं । हमारा यह काम है कि हम पुरुषों को सामने भगावें । जब तक वह सामने भागता है, हम पीछे-पीछे हैं । जब वह पीठ की ओर भागना चाहे तब हम सामने हो जाती हैं । हमसे पार नहीं जा सकेगा ।"

सुनीता तो बर्नार्ड शा की पुल्लिंग नारी, आखेटक नारी हो जाती है, जिसमें पुरुष भागता है और प्राण-शक्ति (elanvital या life-force) के निमित्त के रूप में नारी उसे खदेड़ कर फाँस लेती है और प्रजनन के लिए बाध्य करती है। हरिप्रसन्न देहली जाने को कहता है तो सुनीता पहले तो "क्या आ?" कहती है। कई जगह सुनीता 'क्या-आ-आ'? कहती है जिसमें विस्मय से अधिक नाटकीयता है, फिर कहती है "यह न होगा, हरिप्रसन्न देखना, यह न होगा।" सुनीता ज्योतिष से नहीं बोलती। प्राण-शक्ति के अज्ञात निमित्त के रूप में बोलती है।

हरिप्रसन्न नहीं आता है तो सुनीता वायलिन बजाती है, तार चीख उठते हैं। यह विरह को ठोकर मार-मार कर मूच्छित कर देने जैसा है। साथ ही सुनीता शरद बाबू की नायिकाओं की तरह चरम पर ले जाकर साधारण काम-काज में हमें झटका दे जाती है या बात वहीं छोड़कर चली जाती है अथवा बात मे अनुदार और क्रिया में उदार हो जाती है।

अगला अध्याय आता है जब सुनीता के हृदय में हरि तथा श्रीकान्त को लेकर द्वन्द्व चलता है। वह जानती है कि राहु श्रद्धा पूर्णिमा को डँसने आया है और पति से बल माँगती है। इसी द्वन्द्व के कारण, बात को अभिधा में नहीं कह सकने के कारण, सुनीता और सहानुभूति अर्जित कर लेती है। रूपक ही कहीं स्वभावोक्ति का काम करता है। यहाँ यदि सुनीता स्पष्ट कह देती कि हरि के साथ एकान्त में रह कर वह खंडिता हो जायेगी तो यह वह नग्नता होती जो काव्य में, अश्लीलता से भी अधिक अधम, ग्राम्यता होती।

आगे चलकर जैनेन्द्र जी व्यास के रूप में यह स्पष्ट कह देते हैं कि सुनीता नारी है, या सहज भाव का जीवन है और हरिप्रसन्न के भीतर गाँठ है, जटिलता है। पात्रों के कर्मों और बातों से यह बात अभिव्यक्ति होती तो और अच्छा होता।

सुनीता और हरिप्रसन्न के एकान्त का एक दृश्य आता है जिसमें काफी विदग्धता से वह हरिप्रसन्न को निरुत्तर करती जाती है--

हरि :--"लेकिन मुझे जानना बाकी है कि किस लाचारी से तुम मेरे लिए भाभी हो! बता सकती हो?"

सुनीता :--हाँ भाभी हूँ इसीसे इन्कार करती हूँ। भिखारी को नहीं तो कब मुझ से (नारी से) इन्कार किया जा सकता है?

हरि :--तो तुम्हें मेरे पाप-पुण्य की चिन्ता है?

सुनीता :--सो भी क्यों न हो?

हरि :--यों न हो कि मैं खिलौना नहीं हूँ?"

सुनीता :--मै जानती हूँ, नहीं हो।

सुनीता :--(रुपये को लेकर) वादा मेरा नहीं है।

हरि :--लेकिन मेरा तो है और मैं तुम्हारे सामने हूँ ।

सुनीता :--तो तुम जानो--और मुझे काम है । मैं जाती हूँ ।

यह है परास्त कर, तबाह कर, भाग जाने तथा हैरानी में छोड़ जाने वाली शरद बाबू को नायिका जिससे हरि आकृष्ट, उत्तेजित तथा आसक्त होता जाता है । मकड़ी बार-बार मार कर मक्खी को अपना आहार बनाती है, एक ही झटके में नहीं । बर्नार्ड शा ने स्त्री को मकड़ी और पुरुष को मक्खी कहा भी है । काफी नाटकीय संघर्ष के बाद पस्त हो कर हरि उसे जाने ही देता है । मगर रुपये मिल जाते हैं ।

कभी थोड़ी विदग्धता से चुनौती देकर सुनीता, हरि को जैसे सुई से खुरच देती है । हरि ब्याह नहीं करेगा, सिर्फ रहेगा । तो सुनीता पूछती है--देवता की तरह या आदमी की तरह ? इस पर शनैः शनैः दीप्त होता हरि सुनीता को क्रान्ति का शाक्त-मुक्तक सुनाता है जिसमें सुनीता मातृदेवी होगी । सुनीता को कहीं भी हरिप्रसन्न विदग्धता में पछाड़ नहीं सका है । वह भागेगा ? तो यह भागना सबलता का दम्भ है जो पीठ दिखा कर भागता है । चट्टान की तरह वह टूट जायेगा । लेकिन जो प्राणवायु की तरह शून्य है उस आँधी के टुकड़े कैसे होंगे ? यानी सुनीता के कैसे ? विश्वास मानिए ये सुनीता के शब्द हैं ।

राष्ट्र की देवी और पत्नी बनने का द्वन्द्व दुष्कर का आकर्षण तथा पत्नी के संस्कार का द्वन्द्व है । जंगल में जाने के पहले वह चित्र से बल माँगती है और जंगल में जो होता है उसकी इतनी चर्चा हो चुकी है कि उसे दुहराना ठीक नहीं । तथा उसे भी दुहराना ठीक नहीं जो हरि के चले जाने पर सुनीता श्रीकान्त से तथा श्रीकान्त सुनीता से कहता है ।

सुनीता शील की दृष्टि से भारतीय उपन्यास-परम्परा में नितान्त मौलिक तथा सजीव कृति है जिसमें दार्शनिक गौरव के साथ परिस्थिति तथा व्यक्ति के भाव-भोग की सापेक्षता, और संगीत भी है ।

(ग) इस उपन्यास के सभी पात्रों में हरिप्रसन्न का शील परतन्त्र है । पात्रत्व की दृष्टि से सुनीता अपने बल पर जीती है, श्रीकान्त अपने बल पर चलता जाता है लेकिन हरिप्रसन्न तो श्रीकान्त के बल पर कभी खड़ा होता, कभी भागता जाता है । उसी शील को पाठक हृदयङ्गम करता है जो विचारों या भावों का स्वगत-कथन नहीं करता न मात्र बैल-गाड़ी चलाने के अर्थ में शारीरिक क्रिया करता है, बल्कि कर्म करता है । क्रिया और कर्म में भेद है । कर्म में भाव-भोग और फल-भोग पर्याय व्याप्त होते हैं । फल-भोग का तात्पर्य पुण्य का पारितोषिक और पाप का दण्ड नहीं है । जो भाव प्रेरित करता है वही फल का भोग है । किसी के यहाँ डाका डालकर आप किसी सन्त को खिलाते हैं तो डाका डालना क्रिया है । सन्त को खिलाने का आनन्द भाव-भोग है । संभव है आप बीच में पकड़ लिए जायें और संत को खिला न सकें । खिला सकने की सफलता या विफलता फल-भोग नहीं ।

लक्ष्य-पूर्ति की जो अभिलाषा है वह तो भाव के नशे में, भाव के आयुकाल तक स्वयं फल-भोग है। अतएव उस क्रिया को कर्म कहेंगे जो क्रिया स्वयं अपने में भाव-भोग या फल-भोग हो। किसी ने कहा, दियासलाई तो दीजिए और आप उधर क्रोचे का एस्थेटिक्स पढ़ रहे हैं। सलाई आपने बढ़ा दी। न आप को झिझक हुई, न सेवा-भाव, यह क्रिया एक घटना हुई, शील नहीं। क्रिया एक घटना है, कर्म, शील की अभिव्यक्ति है। मगर भाव-स्वगत जब तक क्रिया में, घटना में, साकार नहीं होता तब तक विभावना की वह सिद्ध नहीं हो पाती जिससे रस मिले।

जेम्स ज्वायस के पाठक इस बात को जानते हैं या नहीं जानने का बहाना करते हैं। जैनेन्द्र जी जेम्स ज्वायस की तरह सनकी नहीं, हक्सले की तरह तेजाब, रसायन और विश्व-कोश की कोष्ठबद्धता नहीं लिए फिरते, वर्जिनिया वुल्फ की तरह कृतसंकल्प अणुवादी या चेतना-प्रवाहवादी नहीं है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि लॉरेन्स की तरह काम की चिरन्तन मौलिकता, तथा स्वाभाविकता के दर्शन को अभिबद्ध करने में जहाँ वे सुनीता को सजीव कर पाते हैं, वहां हरिप्रसन्न को श्रीकान्त के हाथ में एक ढोल के रूपमें ही छोड़ जाते हैं। व्यास जैनेन्द्र के विवरण तथा श्रीकान्त की स्मृतियों से ही प्रारम्भ में उसका शील-निर्माण होता है।

"खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण, और एकदम अज्ञेय"--ऐसे कितने विरल वाक्यों से, आकांक्षा से भिन्न अप्रत्याशित पदों के विन्यास, विरोध तथा आघात के द्वारा उसके प्रति पूर्वराग की माया-सृष्टि की जाती है। हरिप्रसन्न सुनीता से जब बोलता है तो उस हरि के बारे में जो आगे बढ़कर मौत अपनाने वाला है, अद्वितीय है, विरक्त है, सशक्त है तथा साधु नहीं हो सकता। बड़े ही आयास से उत्कंठा बढ़ायी जाती है। हरिप्रसन्न की एक झलक मिलती है, जिससे श्रीकान्त का पता चलता है हरि को देख एक घुंडीदार प्रश्न उसके सामने आ जाता है कि क्यों हरि अविवाहित है, छुट्टा घोड़ा है और क्यों श्रीकान्त स्वयं खूँटे से बँध कर घास खाने लगा। हरिप्रसन्न की मुग्धावस्था और इधर सुनीता के कुतूहल तथा जिज्ञासा "उसे भाई-बहन है कि नहीं" आदि से हरि का शील-निर्माण होता चलता है।

इस पूर्व राग को पुष्ट करने के लिए उसके सामाजिक कर्मों की कोई साधना, राज-नीति के खतरे या कोई काम सामने नहीं रखे जाते। जब उसे महात्मा न कहकर कलाकार कहा जाता है तो जीवन की विभिन्न या विशिष्ट अनुभूतियों को नहीं रखा जाता, न जीवन की भोग-पद्धति की कोई वैसी विचित्रता ही रखी जाती है। श्रीकान्त केवल तीन-चार बातें करता है (१) पांच आने पैसा लेकर आता है और अलग सोता है, (२) दो बार रुपये माँगता है--आसानी से मिल जाने की जगह, (३) सुनीता पत्नी और भाभी क्यों, मात्र नारी क्यों नहीं है इसको कहीं मन में जिज्ञासा करता, कहीं स्पष्ट कथन करता है (४) जिसे

शाक्त-भावना से देवी बनाकर ले जाता है उसको पाने की--सम्पूर्णतः पाने की--इच्छा रखने वाला दीवाना हो जाता है, फिर आगे बढ़ जाता है, वहीं रुकता भी नहीं ।

एक वकालत यह हो सकती है कि बात सब श्रीकान्त के घर में होती है । दृश्य बदलता है तो एक बार जंगल में । हरि कुछ दिनों के लिए ही ठहरा है । इसलिए जैनेन्द्र जी ने देश और काल के परिवर्त्तन में प्रभावान्विति के उद्देश्य से संयम रखा है । बहुत बातें नहीं हो सकती थीं । ठीक है । मगर हरिप्रसन्न जी नहीं पाया । बारह वर्षों तक गर्भ में रहता है फिर शुकदेव जी की तरह भाग जाता है । गर्भ में रहने से तात्पर्य दूसरे पात्रों के कथन पर अवलम्बित रहने से है ।

हरिप्रसन्न के शील-निर्माण में तबाह को तोबा तक ले जाने वाली आवृत्ति और आदर्शवाद के बाल की खाल है । ....“तो क्या तुम्हारा यह मतलब कि मैं तुम्हारे घर रहूँगा ? नहीं श्रीकान्त, रहना तो मुझे अपने आप है ।” इसके चलते कई बार बहस-मुबाहसा होता है । कई बार कहा जाता है (एक ही दृश्य में बार-बार आरजू नहीं की जाती)। एक बार कह कर छोड़ दिया जाता है, हरि नहीं मानता । कहानी यों ही आगे बढ़ती है। फिर कहानी आगे बढ़ती है । फिर कहा जाता है । इससे दुराग्रही या सत्याग्रही शील का पता नहीं चलता । यह तो कथा-वस्तु या घटना का धरना है । गरियार बैल की तरह कहानी बैठ जाती है । सामान नहीं । घटनाओं के गढ़ने की मेधा नहीं, इसलिए आवृत्ति है । वह तस्वीर बनाता है तो उसके रात-रात भर जागने की चर्चा से कान पक जाते हैं ऐसी पुट-पाक-पद्धति से घोंटना खनिज पदार्थों या वनस्पतियों के लिए ही ठीक होता है ।

आदर्शवाद के बाल की खाल का नमूना देखिए । हरि घर में नहीं घुसता । “तुमने कैसे समझा, तुम्हें अकेले, किसी अजनबी को घर में बुलाने का हक है ? उनसे अनुमति लो, वह भी मुझे कहें, तभी तो मैं इस बारे में सोच सकता हूँ ।” हरि को मार-मार कर विचित्र, बनाया जाता है । ऐसी बातों का फल उपन्यास में घटना-विन्यास (Plot) को मिलता है । कहाँ यह हिचक और संकोच और कहाँ वह जंगल वाली रात ! एक वकालत यह भी की जा सकती है कि यह व्यंग्य है, अनायास, अज्ञात भविष्य संकेत है !

हरि के शील के आतंक की सृष्टि विवाद-वार्त्ता की योजना से की जाती है । यह भी प्रायः सर्वत्र नहीं तो इतने अवसरों पर कि जी ऊब जाता है । पाँच आने पैसे लेकर आता है हरि और श्रीकान्त की आँखों में ऊँचा उठ जाता है । “मैं नहीं मिलता तो क्या करते ? ” वह पूछता है । “मुझे नहीं मालूम ।” कहता है सिनेमा का हरि । “अब क्या करोगे ?” बस इतना पूछना कि आवारापन, वस्तुओं के प्रचलित मूल्य, निम्न और भद्रवर्गीय स्तर, पैसे की संस्था, आजकल के जीवन में गाय, भैंस आदि को लेकर पूरा व्याख्यान चल पड़ता है । “मनुष्य पति और पिता बनकर अपने को बाँधता है । इस प्रकार उत्सर्ग की मुक्त और स्वाधीन जीवन

की महिमा से वह अपने को दूर रखता है।" यहाँ दिखलाई पड़ने वाले' जोड़ से बात कथा में मिला दी जाती है। आगे चलकर उत्पादक श्रम पर विवाद होता है। लेकिन विवाद में भी हरि के मुँह को मल-मलकर लाल कर देने वाली सुनीता है। जब-जब सुनीता से बात होती है हरि की शैली स्थूल, रूक्ष तथा भोंडी मालूम पड़ती है। सुनीता उससे विदग्ध है। हरिप्रसन्न में व्युत्पत्तिमतित्व है, पढ़ी-लिखी पंडिताई है। वह बोलने लगता है तो दो-दो तीन-तीन पारा बोल जाता है। सुनीता में प्रत्युत्पन्न-मतित्व है। वह सवाल-जवाब के क्रम में डट सकती है। तर्क के दोष को पहचानना, पकड़े जाने पर दूसरी दिशा में मुड़ जाना, तर्क-भूमि का केन्द्र-तरण कर देना आदि उसे आता है। हरिप्रसन्न तो पूरा घोंघा है।

आतंक के साधन के रूप में विवाद के अतिरिक्त हरि के पास एक पिस्तौल का होना भी कहा जाता है। हरि--सोचता है कि सुनीता डर गयी। मगर सुनीता पिस्तौल और पिस्तौल के शौकीन फकीर दोनों को अपने अंगूठे-तले रख लेती है।

हरि के शील की बर्बादी उसके केवल और लम्बे स्वगतों के चलते भी है। यह बात ठीक है कि बद्धरेतस मनुष्य जब सुनीता जैसी सुन्दरी को सहज अस्तव्यस्त रूप में देखे तो ध्रुवचुम्बी परिवर्त्तन हो सकता है। लेकिन पुस्तक पर सुनीता के 'हस्ताक्षर' को लेकर तुरत के आये मेहमान की इतनी लम्बी-चौड़ी बला दुश्मन की बला है। हरि को सुनीता की सीमा, "श्रीमती अमुक" में सत्य की रीति-परायणता (formality) तथा "श्रीकान्त सुनीता" के समास को लेकर जो चिढ़ होती है वह स्वतन्त्र रूप से सामान्य का परीक्षण है, उसमें 'सुनीता' के विशेष व्यक्तित्व की कहीं झलक नहीं। शायद यह कहा जा सकता है कि इस ऊहापोह में सुनीता के प्रति हरि की गूढ़ रति ही अभिव्यंजित हो रही है।

हरि की सारी अद्वितीयता 'ओ तू।' वाले चित्र में है, जिसकी, वाल्टर पेटर की तरह जैनेन्द्र जी मर्म व्यंजना कर देते हैं। स्वगत के रूप में तो यह असत्य होता। अपने से कोई क्या वैसे बात करेगा? किसी से हरि उसका अर्थ बताता तो बुद्धि का पांडित्य दीखता। चित्र की मर्म-व्यंजना का काम व्यास ने किया है तो बड़ी कुशलता दिखायी है। इससे हम हरि की पीड़ा का अनुमान कर सकते हैं। 'वह प्रलय, वह पीड़ा, वह स्तूप या रमणी, वह रमणी या स्तूप, अपार शून्य को ताकता पुरुष, ईसा की क्रॉस मुद्रा में जाने कब से खड़ा पुरुष? और फिर वह स्तूप, शून्य प्रसार कि सर्वहारा रमणी!' पात्र के रूप में हरि में जितना रहस्य नहीं, उतनी रहस्यवादिता है। 'ओ तू!' की छायाव्यंजना उदात्त रहस्य के वातावरण-चित्रण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसकी सारी पूँजी हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व को मिलती है तथा पुरुष की चिरन्तन जिज्ञासा, उस जिज्ञासा में पुरुष की चिरन्तन बलि तथा--सत्य के रूप में सर्वहारा रमणी का प्रलय--आलिंगन .... सब कुछ यथार्थ को अलौकिक, दार्शनिक, विराट् बना देता है।

लेकिन जैनेन्द्र जी ने इससे संतोष लाभ नहीं किया। रह-रह कर "स्पेन", "ग्रन्थि", "नाम-धाम", "उपाधि", "संग्रहीत व्यक्तित्व", "प्रकृतस्त्री", "काम की अभिधा ओढ़े पुरुष" आदि की जो मीमांसा करते चलते हैं इससे हरिप्रसन्न आरोपित अधिक, सहज-स्वतंत्र-स्वलक्षण कम हो जाता है।

सत्या यथार्थ की लड़की है। वह हरिप्रसन्न पर मुग्ध नहीं होती, जीजा और दीदी की पूजा पर हैरान है। वह तो शायद मन में चाहती है कि हरिप्रसन्न जैसा खूसट खेल की दुनिया में न रहे तो अच्छा। वह पढ़ना नहीं चाहती। किताब फाड़ देती है।

हरिप्रसन्न अच्छी रोटी बना देता है तो उसे कुतूहल मात्र होता है। मगर वह जानती है कि दीदी हरि को मानती है। सत्या सतह पर फुदकने वाली सत्य की दृष्टि है जिसे अलौकिक तथा भीतर की गहराई नहीं दीखती। सत्या की दृष्टि से भी हरि को बल नहीं मिलता। अन्त का हरि देवी-भावना का मुक्तक क्रान्तिकारी भी है, नारी को पा लेने का इच्छुक प्रकृत-पुरुष भी है। कलाकार की नाईं अनुभूतियों का नग्न आस्वादन भी चाहता है तथा शरीर से बन पड़ने वाली सम्पूर्ति का साक्षात्कार कर जीवन पर आगे बढ़ जानेवाला अथक राही भी है।

(घ) चमेली-सी हँसी और नवनीत-से हृदय वाली सत्या को निकाल दीजिये तो भी कहानी पूरी होकर ही रहेगी , लेकिन कथा का सत्य संदिग्ध हो जायगा। सत्या को भूल जाइये तो लगेगा जैसे तीन प्रयोगवादियों का एक संसार है, जो देखने की आँख से कम दिखलायी पड़ता है, दर्शन की दृष्टि से अधिक। श्रीकान्त को अनुभूतियों के कलाकार तथा अहंबद्ध व्यक्तिवादी मित्र पर प्रयोग करना है। सुनीता एक तरफ प्रयोग के लिए आवश्यक रासायनिक पदार्थ है, तो दूसरी तरफ इस प्रयोग की उपलब्धि। एक सत्या है जो सरल है, यों तो कहने को जैनेन्द्र जी सुनीता के भाव को भी सहजभाव कहते हैं। सुनीता का भाव सहज हो सकता है लेकिन धरातल सहज नहीं। सत्या का व्यवहार सरल है, प्रतिक्रिया सरल है, विकल्पों से वह मुक्त है।

फिर भी इन तीनों के सामने उसकी स्मृति भूल-सी जाती है। जैनेन्द्र जी ने उधर दो पुरुषों को रखा तो इधर दो नारी-पात्रों को। लेकिन वस्तुतः श्रीकान्त, हरि और सुनीता एक ओर हैं तथा सत्या बेचारी अकेली, औसत की दुनिया में, रहती है। स्मृति में उसके नहीं बने रहने का एक कारण यह भी है कि लगता है जैसी सारी सरलता के साथ भी सत्या इसलिए उपन्यास में आ बैठती है कि लोगों को यह भ्रम न हो जाय कि इस उपन्यास का संसार केवल शिक्षित संस्कृति की आदर्शवादिता, अरूपचिन्ता तथा 'क्षमा कीजिए तो' की फिलसफेबाजी का संसार है, सरल साधारण लोगों का नहीं। सत्या के हृदय में श्रीकान्त या हरि के लिए प्रेम दिखला कर कहानी रोचक तथा विषादान्त बनायी जा सकती थी। परन्तु

ऐसी हालत में उपन्यास का सत्य नारी की समस्या नहीं होता, शील और नियति की दारुण संभावना ही हाथ लगती। सत्या में साधारणीकरण का जितना खयाल नहीं किया गया है उतना सरलीकरण का। इस बात का विचार रखा गया है कि उसे किसी से आसक्ति न हो जाय, सबको वह इतना ही माने कि प्रेम न करने लगे तथा हरि के प्रति घर में बहन और जीजा की जो अद्भुत भावना है उससे पृथक् उसका दृष्टिकोण रहे। जब सरलता उदाहरण के रूप में आती है तो वह खटकने लगती है। सत्या की सरलता, उपन्यासकार की चालाकी मालूम होती है। लगता है, वैषम्य प्रतिपादन ही अभीष्ट है।

उधर हरिप्रसन्न जीवन में सीखता, युद्ध करता आगे बढ़ जाता है, तो इधर सत्या भी सीखने को बनी है। जहाँ हरिप्रसन्न को बचने के लिए संयम रखना पड़ता है वहाँ सत्या को पढ़ने-लिखने, गाने-बजाने, नृत्य-चित्रण आदि हर बात से शौक है, किसी की दीवानगी नहीं। प्यार पाने की उम्र है उसकी, प्रेम करने की नहीं। उसने सुनीता की तरह पुरुष को नारी की विरोधी-पूरक आवश्यकता के रूप में नहीं देखा है। सुनीता बहन है इसलिए प्यारी है और श्रीकान्त बहनोई हैं, इसलिए अपने हैं। उसका इनलोगों के साथ मन लगता है, दिल लगाने वाली उम्र ही नहीं। सत्या की शृंगार-चेतना, अथवा रति-भावना, अभी कला, कुतूहल, क्रीड़ा, गपशप, संक्षेप में वस्तु, वार्त्ता, घटनाओं तक सीमित है, व्यक्ति-बद्ध नहीं। सुनीता, श्रीकान्त, हरि सभी रिरिंसा की द्विधा में हैं। श्रीकान्त को पत्नी से विरुचि है, सुनीता को केवल पुरुष से विशेष रुचि है, हरि की व्यथित रुचि है। लेकिन सत्या को अभी प्रेम से अधिक उसका अभिनय ही पसन्द पड़ सकता है। सत्या का स्नेह एक सहानुभूति है जिसमें दया का बहुत बड़ा योग है। वह नहीं चाहती कि इच्छा के विपरीत हरि को ट्यूटर बनाया जाय। उसका खयाल है कि बेचारे अजनबी के ऊपर जबरदस्ती जीजा और बहन मिलकर त्याग और बड़प्पन लाद रहे हैं। उसी तरह हरि और सुनीता को एकान्त में देख उसे घृणा नहीं होती, पछतावा ही होता है और वह भी स्वभावतः बहन के लिए ही। वह जानती है कि हरि के नहीं आने से सुनीता उदास है तो चर्चा चलाती है। श्रीकान्त के लौट आने पर वह जंगल के भेद को छिपाने के लिए जिस तरह उन्हें बझाए रहती है--यह खतरा उठा कर भी कि जीजा गलत भी सोच सकते थे--वह भी क्या भूलने की चीज है? सत्या उस स्नेह को जानती है जिसे दया-माया कहते हैं। सत्या अभी ससुराल जाने की सोच नहीं सकती, बाबुल के घर छोड़कर जानेवाली बेटी के गीत गा सकती है। सत्या अज्ञातयौवना है, आयु भले ही अट्ठारह की हो। उसकी चेतना क्रीड़ा-रत है। जिस तरह वह एकान्त में श्रीकान्त से बात करती है, उस तरह बात करने में किसी कम सरल लड़की का चेहरा उतर आता।

सत्या नारी की व्यूह-रचना कही गयी है, व्यूह-पुरुष के विरोध में। पुरुष हरिप्रसन्न है। हरिप्रसन्न को विश्व-अतिथि, अथवा असाधारण आवारे के रूप में देखकर बड़ी बहन

सुनीता को करुणा है तो आकर्षण भी है। लेकिन सत्या को सिवा कुतूहल के कुछ भी नहीं। एक दाढ़ी वाला आया है, यही सुनकर हँसती हुई वह देखने को आयी। उसके मन में हरि को छकाने की इच्छा होती है और एक बार वह शरारत करती भी है। हरि के प्रति जीजी के कोमल भाव उसे अयुक्त मालूम पड़ते हैं। कभी हरि को कुशल पाकर उसका कुतूहल थोड़ा आश्चर्य-सा हो जाता है। बस। लेकिन हरि उसे कुछ रूक्ष, कुछ बर्बर, कुछ विचित्र, जन्तुवत् तथा क्लिष्ट लगता है। खेलने वाले के लिए अर्थायास से बढ़कर कोई शत्रु-पदार्थ नहीं। इसलिए भोली सत्या इस अतिमानव-वनमानव को न समझ सकती है न सहानुभूति ही दे पाती है।

श्रीकान्त ने सुनीता को व्यूह के रूप में रखा, सुनीता ने रख दिया सत्या को। सत्या बलिपशु के रूप में रखी जाती है कि शायद एकान्त की संकोच-मुक्त घनिष्ठता से हरि अति-वादिता छोड़कर स्त्री में, सौन्दर्य में रुचि रखने लगे तथा सामान्यतः व्यावहारिक बन जाय। लेकिन कठिनाई यह है कि शायद सत्या अभी किसी की पत्नी नहीं है इसलिए उसके पाने में पुरुष को उतना सुख नहीं जितना अप्राप्य, परपत्नी सुनीता को पाने में। संभोग की वासना से भी प्रबल वासना अधिकार की है। अधिकार के दो पक्ष हैं। मेरी चीज दूसरा न ले तथा दूसरे की चीज मैं ले लूँ। सत्या से केवल संभोग का सुख है। सुनीता को पा लेने से जो श्रीकान्त के स्वत्व का अपहरण हो जायगा तो उसमें वह दूसरे की नहीं है इसका आश्वासन आप मिल जायगा। सत्या यदि व्यूह है तो वह व्यूह काम नहीं देता। हरि व्यूह के भीतर कभी जाता ही नहीं। जड़ व्यूह से अधिक उस चेतन आचार्य सुनीता की ओर ही उसकी दिलचस्पी है। दुरूह हरि, दुरूह सुनीता, निकट रह कर भी नहीं मिलने वाली सुनीता, से ही पराजित हो सकता है। सत्या समर्थ नहीं, चुनौती नहीं।

सत्या के चलते इस उपन्यास में हँसने का बहाना हो जाता है। सत्या सोचती है कि नाहक इस ट्यूटर को सता-सता कर बड़ा आदमी बनाया जा रहा है। किसी चीज में ज्यादा मिर्च झोंकने, किसी में नमक बिलकुल नहीं छोड़ने की सोचती है! सत्या की खीझ सरल बालिका की खीझ है।

बालक को सबसे अधिक खीझ उससे रहती है जो उसे "अभी तुम नादान हो" कह दे। प्रसिद्धि का यह अवमान उसे खटकता है और वह गुरुगरिष्ठ बनने वाले संन्यासी आतंक-पंडित को साधारण से भी निम्न देखना चाहती है। अगर वह और छोटी होती तो गुड़िया के दूल्हे को वापस लौटा देती, यदि हरिप्रसन्न दूल्हे का गुरु होता। खरबूजे लेकर नौकर चला गया, उस समय की उसकी घबराहट सोचिए! अपने जीजा को "मैं क्या बुरी लगती हूँ", "जाइए न मैं रोकने वाली कौन हूँ" कह कर बझा रखने वाली सुनीता की सरलता में सत्त्व, अभिनय तथा करुणा का ऐसा सम्मिश्रण है कि वह हँसाती है तो आँखें भी सिक्त रहती हैं। लेकिन यह हँसी का बहाना ही है।

जैनेन्द्र जी अपनी शैली के लिए प्रसिद्ध हैं और जैनेन्द्र जी एक उपन्यासकार हैं। यदि दोनों बातों को एक जगह रख कर देखा जाय तो शंका यह होती है कि कहीं जैनेन्द्र जी परिस्थिति तथा शील के औचित्य को भुलाकर स्वतन्त्र शब्द-विनोद तो नहीं करते हैं। बात कुछ ऐसी भी है। परिस्थिति-चित्रण तथा शील और उक्ति के सामंजस्य में उपन्यासकार से जो साध्यवसित व्यक्तित्व की अपेक्षा की जाती है वह शायद जैनेन्द्र के वश की बात नहीं। जैनेन्द्र ऐसा नहीं करते क्योंकि वे अपने को समाप्त नहीं कर पाते।

अपने को नहीं समाप्त करने वाला एक वह होता है जो अपनी उर्वर प्रतिभा के वैभव से नीत्से की तरह उन्मत्त हो जाता है और एक तरह के सुदृढ़ इल्हाम की भाषा बोलने लगता है। वह विचारों की भीड़ तो लिए रहता है मगर भीड़ में सम्बन्ध-योजना नहीं रहती, वह भीड़ में खोता भी नहीं, भीड़ के आगे-आगे 'स्वयं' को लिए रहता है। अपने को ही समाप्त करने वाला एक वह होता है जो अज्ञेय की तरह अकेले ताश खेलता है। अपने को नहीं समाप्त करने वाला एक तीसरा होता है जो सहानुभूति की सिद्धि नहीं जानता, अति-क्रमण चाहता है। जैनेन्द्र जी तीनों से इधर या उधर हैं। उनकी शैली की जो चर्चा चल पड़ी सो उनके उपन्यासों के दर्शनप्राप्य तत्त्व या घटक (Philosophy-like contents) के मारे।

पात्रों के कथोपकथन या स्वगत में, अथवा व्यास की ओर से सम्पादकीय में जो बातें कही जाती हैं उनमें, नाम, उपाधि, प्रकृत पुरुष, संज्ञा की अभिधा आदि की चर्चा रहती है जिससे उनकी भाषा बिल्ली के नाखून-सी लगती है, विश्लेषण की भाषा हो जाती है। लेकिन विचारों के आ जाने से उनकी शैली में विशेषता नहीं आ जाती। यदि है तो वह कहीं और है। विचारों को सशरीर रखने में कभी-कभी खतरा भी होता है। बहुत दिनों के बिछुड़ने के बाद मिला हरि अचानक संसार भर के आर्थिक तथा मूल्य सम्बन्धी प्रश्नों का पचड़ा छेड़ देता है। यहाँ तक कि (unproductive skill) का 'अनुत्पादक चालाकियों' के रूप में शारीरिक रूपान्तर भी कर देता है, अनुवाद भी नहीं करता। समाचार-पत्र के संवाददाता और परिस्थिति तथा शील की मर्यादा से अनुशासित पात्र में जो भेद है, वह भुला दिया जाता है। स्थूलता का एक और नमूना देखिए। हरि बोलता है—"शारीरिक श्रम का दान करने से श्रमियों के वर्ग का भला न होगा और प्रचलित मूल्यों में एक साथ गड़बड़ हो जायगी।" .... लगता है जैसे हमलोग उपन्यास नहीं पढ़ रहे हैं, हरिप्रसन्न किताब पढ़ रहा है।

किसी परिस्थिति में कोई पात्र कितना कहेगा, कैसे कहेगा, क्या कहेगा, क्यों कहेगा (कहेगा या सार्थक मौन धारण कर लेगा या किसी क्रिया के द्वारा अभिव्यक्त करेगा) और किससे कहेगा (पात्र के साथ-साथ प्रतिपात्र का विचार)—ये पाँच प्रश्न हैं जिसकी आग में

उपन्यासकार का व्यक्तित्व जल जा सकता है। लेकिन जैनेन्द्र जी वह रस्सी हैं जो जल जा सकती है मगर उसकी ऐंठन नहीं छूटती।

जैनेन्द्र जी की शैली की एक ऐसी विशेषता है जो शील-निरूपण के काम की है और बस एक ही ऐसी विशेषता है जो जैनेन्द्र को हजार लेखकों से तुरत अलग कर देती है।

जैनेन्द्र जी की शैली की सादगी कौलाचारी की सादगी-सी कठिन पड़ती है। वह आत्म-विवाद की शैली है। वह कल्पित प्रतिपक्षी को उत्तर देने के लिए बनी है। उनकी 'सुनीता' की तरह उनकी शैली का भी गुण है, एक दुरूह सरलता। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पेचीदगी का दायित्व ढोने में शैली की सरलता वैसी सरलता हो जाती है जो हमें रोकती है, आगे बढ़ने नहीं देती। सादृश्य की सूझ जिसे होती है वह उपमारूपक या वक्रोक्ति की ओर जाता है। यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त है। लेकिन कवि के विपरीत कोविद या प्रज्ञ वह है जो सादृश्य नहीं बल्कि भेद की सूक्ष्मताओं को जानता हो। ऐसा आदमी सीधी-सी बात भी कहेगा तो पढ़ने वाले को रुक-रुक कर चलना ही पड़ेगा।

"हाँ मैं तैयार हूँ" वेश-भूषा की ओर से जब वे इस स्थिति में रही हैं, तभी हरिप्रसन्न उनके साथ मिला, बोला, अथवा हँसा है। "अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूँ!" स्त्री की ऐसी हालत में तो उसके सामने वह कभी नहीं पड़ पाया है। इस उद्धरण में सुसज्जित और अस्तव्यस्त अवस्थाओं के लिए क्रमशः "हाँ मैं तैयार हूँ" और "अरे ठहरना मैं तैयार नहीं हूँ" रख देने से जो सादगी आयी है वह सामान्य नहीं है। लेकिन शील-निरूपण की दृष्टि से औरतों की दो अवस्थाओं का क्रिया-परक चित्र आ गया है जिससे पाठक दुहराता है, कठिन पाता है, लेकिन दूना लाभ उठाता है।

दूसरा उदाहरण जैनेन्द्रीय सरलता का देखिए।

सुनीता और श्रीकान्त के जीवन के विषय में जैनेन्द्र जी लिखते हैं "हाँ जिन्हें लहर कहो, उन्हें सलवट भी कह सकते हो। सलवट चीज गलत है, कह सकते हो। कह सकते हो कि जहाँ गहराई बहुत हो वहाँ लहर बहुत न होगी; कि जहाँ थाह का पता नहीं है, वहाँ लहर का भी पता न होगा, कि जहाँ जीवन ही जीवन है, तलछट तक जहाँ वही वह है, वहाँ न हुलास है, न लहर है। वहाँ चांचल्य कहाँ से? पर आदमी के साथ तो जड़ता भी लगी है। सो जीवन के लक्षण को चंचलता भी कह लिया जा सकता है, वेग भी कहा जा सकता है।"

यह लयात्मक गद्य (Rhythmic Prose) है। गद्य में लय है लेकिन लय के साथ पेचदारी भी है "कि जहाँ का पता नहीं, कि जहाँ जीवन ही जीवन" यह कविता की भी नहीं, कवि-सम्मेलन की शैली है। एक व्यापक रूपक समुद्र से लिया। और रूपक सीधा उठाया तो उसकी रंगीनी न रह पायी, जीवन के किसी अर्थ का गर्भ

ही प्रमुख हो जाता है। अप्रस्तुत आलोचक की कल्पना से सतर्कता भी है और रहस्य का वातावरण भी।

लेकिन जैनेन्द्र जी की शैली जहाँ जैनेन्द्र उपन्यासकार की न होकर खास उनकी हो जाती है वहाँ वह एक लत-सी लगती है।

जैनेन्द्र जी की इस दिशा में बस एक विशेषता है जो न तो अर्थ की मौलिकता-सी लगती न शब्द के कला-विलास की तरह लगता है जैसे उन्हें क्रिया-पदों का एक मोह हो। नमूना देखिए। कहीं तो यह मोह काम कर जाता है। हरिप्रसन्न को रुपये नहीं देगी ऐसा बहाना सुनीता करती है तो वह कहता है:—

"तुम अपने प्रति अन्याय नहीं करोगी, भाभी, तुम कठिन नहीं होगी। कठिन तुम्हें नहीं होने दिया जायेगा। कठिन होने के लिए तुम भाभी नहीं हो।"

कितनी बातें हैं इसमें? सुनीता की साधुता में हरि का विश्वास, उसकी तरलता में दयनीय आस्था, साथ ही, हरि के संकल्प की एक बेढंगी धमकी। विन्यास की विचित्रता सुनीता के प्रति हरि की भाव-मुद्रा का द्योतन करती है। गद्य में फिर लय है। लेकिन "तुम अपने प्रति अन्याय नहीं करोगी, तुम कठिन नहीं होगी, तुम्हें कठिन नहीं होने दिया जायेगा"। क्रिया-पदों का कौतुक हठात् पात्र से ध्यान हटा लेता है।

चरम वेला में सुनीता हरि से कहती है—"मेरी ओर देख कर तुम यह भी क्यों न कह सको हरि कि जिससे मैं कहूँगी उससे शादी कर लोगे?"

फिर वही बात —"तुम भी क्यों न कह सको।" क्रिया-पद की मौलिकता कहें या एक ऐसी लत जो लग गयी है तो लग गयी है।

सोचिए तो यदि कोई कहे "तुम यह भी क्यों न कह सकना सको!" या दूसरा नमूना देखिए—"मैं कह चुका हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं है, नौकर रख लो, जरूर रख लो। पर हठ पकड़े पर किसकी चले?"

"हठ पकड़े पर के की चले हैं" कह देने से तो शायद बोल-चाल की भाषा और निराली हो जाती! विचित्र क्रिया-पदों के अतिरिक्त झटके का गुण जैनेन्द्र की शैली में है—जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके है, और जिसका उदाहरण है—

"खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्राण और एक दम अज्ञेय।"

"सबके काम आता था। सदा व्यस्त रहता था। किन्तु उसके बारे में ज्यादा जानकारी किसी के पास न थी।"

यहाँ शैली शील-वैचित्र्य के उपयुक्त ही है। सार-संक्षेप चाहे पात्र के शील का हो (जैसा उपन्यास के प्रारम्भ में) चाहे किसी प्रतीक या परिस्थिति का हो (जैसे 'ओ तू!' में) जैसा जैनेन्द्र जी दे सकते है, विरले ही दे पाते है।

'शेखर' का पूरा का पूरा व्यक्तित्व आरोपित, अधीत, संकलित तथा पुस्तकीय है। 'सुनीता' लिखनेवाले जैनेन्द्र जी उन शिक्षित विरलों का चित्रण करते हैं जिनकी संस्कृति मनोदशा होने का अज्ञात स्वाँग करती है। जिनकी वेदना को प्रश्न-दृष्टि का अभिशाप मिल गया है और जो संस्था और स्वभाव, औपाधिक और आदिम के द्वंद्वों में घुटते हैं। जैनेन्द्र जी के शील-निरूपण में आरोपित नहीं अतिशयोक्त व्यक्तित्व है। प्रभाव भी इसीलिए सीमित है।

प्रेमचन्द जी के होरी में चेतना-वैचित्र्य नहीं, समाज में कर्म और प्रारब्ध की दारुण लीला है। प्रेमचन्द जी ने जगजीवन के सजीव संदर्भ में होरी को रखा है। जैनेन्द्र जी में सांस्कृतिक सूक्ष्मता है। होरी की लालसा और सुनीता सहित उसके लोगों की लालसा में कृच्छ्रता का भेद है। होरी किसान है। उसे गौ चाहिए। वह नहीं पाता। विषम परिस्थितियों से बेचारे की तरह लड़ता है और पछाड़ खा जाता है। करुणा सीधे हृदय को भर देती है। हरि को ऐसी भाभी चाहिए जो शाक्त भावना की देवी हो, सम्पूर्त्ति दे सके; जो भाई की स्मृति से मुक्त हो।

यह किसी कौलाचारी या शिक्षा-क्लिष्ट छायावादी की अनुभूति है। गोदान का जीवन अधिक प्रशस्त, अधिक घटना-संकुल, अधिक आबाद, तथा स्वाभाविक वासना की मार्मिकताओं से भरा है। लेकिन प्रेमचन्द जी जहाँ पात्रों को ऐसा रखते हैं जिससे जीवन के रूप का, समाज के रूप का, कालदशा का पता चलता है, वहाँ जैनेन्द्र जी पात्रों को ऐसा रखते हैं जिससे जीवन के अरूप उद्गमों तक दृष्टि जाती है।

शेखर : एक जीवनी

शेखर : एक जीवनी

(१)

'शेखर : एक जीवनी', 'तदुपरांत-उपाधि' का यह हठ-आकर्षण क्यों? एक उपाधि 'शेखर', उसके उपरान्त, चेतावनी जैसी, अथवा निवेदन-विशेष जैसी, दूसरी उपाधि— 'एक जीवनी'। पहली स्पष्ट नहीं थी, इसलिए दूसरी दी गयी। अशोक-प्रतीक में जो 'सिंह भिड़े रहते हैं वहाँ सत्यमेव जयते' स्पष्ट न लिखा हो तो शायद 'सिंह एव जयते' की आशंका हो जाय! पर इस 'एक जीवनी' का रहस्य क्या है?

योंही केवल 'शेखर' लिखा होता तो पढ़नेवाले सामान्यतः एक गल्प-कृति, गद्य-प्रबन्ध अथवा उपन्यास समझते। 'जीवनी' से ऐसा लगता है जैसे 'इसे उपन्यास न माना जाय' इसकी सिफारिश, या 'हम इसे उपन्यास नहीं मानते' इसका दंभ, तथा 'आत्मकथा नहीं है यह, ओ शीघ्रता तथा सतह के पाठको' इसकी भी चेतावनी है। यदि आत्मकथा हो भी तो अज्ञेय नाम न दे कर 'शेखर नाम दे देने से विधानतः पाठकों का मुँह बंद कर दिया जा सकता है। लेकिन 'शेखर' नाम दे देने पर भी प्रभाव के आधार पर कवि-पर्याय तथा कवि-निबद्ध पात्र के भेद का अधिकार साहित्य-सुहृद् के लिए सुरक्षित है। ऐतिहासिक सत्ता के किसी व्यक्ति की जीवनी लिखनेवाला साहित्यकार भी घटनाओं की वास्तविकता का विचार तो रखता ही है, लेकिन रस अथवा शील-पराग की दृष्टि से घटनाओं का चयन-गुम्फन करता तथा आलम्बन का शब्द-प्रत्यक्ष कराता है। जहाँ पात्र तथा घटनाएँ कल्पित हैं वहाँ उपन्यास न कह कर 'जीवनी' कह देने से कौन-सी विशेषता आ जाती है? 'एक व्यक्ति-विशेष पर जो बीती या 'संसार में एक व्यक्ति-विशेष की जैसी बीती' यह जीवनी है; लेकिन 'संसार ऐसा है, जिसमें लोग ऐसे होते हैं' अथवा 'जीवन ऐसा है, जिसे लोग ऐसे भोगते हैं', यह उपन्यास है। अन्ततः व्यक्ति भी संसार में ही होता है, और संसार में व्यक्ति ही रहते हैं, लेकिन अन्ततः तो पानी बर्फ है और बर्फ पानी है। उपदेश उन्हीं काव्य-कृतियों में अधिक उच्चरित होता है जिनमें स्वभाव-चित्रण की अपेक्षा, मनुष्य के अन्तस्सार-यथार्थ की अपेक्षा, कर्मबीज तथा फल-विपाक के सम्बन्ध-तन्तुओं द्वारा घटनाओं की अन्विति प्रमुख रहती है। जिस जीवनी

से यह शिक्षा मिले, 'चोरी करने का फल बुरा होता है' वह 'व्यक्ति-विशेष पर जो बीती', या 'संसार में एक व्यक्ति-विशेष की जैसी बीती' नहीं है। वह जीव-प्रधान नहीं, जीवन-प्रधान है, संसार-प्रधान है; जीवनी नहीं हित-गाथा है। इसी तरह जिस उपन्यास में किसी एक व्यक्ति-विशेष की अनुपस्थिति व्यापक ही नहीं बाधक भी हो जाय, अर्थात् जहाँ दूसरे पात्रों को बढ़ने-पनपने न दे, यदि पनपने भी दे तो साग की तरह खोंट कर खुद खा जाने के लिए; जहाँ पात्रों के विकास में थोड़ी भी भिन्नता तथा स्वतंत्रता न हो, और संसार में शील की, लोगों की, विविधता का पता न चलने पाये, वह उपन्यास जीवनी भी न रह कर विशुद्ध 'चरित' बन जाता है—व्यक्ति के जीवन का ऐसा और उतना ही प्रत्यक्ष जिससे उसके चरित का पता चले।

आश्रय शेखर आलंबन शेखर की कथा को ले कर कहता है, 'कथा का महत्त्व मेरे लिए नहीं है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसी का महत्त्व है।' 'शेखर' में कुछ ऐसे भी पात्र आ जाते हैं जो अपना निराला संस्कार छोड़ जाते हैं, लेकिन ऐसे सभी पात्र शेखर को आहार पहुँचाने वाले हैं। घटनाएँ इनी-गिनी हैं, प्रायः आवृत्ति के चक्र जैसी हैं और मानसिक हैं।

शारदा, सरस्वती, कुमार प्रायः आवृत्ति के चक्र जैसे हैं। मालूम होता है, शेखर के भीतर कोई रंग का बादल है जो एक के बाद दूसरे पर छा जाता है, कोई दोस्ती का मर्ज है जो देखते ही हो जाता है। बाबा मदन सिंह, महसिन, रामजी आदि रूप-भेद से प्रायः एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। इनके माध्यम से जैसे शेखर अपनी वीर-पूजा कर रहा हो। शेखर में वीरता तथा मौलिकता का जो दंभ है वह जैसे मदन, महसिन और रामजी में साकार हो गया हो। उसमें रामजी ही कुछ थोड़ा अपने ढंग का आदमी है। मदन और महसिन तो शेखर के ढंग के आदमी हैं, भेद यही है कि शेखर इस वीरता के दंभ को विचारक के दंभ से छिपा देता है।

शेखर आद्योपान्त घुटता चलता है, लेकिन उसके लिये पाठक को तनिक भी सहानुभूति नहीं होती है। वह तो सहानुभूति करनेवाले पर ही दया करता, सहानुभूति को अपना अपमान समझता। वह सब को घसीट कर अपने अहं के कुंड में होम कर देता है। शशि, अन्त होते-होते, करुणा अर्जित कर लेती है, लेकिन शेखर कभी शशि को शशि न रहने दे कर शेखर की शशि, 'मैंने, मेरे मौलिक व्यक्तित्व ने पैदा की है यह सुसंस्कृत लाश, जिसे शशि कहते हैं' का इतना प्रकट, स्पष्ट आग्रह करता है कि लगता है घुमा-फिरा कर, सभी के हाथ-पैर तोड़ कर, फिर अपने में जोड़ कर, शेखर ने उन्नत तथा विराट्-विस्तृत होने का प्रयत्न किया हो।

घटनाएँ विशेषतः जिज्ञासा, असमंजस तथा वेदना की हैं। सभी अन्तःप्रधान जगत् की। इसलिए शेखर में एक व्यक्ति-विशेष तो है, लेकिन व्यक्ति-विशेष पर कैसी बीती, क्या बीती, नहीं के बराबर है। शेखर के चलते, उसके व्यक्तित्व की महामौलिकता की आँच में, बेचारे जीवन पर कैसी, बेचारे (अल्प या सामान्य संस्कृत) लोगों पर कैसी बीती, कुछ ऐसी

उल्टी कथा है। इसलिए शेखर काहे को जीवनी होने जाय ? प्रयास तो है इसे चरित बनाने का। घटनाएं बेचारी इसलिए होती हैं कि शेखर उनमें चरितार्थ हो सके।

शेखर आत्म-समीक्षा-प्रधान चरित है, या यों कहिए, रस की कृति नहीं, रासायनिक है। शेखर अपने को भी प्रज्ञा-चक्षु से, अन्तर्मुखी, समन्वित दृष्टि से नहीं देखता, चंचु-विश्लेषण करता है, चोंच से कुरेदता है। उसकी किसी परिस्थिति अथवा शील-व्यंजना पर पाठकों को अपनी कल्पना खर्च करने की आवश्यकता नहीं, अन्तर्यामी शेखर मन का कोना-कोना उनके लिए स्वयं छान डालता है, महल को चुन-चुन कर कंकड़ बना देता है। कुछ विरल अपवादों को छोड़ कर घटनाएँ अथवा स्थितियाँ शील की भोग-दशा का द्योतक न हो कर शेखर की भाष्य-सामर्थ्य के अवसर जैसी लगती हैं। आत्म-मीमांसा कभी-कभी परिस्थिति से शील के संयत सम्बन्ध को भुला कर, चेतना में तत्क्षण आये दुनिया भर के विषयों की समीक्षा अथवा शतावृत्त विचार-पिटी का रूप ले लेती है, जिसमें न रूप रह जाता है, न सौरभ, केवल घर्षण अथवा रगड़ का ताप रहता है—प्रवाल भस्म बन जाता है। समूचे 'शेखर' में केवल हम जलते माथे पर हाथ रखे रहते हैं।

किसी सहज हृदय की क्लिष्ट-से-क्लिष्ट जिज्ञासा भी रस-पोषक होती है। उदाहरण लीजिए। अपने अहंकार के क्रुद्ध आवेश में कोई अपने दरवाजे पर किसी का अपमान कर दे, और तब उसे यह झटका लगे, 'अरे, हमने क्या किया ? अब इस कर्म का फल क्या मुझे मिल कर ही रहेगा ? मिलेगा, तो वाजपेयी को क्यों नहीं मिला जिसने ऐसे कुकर्म किये, वैसे कुकर्म किये ? लोग कहते हैं, पूर्वजन्म से प्रारब्ध बना रहता है, तब तो शायद मैंने भी अच्छे कर्म किये हों ? क्या ईश्वर क्षमा नहीं करता ? यदि ईश्वर क्षमा नहीं करता, तो क्या अपना कर्म ही ईश्वर है ?' यहाँ यदि वह आश्वासन खोजता है तो प्रश्न छोड़ कर कहेगा—'नहीं, नहीं ईश्वर अवश्य क्षमा कर देगा। मैं रोऊँगा, हाथ जोड़ूँगा, विनय करूँगा।' उस मौके पर उसे कोई चौपाई सूझ जायगी, अथवा कोई श्लोक या कोई कहावत। यदि वह कुछ कठोर स्वभाव का है तो कहेगा, 'जब अपना कर्म ही है तो हटाओ ईश्वर को। कभी अच्छा कर्म भी करूँगा। जब बुरे कर्मियों को भी अच्छा फल मिलते देखता हूँ तो वाजपेयी की तरह मैं भी बच जाऊँगा। मृत्यु के बाद ? मृत्यु के बाद क्या है ? देखा जायगा।'

यह मन का एक स्थूल चित्र है, लेकिन प्रत्येक प्रश्न के साथ सहज हार्दिकता लगी हुई है। कभी ग्लानि, कभी बचने की आशा, कभी दूसरे के पतन को देख अपने को क्षमा करने की स्वाभाविक आत्म-प्रवंचना का मिथ्या तोष। लेकिन शेखर तो अपने बड़प्पन से हैरान है। अपनी जिस बौद्धिक संस्कृति पर शेखर को नाज है वह तो मस्तिष्क पर स्मृतियों का बोझ है। दर्शन, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र आदि के कच्चे कचरे से शेखर की दंभ-वायु कुपित-सी हो गई है। शेखर के ऊपर न तो संसार का बोझ दीखता है, न किसी विपत्ति, न किसी विशेष वेदना का। शेखर के ऊपर सबसे अधिक बोझ उसके माथे का है, इसी से शायद उसे फाँसी

या मृत्यु में सर्प की आँखों-सा एक तुषारमय सम्मोहन दीखता है। फाँसी शेखर के लिये दण्ड नहीं है, दवा है। शेखर के माथे में एक मधुमक्खी है जो डंक मारती रहती है और भन-भनाती रहती है—'किसी-न-किसी तरह मुझ में औरों से विशेष गरिमा है। मैं सूक्ष्म हूँ, परिष्कृत हूँ, महान् हूँ। मेरा अपमान उच्चतम विकास का अपमान है। मैं वर्त्तमान में ही भविष्य हूँ, समुद्र का गौरीशंकर हूँ! दया, व्यंग्य के इन माताओं, भाइयों, पिताओं, लोगों, पढ़े-लिखों को, इन कीड़े-मकोड़ों को मेरी आँच से डरना चाहिये, नहीं तो व्यर्थ झुलस जायेंगे!' इसलिये शेखर यदि ऐसी परिस्थिति में प्रश्न पूछता है तो व्याकरण-व्यायाम के लिए। बच्चों को बताया जाता है 'राम जाता है', 'राम नहीं जाता है', 'क्या राम जाता है?' लड़कों को उस 'क्या?' में हार्दिक जिज्ञासा तो रहती नहीं। इसी तरह शेखर की जिज्ञासा खोज-खोज कर प्रश्नों की जो पंक्ति खड़ी कर देती है, वह रचना (कम्पोजिशन) के अभ्यास जैसी लगती है, क्योंकि वह जिज्ञासा के सूत कातने जैसी है। शेखर ऐसी परिस्थिति में पूछता, 'कर्म? क्या है कर्म? कुरसी को स्थान 'अ' से स्थान 'ब' पर रख देना? तो उसमें अच्छाई-बुराई का सवाल कहाँ पैदा होता है? (मजा तो यह कि जहाँ सवाल पैदा नहीं होता वहाँ भी पूछ दिया जाता है।) अच्छाई क्या है? विष के लिये अच्छाई तो मार डालने में ही है? आग की अच्छाई जला डालने में है कि नहीं? मैं कुछ करता हूँ और मैं बुरा हूँ—इन दोनों "मैं" के सम्बन्ध का सिद्धान्त क्या है? "मैं बुरा हूँ" का अर्थ तो यह है कि लोग मुझे बुरा समझेंगे? पर लोग? कौन हैं ये लोग? और क्या नहीं हूँ मैं?'

इस तरह जिज्ञासा शाब्दिक, तात्त्विक हो जाती है, हार्दिक, यानी, परिस्थिति-सापेक्ष, नहीं रह जाती। परिस्थिति का निरुदन (Dehydration) हो जाता है, बुद्धि का धनुष्टंकार ही हाथ लगता है। पहले के प्रश्न सुई-तागे के टाँके की तरह हैं—कपड़े से कमीज बन जाती है, एक 'डिजाइन', एक आकृति हाथ लगती है। दूसरी सरणि में सूत अलग कर दिये जाते हैं, जिससे सत्य संज्ञाओं का नग्न कंकाल बन जाय, और वह भी इस तरह कि जुगुप्सा न उत्पन्न हो, कोई भाव ही न उठे। शेखर मक्खी नहीं, परिस्थिति मकड़ी नहीं। शेखर ही मकड़ी है, परिस्थिति मक्खी जैसी फँस जाती है।

(२)

शेखर में शील की अस्वाभाविकता केन्द्रीय परिस्थिति (फाँसी) की व्यापक विस्मृति, प्रतिक्रिया की हेतुक्षीणता, दृश्य-खण्डों की गरिष्ठ स्वतंत्रता तथा रंगशाला के हठोन्माद की भूरिशः आवृत्ति के कारण देखने को मिलती है। बालों को ऐंठना, देह को मरोड़ना, घुटनों के बीच बहुधा सर छिपाये बैठना, जेल के सींकचों के साथ मांस-व्यायाम करना प्रायः उसकी सामान्य मौलिकता है। कभी कोई प्रश्न शेखर के होंठों पर आ जाता है, तब वह दाँत पीसता है, फिर वश न चलने पर होंठ काटता है, यहाँ तक कि खून आ जाता है। अस्वाभाविकता के कुछ स्फुट कारण नीचे दिये जाते हैं।

शील-निरूपण के आधारभूत सिद्धान्त

(१) स्वान्तः सुखाय उक्ति-विलास :—

जेल से शेखर जब लौट आता है तो शशि पूछती है कि जेल में जा कर लोग कुछ खट्टे हो जाते हैं, उन्हें किसी पर विश्वास नहीं रह जाता, कहीं शेखर तो ऐसा नहीं हो गया है। शेखर वैदग्ध्य के सस्ते असंयत स्खलन में कह बैठता है कि जेल का जीवन उसे कड़वा लगा, लेकिन वह कड़वा नहीं हो गया है। यहां 'न, ऐसी तो कोई बात नहीं, क्या ऐसा कुछ पाती हो मुझमें ?' से काम चल सकता था। गाढ़े सख्य के संदर्भ में इतना ही काफी था। वास्तव में यहां खट्टे और कड़वे की लक्षणा में कोई भेद नहीं। जेल के अशिव प्रभाव के अम्ल-तिक्त-मधुर-कषाय आदि प्रभाव शेखर ने नहीं गिना दिये, यही गनीमत है। एक सीधे नकार से जहाँ रस का काम चल जाता, वहां स्वतन्त्र मान-सिद्धि के लिए शेखर शशि को विश्वास दिलाने की सहज भावुकता को छोड़ देता है और वक्रोक्ति का व्यर्थ-क्षय विचित्रवीर्य बन जाता है। जिस मनोविज्ञान की किताबों के सूत्र या संकेतों के आधार पर शेखर का शील-विकास दिखाया गया है वही विज्ञान कह उठेगा कि शेखर के मानस में एक हतवृषण-ग्रन्थि है, जो रह-रह कर इस तरह शब्दों के नग्न प्रदर्शन में अपनी मुक्ति पाती है।

(२) समीक्षा का आत्मघात :—जेल से लौट कर शेखर के आने पर शशि भोजन को पूछती है, फिर पूछती है कि शेखर अब क्या करेगा। साथ ही वह भी चेतावनी देती है कि दुबारा आने पर वह पूछेगी कि शेखर ने क्या किया। फिर दुबारा आने के लिये आग्रह करती है, और यह भी जोड़ देती है कि 'वह कह कर गये हैं'। वह यानी उसके पति। इसी बात में न मालूम शेखर को कौन-कौन-से रहस्यों की शंका होती है। पाठक तो हैरान रहता है। इस रहस्य-भावन में पाठक का मनोयोग नहीं भी रहता है, तो भी इस रहस्य को मान कर आगे बढ़ने पर बात कुछ और ही, ऊटपटांग हो जाती है। शेखर को ऐसा भान होता है कि शशि कुछ दूर-दूर-सी है। कारण क्या है ? पति-पत्नी की आत्मीयता है ? आत्मीयता में तो गहराई होती है। यहां तक तो ठीक है। फिर शेखर को लगता है जैसे शशि, शशि के पति रामेश्वर और स्वयं शेखर के बीच जो अविच्छेद्य पर्दा है, उसके पीछे शशि को आनन्द नहीं। यह भी ठीक है। शशि शेखर से प्रेम करती है, इसलिए। स्पष्ट है कि यहाँ आनन्द का अर्थ सुख, वह भी विशेषतः दाम्पत्य सुख है। इस पर शेखर सिद्धान्त की अपरीक्षित तथा वातुल मौलिकता के फेर में कहता है, 'आनन्द एक झिल्ली है जिसमें व्यक्ति सिमट कर बन्द हो जाता है, और दूसरों से पृथक् हो जाता है, अपना जीवन दूसरों के लिये दे कर भी वह दूसरों में मिलता नहीं, उनसे अलग रहता है। क्या यही दूरी शशि ने पायी है ?' अब स्पष्ट है कि यह आनन्द आत्मोत्सर्ग अथवा आत्मबलि करनेवाले व्यक्ति का मज्जागत, वेदनामय आनन्द है, जो दूसरे को आनन्द दे कर, दूसरे के लिए आनन्द का साधन बन कर, अथवा दूसरे के लिये अपने सुख का होम कर देने पर मिलता है। शशि का यही भाग्य है, यही गौरव-व्यंग्य है। यदि शशि ऐसे आनन्द के पर्दे के पीछे नहीं है तब तो शशि दाम्पत्य

सुख में प्रसन्न है, जो वास्तविकता नहीं, न शेखर के कहने का अभिप्राय है। बात यह है कि परिस्थिति का ध्यान आनन्दवाले पहले वाक्य तक था। फिर आनन्द शब्द को ले कर शेखर को एक अनूठी दार्शनिकता सूझती है, और पहली समीक्षा भूल जाती है। दोनों समीक्षाएँ, एक परिस्थिति-सापेक्ष, दूसरी सामान्य-निरपेक्ष हो कर, भिन्न ही नहीं, आत्मघाती भी हो जाती हैं, क्योंकि शशि के शील-स्वरूप की दो आत्मघाती छवियाँ हाथ लगती हैं। यदि इतना भी कह दिया जाता कि शशि को जो आनन्द है वह आत्मबलि का, मौन मरण का, निर्लिप्त स्वाहा का तो दो भिन्न आनन्दों का संकेत स्पष्ट हो जाता। ऐसे उदाहरण आलोच्य उपन्यास में भरे पड़े हैं।

एक और सूत्र देखिए। विद्रोही आत्मा को ले कर शेखर कहता है कि विद्रोही अपने विकास में नूतनतम विचारों को समेट कर भी विद्रोही बना रहता है। उदाहरण में शेखर को यह सूझता है कि प्रतिक्रियावादी जर्मनी में भी आइन्सटाइन विद्रोही बना रहा। बात तो तब पुष्ट होती जब जर्मनी प्रगतिशील होता, उसके सांस्कृतिक वायुमंडल में नूतनतम विचार, अभिनव प्रस्थापनाओं की चुनौती भरी रहती, और इन सभी को समेटता, आत्मसात् करता हुआ भी विद्रोही सन्तुष्ट नहीं रहता, फिर भी विद्रोही बना रहता। इसी तरह क्रान्ति की ज्वालाओं के बीच पले स्टालिन पर विचारों की जूठी पत्तल चाटने का अभियोग है। इन दो उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि वातावरण और पुरुष के विकास-वैशिष्ट्य में कोई अविच्छेद्य कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं। यह नहीं सिद्ध होता कि विद्रोही बराबर विद्रोही बना रहता है। उसका विद्रोह आवश्यकता पड़े तो क्रान्ति का भी विद्रोह, अपने नूतन से नूतन निर्माण का भी ध्वंस करता चलेगा।

उदाहरण की एक और उपहास्य सूझ देखिए। शेखर एक जगह महसूस करता है कि उसके भीतर सम्पूर्ति है, तृप्ति नहीं। उदाहरण क्या है? जैसे किसी ने इच्छा भर खा लिया हो लेकिन प्यास न मिटी हो। कहना तो यह चाहिये था कि जैसे किसी का भोजन से पेट भर गया हो, तबीयत न भरी हो। सत्तू ठूँस-ठूँस कर खा लेने से सम्पूर्त्ति हो सकती है, लेकिन किसी अमीर की तृप्ति नहीं हो सकती। प्रचुर भोजन और रुचिकर भोजन का जो भेद है उसे भोजन और प्यास के अवांछित मिश्रण से गड़बड़ कर दिया गया है। रूपक उसी का नहीं निभता, जिसकी भावना में गहराई नहीं है, जो केवल कंठ से प्रवचन करता है।

(३) लोक-दृष्टि की विडम्बना-सी लगनेवाली एक सभ्यप्रज्ञ कंठस्थता :—'फाँसी!' के बाद भयानक एवं दारुण का इतना बड़ा चिह्न। मनुष्य के जीवन की यह प्रायः अघटन घटना जैसी है। उस पर शेखर की प्रतिक्रिया देखिए। ग्रन्थ इसी से आरंभ होता है। शील का गुण तो इसी से स्पष्ट हो जाता है। लगता है जैसे शेखर की मानवीयता एक बहाना है, शेखर का अध्ययन, उसकी पठित-कंठस्थ संस्कृति, वैज्ञानिक सभ्यता की सदस्यता ही शोक करने लगती है। शेखर का शोक विचित्र शोक है—'जिस जीवन को उत्पन्न करने में हमारे संसार

की सारी शक्तियाँ, हमारे विकास, हमारे विज्ञान, हमारी सभ्यता द्वारा निर्मित सारी क्षमतायें या औजार असमर्थ हैं, उसी जीवन के छीन लेने में, उसी का विनाश कर देने में, ऐसी भोली हृदयहीनता ! फाँसी !' पहले तो यह हिन्दी है या अंग्रेजी ? गम्भीर परिस्थिति की भाव-संयत भाषा है या संवाददाता द्वारा किसी नेता के भाषण का कामचलाऊ अनुवाद ? फिर यह लोक-जीवन या समाज के प्रति भी कोई करुणा नहीं। नीरो जैसा आत्मरत व्यक्ति भी जब मर रहा था तो कम-से-कम आज तक हमलोगों को हँसाने के लिये यह तो कह गया, 'आज कितना बड़ा कलाकार अस्त हो रहा है !' लेकिन शेखर राग, द्वेष, घृणा, क्रोध, शान्ति, देश-भक्ति, पराधीनता, युद्ध, अतीत की स्मृति, व्यक्ति, संस्था, देश के जीवन, विश्व के जीवन, आत्मा, अमरत्व, निर्वेद, परलोक आदि की कल्पना नहीं करता। वह तो प्राणरेतस (Protoplasm), प्राणि-शास्त्र के शुक्र-कीटाणु की बात सोचता है, जिसे कोई रासायनिक प्रयोगशाला नहीं बना सकती। विज्ञान से नहीं बननेवाले शुक्र-बिंदु के विनाश के लिये उसे शोक है। ऐसा शोक युनिवर्सिटी के वस्तुगत निबंध के योग्य हैं, वह भी वैयक्तिक निबन्ध या मुक्तक निबंधिनी की सहज स्वाभाविकता तथा सरसता के योग्य नहीं। शेखर कलाकार की तटस्थता का अर्थ समझता है स्वभावघ्नता। समुद्र के प्रति तटस्थ वह है जो समुद्र की गहराइयों को देखता है पर डूबता नहीं, कुछ वह नहीं जो हिन्द महासागर के नक्शे के छोर पर पर उँगुलियों को गाड़े रहता है। शेखर की प्रसंग-प्रज्ञा (प्रसंग के मर्म को समझने की प्रज्ञा) एक सभ्य, शिक्षित आसन्न-स्नातक (Under-graduate) की है। शेखर के शोक जैसा शोक तो उस आदमी का होगा जो अपने पुत्र की हत्या करनेवाले शत्रु को देख कर यह कहे, 'लाख कोशिश करने पर भी लोग जिस पुत्र को पैदा नहीं कर सकते, पुत्र पैदा हो जाता है। तो रज-वीर्य के अचानक रहस्य-संयोग से, उस पुत्र को मार कर तुमने अपने को कितना अबोध, कितना क्रूर सिद्ध किया है !' इसमें वीतराग दार्शनिकता नहीं, मृतस्वभाव आधुनिकता है। 'शेखर' युग की चीज नहीं, जमाने पर पश्चिम की धौंस जमाने की कोशिश है उसमें भी 'ज्याँ क्रिस्तफर' का काव्यत्व, तथा 'ज्याँ क्रिस्तफर' और 'युलिसिस' की कल्पना होती तो एक बात थी। केवल बाहर जा कर तितलियों के पीछे दौड़ने और झींगुर का संगीत सुन लेने से, घर की अनुदार, पंगु संकीर्णताओं से भागने से, विकास की अदम्य प्रेरणा का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिभाशालियों की रूढ़ वैयक्तिकता, तथा रटी-रटाई निरुद्देश्यता के कारण शेखर कभी-कभी दो पैसे के लाल चश्मे जैसी अनुकृति मालूम पड़ता है। 'शेखर' के आवरण-पृष्ठ पर चिन्ता-मग्न अरस्तू-अफलातून का जो आतंक अंकित है वह साहित्य में क्रान्ति लाने के तथा युग-सन्देश के दायित्व-भार से व्यस्त आदमी की चीज है, उस उत्तानशायी टिटहरी की चीज है जो आसमान थामे रहती है !

(४) स्मृति की कृच्छ्र साधना, कल्पना का चान्द्रायण :— सड़क पर शेखर निरुद्देश्य भटक रहा है। अचानक की एक स्मृति मानस-गुंजन करने लगती है। बाबा मदनसिंह की स्मृति जग जाती है। ठीक है। यदि बाबा से बातचीत के सिलसिले में हुए किसी वाद-विवाद

की अक्षरशः स्मृति भी जग जाती तो एक बात थी। यह तो बाबा से किस तरह विवाद-संवाद होता, उसकी कल्पना होती चलती है। यहाँ स्मृति भूत के निरावरण जैसी न मालूम हो कर कुछ वर्त्तमान की उस कताई जैसी मालूम होती है जिससे भविष्य का सूत हाथ लगता है। यह स्मृति-प्रतीति नहीं, हठ-योजना है।

'तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है! मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाये हैं। वही सही। कोई भूतपूर्व सत्य अब असन्दिग्ध नहीं रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है।'

'पर नकारात्मक सत्य के सहारे'—(यहाँ बीच ही में बात काट कर कथोपकथन को स्वाभाविक बनाने का प्रयास है।)

'शेखर, अपने भीतर कुरेद कर देख। क्या कोई धनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नहीं है, केवल ऋण ही ऋण है? (निषेध नहीं, 'ऋण', गणित के Negative का अनुवाद, शब्द-रूप का त्वचान्तर)।

'विश्वास, दर्द से भी बड़ा विश्वास। क्या वह उद्देश्य हो?'

'क्या तुम्हें कुछ भी नहीं दीखता जो तुम कर सकते हो? अपने लिये नहीं, अपने से बड़ी किसी इकाई के लिये, अर्थात् कोई भी काम जो तुम्हारा नाता तुम से बड़ी किसी चीज से जोड़े?'

'जब अहंकार है, तब मुझ से बड़ा क्या! मैं ही तो बड़ा चीज हुआ न!'

'टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बड़ी वस्तु की झांकी तुमने पायी है—सभी पाते हैं—।'

इसके बाद प्रकृति का एक अतिरिक्त-सा लगनेवाला चित्र—'वातावरण वैसा ही धूल-भरा था, पर आकाश का रंग कुछ और गहरा हो गया था, इसलिये तारे कुछ कम धूमिल दीख रहे थे (सो कैसे?)! एक तारे के टिमटिमाने में शेखर को ऐसा भी लगा कि वह दो-तीन रंगों में चमकता है और रंग कुछ पहचाने भी जाते हैं—नीला, लाल, श्वेत।'

और उसके बाद याद आता है कि रात काटनी है। शेखर भूतल पर उतर आता है। रह-रह कर खो जाना और फिर भूतल पर उतर आना, सारे जीवन की यही कहानी है। यह लोक के बीच जीवन नहीं, डायरी के पन्ने हैं, जिनका स्वतंत्र सौंदर्य है। 'शेखर' के प्रथम भाग के प्रारम्भिक खण्डों में शशि-शेखर के काश्मीर-दृश्यों में अथवा लौट कर शारदा के यहाँ आ कर घर में ताला बन्द पानेवाले दृश्य में प्रकृति का भाव-जगत् के साथ जैसा सामंजस्य है, वैसा यहाँ नहीं। हठ-स्मृति का वर्त्तमान के साथ फिर स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं ही बन पाता।

(५) क्षीण पूर्व-भूमिका अथवा स्वल्प विषय-प्रवेश :—'नौकर है नहीं। खाना होटल से आ जायगा (बिल का प्रश्न उठेगा, पर वह बाद का प्रश्न है)।' शरीर धारी की

इस चिन्ता के बाद साहित्य में क्रान्ति, सर्वतोमुखी क्रान्ति, तथा अपने को समुदाय से स्वतंत्र अस्तित्व के पृथक् तेजः-पुंज के रूप में देखने, फिर सौंदर्य बनाम प्रभाव, लोक-कल्याण बनाम सौंदर्य, उद्देश्य की निष्कम्प एकाग्रता तथा साहित्य के मोह के प्रश्न पर मनन-चिंतन होने लगता है। इन सभी प्रश्नों के लिए पूर्व-भूमिका बस यही है—'नौकर है नहीं, खाना होटल से आ जायगा।'

अतः ? 'अतः काम बहुत न था और फुर्सत पर्याप्त।' और यह फुर्सत सोचने की है। शशि से पहले साहित्य-संबंधी चर्चा हो चुकी है। अब एकान्त में पाठकों के लिए उसका मंथन किये बिना शेखर नहीं रह सकता।

(६) भाव-दारुण परिस्थिति में सामान्य पठित सामग्री :—फाँसी की बात सोच कर शेखर दण्ड के प्रतिशोधात्मक (Retributional), सुधारात्मक (Reformational) और निरोधात्मक (Dete, rent) सिद्धान्तों की छानबीन करता है। दण्ड-शास्त्र की रूढ़ स्थापनाएँ रख दी जाती हैं, वे व्यक्ति-हृदय से विगलित होती भी नहीं आतीं। यहाँ शेखर की अनूठी उक्तियाँ भी न मालूम कहाँ अपना चमत्कार खो बैठती हैं !

(७) आधुनिक मनोविज्ञान का स्थूल संकेत :—शेखर संग्रहालय या अजायबघर में जाता है, भूसा से भरा बाघ देख कर डर जाता है, और तब आश्रय शेखर कहता है, 'वह डर उस समय दब गया···लेकिन उसने बालक के मन में घर कर लिया।' ऐसे स्थूल तथा नग्न हेतु-निरूपण पर हँसी आती है। पाठक की कल्पना तथा संकेत-ग्रहण की क्षमता के लिए अवसर ही कहाँ ?

(८) स्वगत का बढ़ते-बढ़ते प्राचीन पारसी सम्बोधन-शैली तथा आवृत्ति के चार-चार तमाचे का रूप अपना लेना:—शेखर वेश्याओं के मुहल्ले में घूम रहा है, और तब उस समय की याद इस प्रकार आती है—'शेखर जाओ, समझो तुम कहाँ हो ! यह है वेश्याओं का मुहल्ला, यहाँ शरीर बिकते हैं, यहाँ तृप्ति बिकती है, यहाँ सुख बिकता है। समझे ?' शेखर ने बढ़ते हुए रोष (?) से दुहराना शुरू किया—'वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रंडी, (चार तमाचे) समझे ? जहाँ बन्धन नहीं है—लज्जा नहीं है—रोशनी नहीं है—अंधकार नहीं है—(विरोधाभास का चमत्कार, रोष के क्षण में बुद्धि का कसीदा !), हैं रंग-रंगे हुए मुँह···।'

यह न तो शशि को नहीं पाने की निराशा है, न अपने को बरबाद करने की परिणामान्धता है, न उस परिणामान्धता के विरुद्ध अन्तरात्मा की अतल गहराइयों की चेतावनी है, न वेश्या के प्रति जुगुप्सा ही है, यह तो उन्माद की अतिशयोक्ति से भरा वह स्वगत है जो बढ़ियाई नदी में कूदते पथिक को मना करने के लिए उस पार के दूर अन्धकार से गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाने जैसा लगता है।

(९) भाव या कर्म का प्रतिक्रियात्मक न हो कर प्रक्षेपणात्मक होना अथवा आलम्बन का हेतुभूत न हो कर भारवाहक या साम्प्रदानिक होना:—ऐसा लगता है कि घृणा, रोष, मौलिकता

का दंभ, विद्रोह की भावना, प्रेम आदि आलम्बन के रूप में किसी व्यक्ति या परिस्थिति को देख कर नहीं पैदा होते; व्यक्ति और परिस्थिति तो स्वयं इन्हें सँभालने के लिए, इनके बहाने के रूप में, इनका बोझ ढोने के लिए, गढ़ लिये जाते हैं। 'शेखर' में विभावन की इतनी दुर्बलता है कि शील के तत्त्व ऐसे लगते हैं जैसे भीतर से शरीर धर कर मनोविकार आवारों की तरह बाहर भटक रहे हों। शेखर एक जगह 'Personal Destiny' की बात करता है। उसका विश्वास है कि विद्रोह की भावना एक प्रतिक्रिया नहीं, बाह्य दैव नहीं, एक तरह का अन्तस्सार है। अनिष्टकारी या अप्रिय का ध्वंस करने के लिए जो क्रोध होता है, रोष होता है, पता नहीं उससे भिन्न यह विद्रोह की भावना कौन-सा नया मनस्तत्त्व है? पर शेखर शायद इसीलिए पैदा होता है। वंशरेतस् की परम्परा की चीज भी यह हो, इसका कोई संकेत नहीं। शेखर निराला है इसलिए वह विद्रोह के लिए विद्रोह करेगा। 'परिस्थिति के घात-प्रतिघात से', वह कहता है, 'विद्रोह निर्मित नहीं होता', मार्शल ला या तिलक की अन्त्येष्टि की, कारण के रूप में, कोई आवश्यकता नहीं। लगता है, यह एक तरह का दृष्टि-पाण्डु है, दुनिया पीली नहीं है। विद्रोह मूर्त्ति नहीं है, मृत्तिका है, उपादान है, जो स्वयंभू है। लेकिन आश्चर्य को भी चकित कर देनेवाली बात यह है कि शेखर विद्रोही हृदय के विद्रोही गढ़न की आवश्यकता समझता है। उसके लिए विराट् मनःशक्ति, घोरतम नियंत्रण आदि की बात करता है, मृत्तिका से कला की वस्तु बनाने की बात करता है। विद्रोह से भी बड़ी यह कला कौन-सी चीज है? विद्रोही तो कला का भी विद्रोह करेगा? और कला से मृत्तिका कैसे बनेगी, मूर्त्ति भले ही बने!

शेखर के अनुसार, विद्रोही संसार में अपने को भुला कर अपने व्यक्तित्व को इस तरह पहचानता है कि एक बौद्धिक तथा शीतल घृणा के सम्बल से वह अनैतिक कार्य करके भी पवित्र रहता है। दो बातें स्पष्ट हैं। या तो विद्रोह घृणा और क्रोध की तरह आभ्यन्तर विकार है, और दोनों की तरह उसे भी एक आलम्बन चाहिए, और नहीं तो विद्रोही मुंडविहीन राक्षस की तरह दौड़ता फिरता है, और जिसे पाता है खाता चलता है, बल्कि यों कहिए कि अजगर की तरह साँस लेता रहता है, जो इर्द-गिर्द रहेगा उसके मुँह में चला जायगा। शेखर एक ऐसा असिद्ध चिंतक है जिसमें हर विषय पर अन्तिम अधिकार के साथ कुछ कह डालने की ललक है। इस तरह उसके शील की एक सार्थक बात हाथ लगती है। शेखर एक ढंग के गद्य-गीत वाली भाव-मुक्तक उपदशाओं का प्राणी है। उसे चिन्तकों और विचारकों से एक गूढ़ प्रतिस्पर्धा है, और इस तरह वह मौलिक न हो कर हठ-चिंतक हो जाता है। स्कूल में शील के 'टाइप्स' बनते हैं, वह अपने को एक विरल-विशेष समझता है, इसलिए शिष्य न बन कर वह प्रवचन करने का लोभी-सा दीखता है। विचारों में जहाँ अन्यत्र कही गई बातों को दुहरा कर, अथवा किसी विषय पर सूत्र-कथन कर वह अपने को चिन्तक समझ कर तृप्ति-लाभ करता है, वहाँ वह स्कूल में मास्टर को एक लात मार कर अपने को विशेष प्रतिभाशाली समझता है। लेकिन

मास्टर को लात मार कर, स्कूल से भाग कर, बाग में तितलियों के पीछे दौड़नेवाले, या साँप पकड़नेवाले प्रतिभाशाली व्यक्तियों की देश-विदेश के साहित्य में इतनी आवृत्ति हो गई है कि शेखर तो Type से भी बढ़ कर Stereotyped (मुद्रित-सामान्य)-सा लगता है। Type और Stereotyped का भेद यह है कि Type में जाति का सामान्य स्वरूप होता है। Stereotyped में विशेष ही सही, लेकिन उसकी आवृत्ति इतनी हो चुकी होती है कि नाकोंदम हुआ रहता है। स्कूल, माता-पिता, गुरु, धर्म-दीक्षकों, पुजारियों, ब्याह, मर्यादा बनाम अश्लीलता, नियन्त्रण, स्वच्छन्दता आदि को ले कर तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टि के युग-स्रष्टाओं ने इतना कोलाहल कर दिया है कि इनके आधार पर विद्रोह कर देनेवाला उन किताबों का चकित-चूड़ामणि ही कहलायगा, कुछ प्रतिभा का अद्वितीय-विशेष नहीं।

शेखर के एक भाई ने अपने पिता का गलत नाम बतला दिया है। कालेज के अधिकारी ने शेखर के पिता के पास लिख दिया है। इस पर माता-पिता में बातें हो रही हैं। क्रोध स्वाभाविक है। दोनों खीझे हैं। मां कह बैठती है कि वह शेखर का भी विश्वास नहीं करती। कई संतानवाले माता-पिता किसी एक या दो संतान के खराब निकल जाने पर खीझ का रेचन दूसरों को भी बुरा कह कर करते हैं। यह स्वभाव है। माँ विश्वास नहीं करती, इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि उसे एक छिपी आशंका है कि कहीं ये दूसरे लाड़ले भी अपने को खतरे में न झोंक दें। लेकिन बस माँ का इतना कहना है कि लगता है आधुनिक मनोविज्ञान की सारी पुस्तकें बोल उठती हैं।

लड़कों को प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसी बात कह देने से जिससे उन्हें क्रोध हो, उनके स्वतंत्र विकास या स्वतंत्र अभिव्यक्ति में बाधा पहुँचे, लड़के माता-पिता के प्रति शत्रु-भाव रखने लगते हैं, जो भय से दब तो जाता है पर एक स्थायी वैर-दशा में परिणत हो जाता है और जीवन अशिव हो जाता है। ऐसी कठोरता के दोषी प्रायः पिता ही होते हैं। चूंकि शेखर मौलिक है, इसलिए बेटी का काम करता है, माता के प्रति शत्रु-भाव रखता है। वह डायरी लिखता है जिसमें कीड़े-मकोड़े हो जाने की बात लिखता है। फिर 'I hate her' अँगरेजी में चिल्लाता है। और तब खिड़की की राह से कूद कर चल देता है। इसके पहले माँ ने कभी ऐसी यातना दी हो, ऐसी बात नहीं। शेखर का चित्त कुछ इतना कोमल, कमल जैसा है, कि उसमें पराग ही पराग है, वह भी क्रोध जैसा लाल। फिर भी शेखर क्रान्तिकारी हो पाया इसके लिए माँ को श्रेय नहीं देना चाहता। एक तरफ तो यह दम्भ कि उस एक वाक्य ने कुछ ऐसा प्रतिशोध भर दिया, ऐसी चुनौती दे दी कि शेखर 'मैं योग्य हूँ, योग्य रहूँगा' का मंत्र जपने लगा। विवश पिता से उपेक्षित हो कर ध्रुव अमर हो गया। अनजाने में कुछ अप्रिय बात कह देनेवाली माता की छाती पर मूंग दलने के लिए शेखर मर आता है। उसके इस अनिच्छित सत्प्रभाव के लिए भी शेखर आभारी नहीं होना चाहता। गिरफ्तारी सुन कर माता रोयेगी, लेकिन पहला विचार तो होगा, 'मैं तो जानती थी, कभी विश्वास नहीं किया।' वह पुलिस के अत्याचारों

के प्रति भी निरपेक्ष है, इसलिए कि माँ सोचेगी कि शेखर से यही आशा थी। इस तरह मन ही मन आजीवन माँ को शेखर जलाता है। माँ के मरने पर भी पट्ठा मुलाकात करने नहीं जाता। भाई को पेन्सिल या कलम दे देने के लिए माँ कहती है, वह नहीं देता, मार खाता है, पर नहीं देता। माता जब यह कह देती है कि पिता के रुपयों के लिए क्या आँचल फैलाऊँ, तुम कमा लाओगे तो आँचल फैला दूँगी, तो महान् शेखर को, सोचिए तो, कितनी घृणा होती है। माँ को चिढ़ाने के लिए भाई के विरुद्ध झूठा आरोप लगाता है, फिर माता पीटने लगती है तो भाई पर करुणा कर माँ को धक्के दे देता है। माँ के क्रोध को उग्र रूप में देख-देख वह अपनी घृणा को पुष्ट करता है। पिता जब अँगरेजी बोलने को कहते हैं तो नहीं बोलता। कमरा बंद कर सोता है तो कई दिनों तक कमरा खुलता ही नहीं। बीमार पिता उसे मारने आते हैं, वह बुलाने पर नहीं जाता। मार खाता है, पर झुकता नहीं। शशि ऐसे मौके पर एक-आध सहानुभूति के शब्द कह देती या सेवा कर देती है, इसलिए महान् शेखर जिधर ढला उधर ढला। पिता में अच्छे गुण हैं—मारते हैं तो क्षमा माँग लेते हैं, बहुत ईमानदार हैं, उदार हैं, माता से तो भिन्न हैं, मगर माता के ही तो पति हैं। इसलिए उनसे भी माता के मरने के बाद बौद्धिक धरातल पर की विवाद-प्रतियोगिता ही होती है। पिता के दिये कुछ रुपये ले लेने में भी शेखर को संकोच है, क्योंकि यह सब किताबों में लिखा है। एक वाक्य पर मनन करते-करते शेखर उसे मंत्र बना देता है। उसी तरह, एक छोटी-सी खूबी देख ली, और उस लड़की की खुशबू से कमल खिलाने लगे। जब शेखर की भारतीयता जोर पकड़े हुए है, उसी समय हिन्दुस्तानी मेम की उच्छृङ्खलता लिए शारदा सामने आती है, लेकिन आते-ही-आते प्रेम हो जाता है।

कभी-कभी शशि की भी याद आ जाती है, तो एक वाक्य में निष्ठा आदि का प्रश्न पूछ कर चिन्तक आगे बढ़ जाता है। शारदा कहती है, 'Good gracious, big silly shy boy', और थोड़ी खीझ से प्रेम भी पैदा हो जाता है...। क्षय से ग्रस्त लेकिन सांस्कृतिक सौंदर्य से युक्त शान्ति से भी प्यार हो जाता है। कुमार को भी समुद्र के हिलोरों के निकट रह कर चूमा जाता है, और फिर चाँदनी की ओर देख लिया जाता है। इस तरह प्रेम कहिए तब, विद्रोह कहिए तब, ये भाव भीतर से बाहर निकल आवारों की तरह घूमते हैं। वयःसन्धि की हालत ही यही है। ठीक है। मूल्यों और आदर्शों की प्रबल भावना भी होती है। यह भी ठीक है। लेकिन साथ-साथ उस पितामह चिन्तक के स्वांग की संगति कैसे?

(१०) शील की अस्वाभाविकता का एक और कारण भी है—बालक के ऐसे कुतूहल जो प्रथम अथवा अन्तिम जैसे लगते हैं। ऐसे कुतूहल जो वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा असामान्य की सायास उद्दण्डता जैसे लगते हैं, शील को अस्वाभाविक बना देते हैं। कितनी बार यह सवाल पूछा जाता है कि लड़का कहाँ से आता है, माँ को लड़का कहाँ से आया? लड़का होता कैसे है? उसके बाद मरते कैसे हैं? मर कर क्या होता है?

जान क्या होती है ? जान आती कहाँ से है—ईश्वर से ? जाते कहां हैं ? ईश्वर के पास ? ईश्वर ले लेता है ? तब लड़ाई भी ईश्वर ने कराई होगी ?...बाहर देखने जाता है तो सांप, उल्लू, गोह में ही उसे दिलचस्पी है। शेखर इति, आदि के प्रश्नों का उद्धत पुतला है। अहंता, भय और सेक्स के इन आदिम रूपों से बना यह बालक किताबों की आदर्श समस्या तथा उदाहरण है। सेक्स पर एक किताब पा कर, और तब दाई की नंगी टांगें, पिता के डांटने, माता के छाती पीटने के रहस्य का प्रकाश पा कर, वह स्वस्थ होता है।

(११) कवि-पर्याय ध्वनिः—आश्रय शेखर आलंबन शेखर के विषय में कुछ कह रहा है। लेकिन जो स्मृतियां आती है वे उपन्यास बन जायँ, कला की चीज हों, इसकी चिन्ता दोनों के आश्रय, 'अज्ञेय' को न हो कर शेखर को क्यों है ?

'यवनिका का प्रत्येक आक्षेप रस की धारा में एक बूंद छोड़ जाता है। मोती की बिखरी लड़ियों जैसी इन स्मृतियों में कोई क्रम नहीं। दो स्मृतियाँ दो विभिन्न भावनाओं के के समकालीन विकास के चिह्न हैं।' यहां आदमी सोचता नहीं, सोच-सोच कर कहता है। वह सोचता है, 'अपनी इस कहानी में, अपने व्यक्तित्व की पूरी इच्छा-शक्ति डाल कर, सब्जेक्टिव दृष्टि से विवेचना करते हुए, एक दर्द और आग भरी ललकार दूँ, या एक बाह्य, आब्जेक्टिव दृष्टि से अपने कर्मों की, उनके प्रेरणा-स्रोतों की परीक्षा लेते हुए एक शान्त, अनासक्त बौद्धिक सन्देश सुनाऊँ।'

'अपने व्यक्तित्व को 'मैं' समझूँ, या 'वह' या 'तू' ! 'तू' वाली पद्धति न्यायाधीश की होगी। अपनापन को व्यक्त करने के लिए 'मैं' कहूँ। मैं तो गति की एक कला हूँ जो गति में ही लीन हो जायगी। मैं स्वयं एक छाप हूँ। मैं एक सन्देश लाया हूँ जो कि मेरा अपना नहीं है, जो मैंने वंश-विकास से पाया है और जिसे मैं बाह्य प्रेरणा से बाध्य हो कर कहूँगा। वह 'वह' वही है, शेखर। मैं इसके जीवन के सत्य को पढ़ कर, उसका निष्कर्ष निकाल कर और शब्द-बद्ध करके छोड़े जा रहा हूँ।'

ये सारी बातें अज्ञेय की भूमिका में आनी चाहिए थीं। स्मृतियाँ क्रम से नहीं आतीं, ठीक है। लिग्न अज्ञेय रहे हैं, और स्मृतियों के गुम्फन में वे कला का विचार रखेंगे, और हम उनसे झगड़ेंगे नहीं। लेकिन शेखर अपने को प्रथम, मध्यम और अन्य पुरुष के रूपों में बांट कर अपने प्रति ही न्याय करने की एक परिपाटी अपनाता है, तथा उसके कलात्मक पक्षों पर विचार करता है। यह उस परिस्थिति-निबद्ध पात्र की स्वाभाविकता नहीं, जिसे फाँसी होनी है, जिसके मानस में स्मृतियाँ—मार्मिक, तीव्र, प्रिय, अप्रिय—आती-जाती हैं, तथा जिन स्मृतियों को पाथेय के रूप में ले कर उसे कूच करना है। वस्तुतः इन स्मृतियों में कल्पना का दुराग्रह है। उसी तरह चकोर से ले कर तोते तक भिन्न प्रकार के पक्षी मनोरंजन के लिए जाते हैं। तोता शेखर को काट लेता है और उड़ जाता है। जहाँ बालकों को अपने पालतू पक्षियों के उड़ जाने पर उदासी होती है, वहाँ शेखर प्रसन्न है

कि वह पेड़ पर, जंगल में उन्मुक्त, स्वतंत्र तो रहेगा। पक्षी की स्वतंत्रता में वह परिवार के कारागार से अपनी मुक्ति का प्रतीक देखता है। ऐसा घिसा प्रतीक और ऐसी ऊँची कल्पना का दंभ ! शेखर अन्यत्र कहता है, 'मेरा सारा जीवन एक बढ़िया उपन्यास है। मेरे जीवन में व्यक्ति और टाइप का वह अविश्लेष्य घोल है जिसके बिना कला नहीं है···।' यह कवि-पर्याय ध्वनि नहीं तो क्या है ?

(१२) स्फुट पद्यांशों के, तैरते सौरभ जैसे, किसी-किसी मार्मिक परिस्थिति के स्नेह में भींग जाने के अच्छे उदाहरण भी हैं, जिन पर हम आगे विचार करेंगे। अस्वाभाविक तो तब लगता है जब शेखर की ही तरह बौद्धिक तटस्थता की रट लगाते-लगाते उसे निरर्थक तथा नीरस कर देनेवाले एलियट की कोई लाइन लेकर शेखर शशि के ऊपर एक मुक्तक गीत-सा कह डालता है। शेखर जब भावुक हो उठता है तो उसे अचानक झटका लगता है कि कहीं वह कवि न समझ लिया जाय, इसलिए दार्शनिक बन सारे रस को भाववाचक संज्ञाओं और प्रश्न-चिह्नों के सुपुर्द कर देता है। बाबा मदनसिंह तो शेखर की इसी सूत्र-वार्त्तिक दार्शनिकता के आदर्श हैं। उसी तरह सूत्रों से वह अचानक स्खलित हो कर कवि बन जाता है। चेतना के प्रवाह में वह दो किश्तियों पर पैर रखे हुए है।

'भोगनेवाले प्राणी में और रचना करनेवाले कलाकार में सदा एक अलगाव बना रहता है। जितना ही बड़ा वह अलगाव है, उतना ही बड़ा कलाकार होगा—एलियट के शिष्य, त्रिशंकु के लेखक का यह वाक्य है। उसके बाद शेखर की सुनिए।

'लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ ? क्या मुझे कलाकार होने की परवा है, जब कि मैं उस जीवन को जी सकता हूँ जो कि तुम्हारे संसर्ग से बना है ? अलगाव का मुझे क्यों मोह तटस्थता से मुझे क्यों प्रेम, जब कि मैं जीवन के एक अणु से भी अलग नहीं होना चाहता, जब कि उसका एक-एक अणु तुम से अनुप्राणित है ! कलाकार मुझसे बड़े हैं, हुआ करें, मैं झुका हुआ हूँ, स्तब्ध हूँ प्रतीक्षमान हूँ और जानता हूँ कि तुम्हारा वरद हस्त मेरे ऊपर है।' इसे थोड़ा-सा और गला दीजिए, और टैगोर अथवा दिनेशनन्दिनी चोरड्या आ जाती हैं।

इसी तरह दार्शनिक भाषा में शेखर कहता है, 'शशि, तुम मर गई हो, अत्यन्त न-कुछ हो गई हो'···और साथ ही यह भी कि 'मैं तुमसे माँगता हूँ कि मुझे आज्ञा दो, मैं तुम्हें याद करूँ।' भावुकता के इस अमित शिष्टाचार की कल्पना कीजिए ! याद भी शशि की पूजा को भ्रष्ट करती है !

(१३) शेखर की व्यापक दशा स्मृति की है। विरोधाभास और अनूठे चमत्कार के लोभ में पता नहीं शेखर में कितनी जगहों पर शील तथा परिस्थिति के औचित्य की हत्या हुई है। शेखर को स्मृतियां आती हैं अथवा वह उन्हें कुरेदता है और वह सोचता कहता जाता है। तब तक लगता है जैसे अज्ञेय को पाठकों का स्मरण हो जाता है और तब अन्तःकोष्ट, विषयान्तरकोष्ठ में (दो Hyphens के बीच) उस चमत्कार को ठूँस दिया जाता है।

नमूना देखिए—'मुझे तो फाँसी की कल्पना सदा मुग्ध ही करती रही है। उसमें साँप-सा एक अत्यन्त तुषारमय किन्तु अमोघ सम्मोहन होता है···एक सम्मोहन, एक निमंत्रण जो कि प्रतिहिंसा के इस यन्त्र को भी कवितामय बना देता है, जो कि उस पर बलिदान होते हुए अभागे—या अतिशय भाग्यशाली—को जीवन की एक सिद्धि दे देता है।' अभागे—या अतिशय भाग्यशाली—वाली शैली हठ की, भटके की है। डायरी लिखने का बहाना होता तो वह चल सकती थी। साफ लगता है, जैसे 'या अतिशय भाग्यशाली' में शेखर का ही दंभ नहीं, अज्ञेय का लिस 'स्व' भी निरावृत हो जाता है। शेखर को यह भय है कि वह कायर अथवा दीन न समझ लिया जाय, अज्ञेय से 'अभागे—भाग्यशाली' के विरोधाभास का मोह नहीं छूटता। ऐसे उदाहरण बहुत मिलेंगे। साथ ही 'निमंत्रण' तथा 'कवितामय' की रुचि का ख्याल कीजिए। शेखर की हिन्दी ऐसे स्थलों पर अंग्रेजी के वमन जैसी लगती है।

(३)

शेखर का व्यक्तित्व एक ओर रागरंजित है तथा दूसरी ओर सहसा खण्डित। व्यक्तित्व के कल्पपराग पक्ष के सौन्दर्य में प्रकृति के सुषमा-वैभव तथा हृदय के भाव-मुक्तक का बहुत बड़ा योगदान है। उसमें सुदूर कश्मीर, श्वेत कमल, परिमल, शरद में सेंकी-गरमाई, वीणा के स्वर-सम्मोहन, आह से खिंची तान, रात में धोखा दे कर सर्द हो जानेवाली चट्टान, झील, बजरे, स्वप्न-लोक की नील कन्या, चिनार, अंजीर तथा युकलिप्टस के वृक्ष, मराल, चकोर, उन्मुक्त आकाश की विराट् विशालता, शारदीय नभ की नग्न ज्योत्स्ना, चन्द्रलोक, व्योम-गंगा की स्वप्निल छवियां रह-रह कर हृदय, स्मृति, कल्पना तथा अनुभूति बनती रहती है। इन सबसे हमारे हृदय में शेखर के लिए एक अद्भुत राग हो जाता है। शेखर के व्यक्तित्व में जीवन का कला-विलास, जीवन की काव्यात्मक अनुभूति है। भिन्न-भिन्न दृश्य-खण्डों में बँट जाने से यह वर्णन शील की आदर्श प्रतिमा नहीं लगता। एक दृश्य जब बीत जाता है, दूसरा दृश्य उसे पुष्ट करता है, फिर तीसरा प्रसंग छिड़ जाता है जिसमें व्यंजना-माधुर्य उतना नहीं रहता। कुछ घटनाएँ होती है, अथवा बुद्धि द्वारा किसी बात पर विचार होता है। तब तक पहले शृङ्गारिक दृश्य संस्कार बन चुकते है। उसके बाद फिर कभी एक सदृश धर्म का दृश्य-खंड आ जाता है, सोये सहधर्मी संस्कार जग उठते है, और शेखर का व्यक्तित्व मकरंदोच्छ्वास से भर जाता है। बन्दा वीर के समय में बने मकानों के खंडहर के इर्द-गिर्द बैठे शेखर की कल्पना कीजिए। गोलियों के निशान और मोर्चे, पीले-पीले पीपल के पत्ते, सिरीष के पेड़ की फुनगियाँ···। दूर भग्नावशेष के गहरे अवसाद की सौंदर्य-भावनाओं के बीच शेखर। शशि गाती है तो शेखर को उसमें शरत्काल में सेंकी हुई आग की मीठी गरमाई, बेले के स्वर-सा घनत्व तथा यौवन के गहरे और ढूंढने की सीमा तक आकर न टूटनेवाले स्वर की ललकार सुनाई पड़ती है। यह है भावुकता जिसकी अतिशयता से, काल्पनिकता से, कुछ पाठकों का व्यर्थ ही जितना झगड़ा हो, लेकिन यह भावुकता शेखर के मर्म को

अभिव्यंजित करती है। पर साथ ही शेखर है खंडित व्यक्तित्व, जिसका प्रेम अथवा श्रृङ्गार-भावना आत्मरति से भिन्न नहीं। शेखर कहता है कि शशि के गाने की अपील रण-प्रांगण के उन्मत्त स्वप्न जगाती है। कहाँ शरद की सेंकी गरमाई, कहाँ रण-प्रांगण की बात! न मालूम क्यों कवि होते-होते शेखर मानों एक क्लैव्य-भावना को झटके से दूर फेंक एक ही क्षण में वीर, अभिमानी, रुद्र-कठिन बन कर ही संतोष-लाभ करता है। उसके हृदय का दूसरा खण्ड, जो सृष्टि के सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित कर सकता है, शशि की हँसी से जगता है। कल्पना देखती थी नदियों, जल-प्रपातों, चन्द्रोदय, व्योम-गंगा के दृश्य, फिर लौट आती थी उसी हँसी को सुनने! यह दूसरा मुक्तक चाहे संगीत से, चाहे शशि की हँसी से, भाव-विलास तो है ही। शेखर अपने खण्डित अभ्यन्तर में जितना कष्ट पाता हो, वह रजत-नीलम भावोच्छ्वासों की एक कुहेलिका छोड़ ही जाता है। फिर झेलम, श्रीनगर, मानसबल झील वाले दृश्य को सोचिए, जिसमें बजरा मानो धक्के की पिनक में बहा जा रहा है, और बालक-बालिका को श्वेत कमलों से लादे जा रहा है। फिर उसी झील में, उसी बजरे पर, उसी दिन बहन और मौसी अन्दर से गा रही हैं। बालक कल्पना करता है, ये स्वर दो तेज तैराक हैं जो झील की छोटी-छोटी अदृश्य लहरों पर सवार हो कर चले जा रहे हैं क्षितिज की ओर, चन्द्रोदय की ओर, चन्द्रमा की किरणों से मिलने—क्योंकि ये किरणें उनकी बहनें हैं और वे इन्हें कुमुदिनियों के हार पहनायेंगी।' शेखर की अवस्था आठ वर्ष की बतायी जाती है। उसके लिए ऐसी ऊँची उड़ान, जिसमें पौराणिक प्रसंग का भी चमत्कार आ जाता है, बहुत ऊँची उड़ान है। शेखर बहन शशि को चन्द्र-किरणों में देख सकता है, यही तात्कालिक संदर्भ इस उड़ान को खटकने नहीं देता। दूसरी वकालत शेखर स्वयं करता है जो लाख छिपाये न छिपे की तरह अज्ञेय की वकालत मालूम पड़ती है—'मेरी स्मृति में जो चित्र आता है उसमें वह बालक इसी भावना से भरा हुआ पड़ा है।' यानो, यह स्मृति नहीं, उसकी मार्मिक अभिव्यंजना है। यदि वह बालक भाषा का प्रौढ़ अधिकारी, व्यंजना का शिल्पी होता, तो इसी तरह भावों को शब्द-बद्ध करता। यह हेतुहेतुमद्भूत-चित्रण है; उस मूक निःशब्द भावना का कलात्मक आलेख है; फोटोग्राफ नहीं, पेंटिङ्ग है; रूप नहीं, रूप के माध्यम से व्यक्त अन्तरात्मा है।

इसी प्रकार शायद कश्मीर में डल झील देखते ही शेखर भाव-मूर्छना की अवस्था में विभोर हो जाता है। उस भव्य विशाल दृश्य में उसे इतनी पवित्रता मालूम होती है कि शेखर उसके स्पर्श के योग्य अपने को नहीं पाता। वह ऐसा महसूस करता है कि वह मैला है, मैल में आवृत है, छिपा हुआ है···उसी सम्मोहन में वह एक-एक करके अपने सब कपड़े उतार डालता है, और आंखें मूँद कर नंगा खड़ा हो जाता है···उस पवित्र से परिपूर्ण, उसके स्पर्श से रोमांचित। यह अपने में खोये सौंदर्योन्मादी का दुर्लभ तुरीय क्षण है। शेखर की काल्पनिकता आत्यन्तिक कोटि की है। लेकिन यहीं शेखर प्रश्न पूछता है। वह क्या था? ईश्वर? प्रकृति? सौंदर्य? शैतान? दबी वासना? ईश्वर? जिज्ञासा का पूरा पाप-चक्र! संकेत

यह है कि बुद्धदेव भी बोधिवृक्ष के नीचे दुबारा नहीं बैठे होंगे । शुक्लजी के शब्दों में, हृदय की तदाकारपरिणति, अथवा मुक्तावस्था—आत्मा की मुक्तावस्था, अथवा ज्ञान-दशा जैसी है, उसके समकक्ष है। भाव-निर्माण के ऐसे दुर्लभ क्षण के मूल में जिसे जो दीख जाय ! भक्त को ईश्वर, वैज्ञानिक को प्रकृति, रहस्य-भावनावाले कवि को प्रकृति तथा सौंदर्य, पादड़ियों को शैतान, आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को दबी वासना और फिर आस्थालु को ईश्वर दीख सकता है। शेखर को किसी ठोस निष्कर्ष से मतलब नहीं। अनुभूति ही पर्याप्त है। ऐसा हुआ, चाहे जिसके प्रभाव से, जिसके अमोघ आकर्षण से हुआ हो ! साथ-साथ सभी संभावनाओं का संकेत भी हो जाता है। लेकिन महावीर, जिनकी नंगी मूर्त्ति देख कर भी शेखर सोचता है कि नग्नता का चित्रण करते-गढ़ते समय मूर्त्तिकार का हाथ नहीं काँपा, उसकी कल्पना नहीं लज्जित हुई, नग्नता का सत्य, सत्य की नग्नता है ! मानों शेखर के मन ने उस नग्नता को स्वीकार कर लिया। अन्यत्र वह पृथ्वी के सौंदर्य और उसके आवरण पर गौर करता है और अन्त में चाँद निरावरण हो कर निकल आता है। यह सब पढ़ने पर लगता है जैसे शेखर शशि, शारदा आदि को नग्न देखना चाहता हो, देख न पाया हो, और वही दबी वासना इन दृश्यों में नग्नता के कारण सौंदर्य पाती हो। कुछ ऐसा भी लगता है जैसे प्रच्छन्न रूप से नग्नता का यह आग्रह, बहन का प्रेम-चुम्बन, लड़के कुमार के साथ प्रेम-चुम्बन-केलि, नौकरानी अत्ती तथा कश्मीरन आया जिनिया की नंगी टाँगें तथा अर्द्धनग्न शरीर और उनका उसके पिता से यौन-सम्बन्ध आदि, इन सभी बातों की चर्चा के लिए एक औचित्य-प्रतिष्ठा है, समर्थन है। छिन्नमस्ता के अधोभाग को पिता ने एक पत्ती से ढँक दिया था। गीत-गोविन्द के पद पिता गाते हैं, लेकिन शेखर के गाने पर चिढ़ते हैं। इसलिए अश्लीलता के नाम पर यथार्थ सत्य को छिपानेवाले षड्यन्त्रकारियों के प्रति यह सब कुछ नग्न प्रतिशोध-सा दीखता है। फिर शृङ्गार को, उदात्त-कोमल कल्पना के साथ, विद्रोही शेखर की क्रान्ति-भावना रह-रह कर जगा जाती है ! शेखर का शील भंडशील है। उसे एक ही धड़ के ऊपर दो सर हैं। एक मुख शृङ्गार का मधु चाटता है, तो दूसरा भी माँगता है। अनधिकारी समझ कवि-मुख विद्रोही-मुख को मधु नहीं देता, तब विद्रोही अपना स्वभाव प्रकट कर देता है, विष पी लेता है।

पात्र के मन की किसी मार्मिक दशा का उद्बोधन कराने के लिए उद्दीपन के रूप में, बहुधा अँगरेजी, संस्कृत तथा बँगला के पद्यों का स्मृति-नियोग भूरिशः स्तुत्य हुआ है। यहाँ एक बात विचार कर लेने की है। स्मृति रसास्वादन में बाधक भी होती है, ऐसा लोगों ने कहा है। भरत चित्रकूट जा रहे हैं, राम से मिलने। अब आपका यदि भाई से कलह हो गया है और आपको भाई के आ कर मिलने की कुछ आशा बँध गई है, तो आप सदा राम बने रहते हैं और अन्त तक भरत के रूप में अपने भाई के मिलने की कल्पना में ही पड़े रहते हैं। इस प्रकार शायद आप अधिक भाव-निमज्जित हो सकते हैं, लेकिन रस-मग्न नहीं। कभी-कभी तो चित्त बँट जा सकता है, और तब कल्पना आपके 'स्व' के संसार में आपको दौड़ाती फिरेगी।

लेकिन अनुभव का दूसरा पक्ष यह भी है कि ऐसी स्मृति से राम-भरत की कल्पना कुछ सजीव हो जाती है, और आपका द्रव भी बढ़ जाता है। भाई-भाई के प्रेम में शीतलता होती है, वासना का ताप नहीं होता। लेकिन यदि किसी नायक-नायिका के संयोग के अंशों को पढ़ते समय आपको अपनी प्रेयसी की छवि अथवा संयोग की स्मृतियाँ आ जायँ और प्रतिक्रिया उत्तेजना का रूप धर ले तब तो बात बिगड़ जायगी। ऐसे प्रेम में ताप होता है। एक ही शृङ्गार के भीतर श्रद्धा, स्नेह, वात्सल्य आदि के गुण-भेद हो जाते हैं; इसलिए स्मृति सदा तो बाधक नहीं ही होती। यदि वात्सल्य के भीतर कृष्ण के 'घुटरन चलत रेणु तन मंडित' को पढ़ कर किसी पिता की अपने मृत बच्चे की स्मृति जग जाय, तो वह शोक के संचरण के कारण रोने लगेगा। यहाँ स्मृति मृत्यु के संदर्भ में प्रतिकूलधर्मा हो जाती है। काव्य की नायक-नायिका और अपनी प्रेयसी का संयोग इसलिए बेमेल होता है कि प्रेयसी के प्रति प्रेम में वासना का ताप है। दूसरे उदाहरण में स्मृति अपने जीवित शिशु की नहीं, बल्कि उसी शिशु से संबंधित घटना की है। पहले में स्मृति का आलंबन, दूसरे में आश्रय सदोष है। लेकिन भाईवाले उदाहरण में तो आप में भी चित्रकूट की आकुलता आ जाने से भाव में तीव्रता आ जाती है। स्मृति में यदि प्रभाव-साम्य हो तो वह थोड़ी रसपोषक होगी ही।

मान लीजिए आप कहीं पढ़ते हैं, 'एक राजा था। उसने अपने मंत्री से कहा—तुम विना कुछ कहे मुझे गाली दो, नहीं तो फाँसी चढ़ा दूँगा।' मंत्री ने कहा, 'अच्छा महाराज, मैं चुप हूँ।'

इसके पढ़ते-पढ़ते यदि आप को एक दिन की अपनी स्मृति जग जाय जिसमें, मान लीजिए, आपके किसी मित्र से इस तरह बातें हुई थीं:—

'मित्र—आप मुझे शरीफ समझते हैं या लुच्चा ?

आप—शरीफ।

मित्र—आप बड़े लुच्चे हैं, आप झूठ बोलते हैं।

आप—तो क्या आप सही बात ही कहलाना चाहते हैं ?'

इससे प्रस्तुत और स्मृत दोनों के हास्य को बल मिलेगा। संक्षेप यह कि स्मृति अपने वैयक्तिक जीवन से भी संबंध रखती हो, तब भी कोई आवश्यक नहीं कि वह सदा रसास्वादन में तड़तड़ाने लायक तम्बाकू की गट्टी डाल दे। वह घुलमिल जा सकती है, और साथ-साथ स्वानुभूति की स्मृति भी काव्यगत परिस्थिति के भाव-संयोग से साधारणीकृत हो जायगी।

यह तो हुई स्वानुभूति की स्मृति की बात। अब यदि स्वानुभूति ही प्रस्तुत हो, और परानुभूति अप्रस्तुत स्मृति के रूप में आये, तो प्रभाव-साम्य रहने पर भाव के उत्कर्ष का क्या कहना! आप लाख अपनी दीनता और वेदना पर मुक्तक लिखा करें, उसका उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना लोक-वेदना के कवि की एक पंक्ति की साक्षी-स्मृति का।

जो उदासी हड्डी में घुस जाती है उसका स्वागत या सुहृद्-कथन उतना प्रभावशाली नहीं होता, जितना ग्रामोफोन पर एक दुःख के गीत रख आपके मूक बैठ जाने से। इस तरह आपका दुःख व्यक्ति का न हो कर लोक-प्रारब्ध की पुंजीभूत करुणा अर्जित कर लेता है। शेखर में मार्मिक क्षणों के अवसर पर ऐसे उद्धरणों की सांस्कृतिक स्मृति पीड़ा का एक ओर मानस-परिष्कार करती है, दूसरी ओर उसमें लोक-प्रारब्ध के गौरव, निर्वेद, दार्शनिक गांभीर्य तथा व्याप्ति के गुण ला देती है। मस्तिष्क की आदर्श कल्पना भाव को एक संयत, सूक्ष्म, सुकुमार अवसाद से भर देती है। जीवन की अस्ताचल-वेला की आसन्न हूक लिये शान्ति की रुचि के उस पद्य की कल्पना कीजिए। क्षय से ग्रस्त शान्ति अपना अंत निश्चित जानती है। फिर आशा के नहीं रहने पर भी उमंग क्यों है उसके भीतर? कल्पना के कारण, सांस्कृतिक स्मृतियों के कारण, अपने को कवि की नायिका के रूप में देख सकने के कारण।

रोजेटी के 'ग्लोरी आव डेथ' तस्वीर की 'ग्लोरी' उसकी भी होगी, यह बात उसकी रीढ़ को गुदगुदाती है। जीवन के अवसान की विषादपूर्ण हँसी के साथ वह वीर लड़की अपने में मस्त है। वहाँ वह यह कविता शायद सस्वर पढ़ती है—

Break, break, break
On thy cold grey crags, o sea!
And I would that my tongue could utter
The thoughts that arise in me.

स्वयं टेनिसन की कविता की करुणा कितनी बढ़ जाती है, शान्ति का अवसाद कितना संस्कृति-समृद्ध, कितना सूक्ष्म तथा कितना तलस्पर्शी हो जाता है! इसी तरह गरुड़-नीड़ में लौटकर शेखर शारदा को नहीं पाता और सीढ़ियों पर बैठ जाता है।

उस चोट की पूर्व भूमिका के रूप में इस कविता का मानस-गुंजन कितना उत्कर्ष-विधायक है!

Dead long dead,
Long dead
And my heart handful of dust···
And the wheels go over my head,
And my bones are shaken with pain
And the hoofs of the horses beat.

लेकिन यदि अँगरेजी की पंक्तियों को ही पढ़ें तब ही। हिन्दी में इनके अनुवाद ऐसे हुए हैं जिन्हें दिखा कोई भी परीक्षक लड़कों का उपहास करता फिर सकता है!

अनुवाद की ऐसी स्थूलता कवि-हृदय की नहीं, शब्द-वणिक् की है जो भाषा का विनिमय जानता है, लेकिन भाव का 'हीर' नहीं जानता।

इसी तरह घर से भगा शेखर गंगा की धारा पर बहता है। 'वह बंधनों के देश आया है और बंधन से निकल भागना चाहता है। पर वह देश तो दूर है। उसे पहुँचने में तो दिनों लग जायेंगे—गंगा इतनी धीमी बहती है।'

'आकाश के मुक्त वातावरण की अबाध विशालता उसके प्राणों में आ गई थी और यथार्थता पीछे थी'। और तब एक गूँज उठ पड़ती है—

O mother Ganges, vast and slow.

ऐसे और भी उदाहारण दिये जा सकते हैं। इन सभी शेखर के विद्या-प्रदर्शन तथा उद्धरणों के पश्चात् फैशन की शंका भी सर्वथा निर्मूल तो नहीं होगी; पर ये पद्यांश खप गये हैं। वे सभी अनुभूति-दान के द्वारा शीलगत, परिस्थिति मनोदशाओं की व्यंजना को पुष्ट-परिष्कृत करते हैं, चाहे उनमें लेखक का दंभ कितना ही क्यों न हो। असल में फाँसी के पहले जैसी स्मृतियाँ आ सकती हैं, इसका विचार तो है नहीं। छूट तो यह है कि यदि कलात्मक ढंग से रखने की क्षमता होती, अवकाश होता, तो स्मृतियों का रूप यही होता!

शेखर के अहंकार, भय और सेक्स के स्वरूप सामान्य वृत्तियों अथवा विकारों के उदाहरण के रूप में दिखाए गए हैं। इन सभी में दमन के अशिव प्रभाव को दिखलाने का प्रयोजन ही अभीष्ट-सा लगता है। भय और सेक्स का रेचन अथवा मुक्ति तो माता-पिता अथवा समाज के कारण नहीं होती, लेकिन पता नहीं शेखर में इतने घोर अहंकार का बीज कहाँ से आया? पुत्र-जन्म के समय से ही कोई कहता है–'बालक बुद्ध का अवतार है', कोई कहता—'अहिंसा का पुजारी होगा', पिता ने कहा—'बुद्ध', माँ ने कहा 'टाऊ', पिता ने कहा Engineer, माता ने कहा Barrister, इस तरह बोध के पहले, बालक का जीवन रूढ़ि में बँध जाता है। किसी बालक की स्वाभाविक रुचि, प्रतिभा तथा क्षमता का विचार किये बिना उसके ऊपर एक रूढ़ मर्यादा लाद देते हैं, उसकी गति-स्वतन्त्रता सीमित कर देते हैं, इसीकी आलोचना तो है इसमें! तीन वर्ष के उस बालक में लाख वर्ष तक विजयी रहनेवाले नेपोलियन से भी अधिक दर्प है। अहंकार ही शेखर के स्वभाव की तालिका है। शीला से प्रेम छूट भी जाता है तो भी शेखर को यह दुःख नहीं होता कि उसने कुछ खोया था, बल्कि यह कि शीला पर क्या बीती होगी! बहुत-से ऐसे लोग खूबसूरत होते हैं जो लड़कियों पर दया करते हैं। उनसे संबंध टूट जाने पर, किसी का दिल टूट जायगा इसकी कल्पना से, उनके अहं को एक गूढ़ तृप्ति होती है।

भूसे से भरे बाघ को देख बालक डरता है। वह डर दबकर घर लेता है। चांस देखिए। वैसा ही बाघ शेखर के घर रखा जाता है। यम-वृद्ध जिज्ञासा का यह बालक चाम को फाड़ देता, लेकिन डर नहीं रहने देता। शिशु ने जाना, 'डर डरने से होता है'[१] ऐसा बहुत से वृद्ध भी नहीं समझ पावें। शेखर में पक्षपात कुछ ऐसा असाधारण हो जाता है कि मालूम होता है जान-बूझकर शेखर का Intelligence Quotient बढ़ाने के लिए,

उसका मानसिक और सांकल्पिक विकास दिखाने के लिए, ऐसे ढीठ उदाहरण रखे जाते हैं।

शेखर को दण्ड मिलता है। डर देनेवाला परिवार वह समाज है जिसका अस्तित्व डर के बिना रह ही नहीं सकता। 'ऐसा वे ही समझ सकते हैं जो वासना से उत्पन्न पाप-कर्म के किनारे तक जाकर लौट आये हैं'। सामाजिक नियन्त्रणों के प्रति शेखर की यह चिढ़ इतनी किताबी, इतनी रूढ़-सामान्य है कि कहते नहीं बनता। सबसे अधिक चिढ़ तो उसे इस बात से है कि ऐसे नियन्त्रण, ऐसे पुण्य-पाप-विधान संस्कार बनकर भीतर से ग्लानि पैदा करते हैं, बाहर से रुकावट नहीं। शेखर प्रेम को मैथुन तक ले जाना चाहता है, लेकिन कुछ प्रेम-कथाएँ तो यों ही समाप्त हो जाती हैं—शीला के साथ शेखर के अहंकर के ही कारण, शारदा के साथ उसके चले जाने से, और शशि के साथ सख्य की आदर्श कल्पना तथा (सूक्ष्म रूप से ही सही) भाई-बहन की चेतना के कारण। शेखर की पढ़ाई शुरु होती है। वहाँ भी मालूम होता है जैसे शेखर यह पढ़कर गया हो कि गुरु शिष्य पर रोब जमाकर, शिष्य को दण्ड देकर उसके मानसिक स्वास्थ्य को पंगु करते हैं। इसलिए कोई मास्टर 'थुक्कू' कह कर अपमानित किया जाता है, किसी मास्टर के Mr. Gass नाम से g हटा दिया जाता है, और किसी मास्टर पर ठुमक कर लात चला दी जाती है। लगता है जैसे शेखर का प्रत्येक व्यवहार शिक्षण-सिद्धान्तों की अपान-सिद्धि है। पिता साहब हैं। उन्हें आमों में रुचि नहीं। शेखर को खाने में मजा आता है। तो शेखर क्यों नहीं खायगा ? शेखर खाने लगता है। जिज्ञासा जोर मारती है तो उल्लू तक की बोली का अभ्यास करता है। 'मैं ईश्वर को नहीं मानता; मैं प्रार्थना भी नहीं मानता', जैसे वाक्य कहने की सामर्थ्य पाकर वह अपने को हिमालय की तरह ऊँचा समझता है। उसके भाई उससे चुपके से कह देते हैं कि वे भी ईश्वर में विश्वास नहीं करते। स्पष्ट हो जाता है कि यह नास्तिकता किसी की गम्भीर आस्था नहीं बल्कि दुनिया को चिढ़ाने तथा वास्तव में दुनिया की आस्था को खोखला सिद्ध करने का ही प्रयास है।

कहीं-कहीं जहाँ हृदय के बालोचित आग्रह की झाँकी मिल जाती है वहाँ अलबत्ता शेखर मनोविज्ञान के दमन, रेचन, विद्रोहवाले झमेलों से निर्बन्ध होकर स्नेहन हास का पात्र हो जाता है। पपीहे की 'पीऊ-पीऊ' सुनने पर शेखर का मन करता है कि पपीहा नीले रंग का होगा और उसकी छाती लाल होगी। 'क्यों' से क्या मतलब हृदय को, और वह भी बालक के हृदय को ! यहाँ काव्य-सुकुमारता तथा हृदय के हास्यकर आग्रह की निरपेक्षता के कारण शेखर का शील विचित्र होते हुए भी मोहक मालूम पड़ता है। कभी-कभी विचित्र शील ही दबी इच्छाओं की अभिव्यक्ति के कारण अनायास साधारणीकृत हो जाते हैं। रूढ़ सामान्यशील इस तरह की किसी बात को मानने की जिद नहीं कर सकते। हर आदमी में यह छिपी दुर्बलता होती है कि बुद्धि के समुचित परीक्षण के बिना ही वह हृदय से किसी को या किसी बात को मान ले। जाने बिना मानने का जो मोह हृदय के आलस्य को पसंद है,

उसके लिए सब को साहस नहीं होता। यदि किसी बालक को यह जिद हो जाती है तो वह सब के मन की बात कर देता है, मूर्ख होते हुए भी बन्धु हो जाता है। शेखर पेड़ से उतर रहा है और शायद दण्ड देने के लिए उसके पिता नीचे खड़े हैं, तो शेखर मन में सोचता है—'कितने आम की थप्पड़, या कितने थप्पड़ की आम।' ऐसी हिसाबी शरारत में चमत्कार ही अधिक है, फिर भी शील स्वभाव के कुछ निकट हैं। लेकिन मेरी आलोचना के प्रयोजन से की गई मद्रास की यात्रा, क्लब की सदस्यता, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर लम्बे वाद-विवाद, हरिजनों का साथ, काँगरेस-कैम्प में अनुशासन-भ्रष्टाचार तथा अहिंसकों की हिंसा की छानबीन आदि की बातें दूर की पड़ती हैं।

(४)

शेखर के व्यक्तित्व का बहुत कुछ मोह पाठकों के हृदय में एक व्यापक उदासी को लेकर है। वह एकाकी है, खोता है और कभी-कभी घायल होकर बैठ जाता है। लेकिन शेखर जब दार्शनिक मनोदशा में होता है तो उसकी इस अन्तर्व्याप्त उदासी का संस्पर्श उसकी दार्शनिकता को नहीं मिलता। चिन्तन के क्षणों में शेखर को दर्शन के इतिहास की स्फुट स्मृतियाँ सताने लगती हैं। एक दार्शनिक मनोदशा होती है, चित्त की एक तटस्थ भवरस-विरति की दशा होती है, जिसके निर्वेद में भी एक मीठी-मीठी उदासी होती है जिसमें आदमी अपने पर, औरों पर, जीवन पर, मुस्कुराता है, कुछ दया भी करता चलता है। ऐसा दर्शन एक भावना है। इसमें स्वप्नभंग, उपराम, पराजय, क्लान्ति, श्रान्ति, सहज लोकदृष्टि, आदि का योग रहता है। लेकिन शेखर का दर्शन तो दर्शन-शास्त्र के इतिहास की रेखाङ्कित पंक्तियाँ हैं, वह कुछ इस तरह की बात करता है—'मैं कुछ नहीं, मेरा कार्य कुछ नहीं···पर मेरी·विद्रोह-चेष्टा कहाँ जायेगी? मैं न रहूँ, पर क्या मेरा कंपन भी खो जायगा? विज्ञान कहता है, कुछ होता नहीं, होगा नहीं, गति की एक ही दिशा···काल कुछ नहीं। तब मैं मर कर भी जीता रहूँगा, पर जीते हुए भी मर चुका हूँ। शक्ति और पदार्थ एक ही कुछ के दो आकार हैं। तो क्या मेरी विद्रोही शक्ति कल किसी विद्रोही की लौह-शृङ्खला बनेगी?' हेमलेट के श्मशान-चिंतन की गहरी हार्दिकता से इसका मिलान कीजिए)। 'हाय मानव के छोटे मस्तिष्क, और हाय भव के विराट् सत्य! अनन्त नश्वरता...अनन्त पुनर्जन्म...निर्जीव धूमकेतु से लेकर उद्भिज, अंडज, स्वेदज, पिंडज जीवों की छाप···मैं अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ का नया संशोधित, संवर्धित, सटीक, सटिप्पण संस्करण, जिसके मूल लेखक का पता नहीं···।'

'यह नृवंश—विकास की मेरे नाम, और मेरी नृवंश-विकास के नाम, वसीयत है··· Will to revolution की गाथा।'

वही शेखर जब शशि के घर जाता है और शशि की शादी हो चुकी होती है, और शशि पूछती है 'देख लिया मेरा घर;' और शेखर कहता है, 'हाँ देख लिया, बहुत कुछ देख लिया', तो गंभीर संयत अनुभवों से एकान्त मौन-मरण की वेदना कितनी मार्मिक, कितनी

मूर्त्तिमान् हो जाती है। घायल पंथी का वह रूपक, प्रकृति का इस घुटती हुई पीड़ा के साथ वह सामंजस्य कितना सफल, कितना हृदयग्राहक हो जाता है।

'मेघाच्छन्न आकाश, प्रकाशहीन सायंकाल, पवन अचंचल, चंचला भी अदृश्य। उड़ते-उड़ते सहसा पंख टूट जाने से विवश गिरता अकेला ही अकेला एक पक्षी गिरता है, फिर अपनी उड़ान, अपना स्थान पा लेने के लिए छटपटा रहा है···'। बहुत गहरी अनुभूति के रूपक तथा परिस्थिति के मर्म के साथ प्रकृति-सामंजस्य का यह अनुपम उदाहरण है।

जेल के जीवन में शेखर की प्रेम-भावना, वीर-पूजा, आत्मीयता, क्रान्ति-भावना तथा जिज्ञासा के स्वरूप देखने को मिलते हैं। अधःपतित, अनुशासन-भ्रष्ट काँग्रेसियों के अनुभव के बाद जेल में रहनेवाले इन बन्दियों की आमरण आदर्शनिष्ठा, वीरोचित त्याग, कष्टसहिष्णुता तथा रूढ़ संकीर्णताओं से मुक्ति शेखर के लिए आदर तथा बन्धुत्व की चीजें हैं। जेल का वातावरण इतना संकुचित, हृदय का विस्तार इतना अधिक। बाहर हिन्दुस्तान फूटा, भीतर एक। राष्ट्रीयता तथा आदर्शवाद की ऐसी सहज और सबल प्रेरणा बाहर संभव न थी।

शेखर का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से संपर्क होता है। सूत्रबद्ध भाषा की दार्शनिक गुरुता लिये बाबा मदन सिंह शेखर के सहज गुरु-से दीखते हैं। बाबा मदन सिंह के पास सूत्रों की पूरी शताब्दी है। बाबा की शैली का नमूना देखिए—

'दासता क्या है! अप्रिय तथ्य का ज्ञान नहीं, असत्य का ज्ञान भी नहीं, दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शान्त करने में असमर्थ होना; वह बन्धन, वह मनाही जिसके कारण हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छिन जाता है।'

देश के अपमान पर रुष्ट होकर बम फेंकना अथवा राष्ट्र-संग्रह के लिए अपने देश के विद्रोहियों को मारना हम समझ सकते हैं, लेकिन 'हिंसा' को अज्ञान के विरुद्ध धर्म-युद्ध कहना बहुत ही बनाकर कही गई बात है। कहीं ऐसा पता नहीं चलता कि इन बुद्धिमानों के सत्य-ज्ञान पर किसी ने प्रतिबन्ध लगा दिया हो, शेखर को उस बुड्ढे के धवल-जूट शैशव के लिए मोह है। इक्कीस वर्ष रहने के बाद भी वह जेल में हँस सकता है। कहीं अपनी किसी विचित्रता अथवा विशेषता की बात आप खुद कहने लगें तो प्रभाव शील के लिए उतना अच्छा नहीं होगा, विशेषतः जहाँ आपका पात्रत्व श्रद्धेय है। ऐसे मौके पर किसी दूसरे आदमी की अपने से मिलती-जुलती बात के प्रति हार्दिक उल्लास प्रकट कर देने से आपके शील की अभिव्यक्ति भी उपचार से हो जाती है। ऐसा शील संकेत की सूक्ष्मता, ध्वनि के सौंदर्य से और भी रमणीय हो जाता है।

बाबा मदन सिंह शेखर से कहते हैं—

"आपने उस पठान की कहानी सुनी है न, जो जेल में तीस साल काटकर अपनी आयु अट्ठाईस बताता था। जब वह जेल से लौटा तो किसी ने पूछा, 'खान, तुम्हारी उम्र कितनी है?' बोला, 'अट्ठाईस'। पूछनेवाले ने फिर कहा, 'जेल में कितनी देर रहे', तो जवाब दिया,

पता नहीं'। 'जेल गए तब कितनी थी ?' बोला, 'अट्ठाईस'। पूछनेवाले ने जब उसके गणित पर आपत्ति की तो बोला, 'जेल क्यों जोड़ते हो ? उन दिनों तो कुछ हुआ ही नहीं तो उम्र कैसे बीत गई'। दोष यही है कि बाबा मदन सिंह स्पष्ट कह देते हैं, वही हाल मेरा है पर बाल तो पक ही जाते हैं।"

जेल के भीतर चरित्र की दृढ़ता तथा दुःख को सहने की ऐसी असीम क्षमतावाले लोगों के शील को कुछ बहुमान-सा मिल जाता है।"

फिर दूसरी बार शेखर हिंसा को लेकर उनसे विवाद शुरू करता है, लेकिन एक संयत नम्रता लिये हुए। शेखर को ऐसा लगता है जैसे मदन सिंह की नम्रता एक अजस्र झरना है, और उनके चरण छूने के लिए रह-रह कर मन करता है लेकिन शेखर का अहंकार उसे रोकता है। शायद बौद्धिक संस्कृति ही बाधक होती है, नेहरू भी तो स्वभाव की इस मौलिक इच्छा को विलायती ढंग से दबाते हैं और दूसरों को ऐसा करते डाँटते हैं। मदन सिंह शेखर को भी सूत्रबद्ध भाषा बोलते टोक देते हैं। वे सोचते हैं जेल की एकान्त-एकाग्रता तथा दुःख ही इसके मूल में हैं। बात तो यह है कि शेखर सदा का वैसा है। सूत्रबद्ध दार्शनिकता अथवा दार्शनिक आडम्बर, बोलने में भी डायरी की भाषा, के लिए शेखर को तो सदा की ललक है; शेखर बड़े ही वैदग्ध्य के साथ तर्क करता है, लेकिन हमें उसके शील-निरूपण में इससे कतई सहायता नहीं मिलती। शील-निरूपण की दृष्टि से बाबा मदन सिंह जैसे वज्रधीर, चरित्र-कठोर तथा बालवृद्ध के प्रति उसकी एक अस्पष्ट वीरपूजक की भाव-मुद्रा ही अभीष्ट है। शेखर को बाबा मदन सिंह के लिए जो श्रद्धा तथा आदर है, उससे उसके शीलगत आदर्श-भावना की झाँकी मिल जाती है।

बाबा मदन सिंह का काम आक्रामक हिंसा, पारिभाषिक हिंसा-अहिंसा आदि के रूप को रख देना है। यदि शेखर को कोई निष्कर्ष हाथ नहीं लगता तो इससे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं। अचानक वार्डर के आने पर बाबा इन बौद्धिक बातों के उच्च धरातल से साधारण कोटि के मनुष्यों की व्यावहारिक कायरता के साथ प्रत्युत्पन्नमतित्व का प्रयोग करते हैं। हिंसा की बात बदल कर कहते हैं, साहब क्या कहता! अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

और तब रास्ते में वार्डर कहता है, 'बुड्ढा भी कभी तूफान ही रहा होगा। पर है बिचारा बड़ा सन्त आदमी—तबीयत का बिल्कुल गरीब है'।

वार्डर के हृदय में बाबा की जो रौद्र-भयानक तथा साथ ही श्रद्धेय दयनीय मूर्त्ति है, उससे बाबा का शील बहुत ही कोमल ढंग से स्निग्ध हो जाता है। ऐसे राग-स्पर्शों से बाबा का शील निर्मित होता तो और भी सजीव तथा मुग्धकारी होता।

बाबा फिर आते हैं, और मुक्ति तथा 'थोथे अध्यात्मवादी पूरब' बनाम निकृष्ट पदार्थ-वादी पश्चिम' के लोगों की चर्चा करते हैं; और 'भेड़-चाल का सभ्य नाम संस्कृति है'—एक सूत्र दे डालते हैं। सूत्र देने के पहले बाबा कह चुके हैं, देखिए, आजकल न जाने मन क्यों बहुत दुःखी रहता है। शायद मैं कोई नया सूत्र देनेवाला होऊँ…शायद केवल बुढ़ापा ही हो। इसलिए आपके सवालों का जवाब सूत्रों में ही—पुराने सूत्रों में ही—दूँगा'। सूत्र की सनक, इसकी इतनी अनवरत हठ-साधना, जब आना तो कुछ सूत्र कहना और फिर जुदा हो जाना मदन सिंह के शील को कृत्रिम बना देता है। कालेज में पढ़नेवाले विद्यार्थी जब शुक्ल जी का बैर-क्रोध का अँचार या मुरब्बा है पढ़ते हैं, और परीक्षा में काम आने के लिए उन्हीं की व्याख्या रटते हैं तो कुछ दिनों तक आचार्य की शैली ही अपना लेते हैं, जैसे 'गणित का पर्चा योग्यता की मणिकर्णिका है'। लेकिन इस सतत शास्त्रीयता से बाबा जब आकाश में मेघ देखकर कहते हैं, आँधी-तूफान से कुछ सहारा मिलता है, तो इस बन्दी मृगराज अथवा बुद्धिशार्दूल के शील के प्रति एक ही साथ भय, आदर तथा करुणा हो आती है।

शेखर के आदर्श ऋषि बाबा मदन सिंह धीरे-धीरे बीमार पड़ते हैं, और चटगाँव में गोली चलने की, वहाँ के भारतीयों पर अत्याचार की कहानी सुनकर दर्द से कराह उठते हैं। बाबा कहते हैं, 'मैंने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो,—संसार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते हैं जो अभिमान से भी बड़े हों'।

सो बाबा की हँसी वह स्वाभिमान है, जो दुनिया के सामने अपनी दीनता, दुर्बलता और व्यथा प्रकट करना नहीं चाहता। लोग बाबा पर दया न करें इसलिए तो बाबा आँतों को मरोड़ कर, हड्डियों को गुदगुदा कर हँसते हैं। भीतर के पागलपन को छिपाने के लिए, संसार के सामने प्रसन्नता का स्वांग, स्मित आनन का नाट्य कितने अधिक प्राण-व्यय, कितने उत्सर्ग, कितने आत्मपीड़न की साधना चाहता है। लेकिन एक बात और देखिए। चटगाँव के गोलीकांड का पूरा प्रमाण नहीं है। बाबा इसीसे अधीर हैं। लोग टाल देते हैं कि ऐसी अफवाहें उड़ा करती हैं। बाबा को आशंका है कि अफवाहों से भी अधिक भयंकर कांड हो सकता है। वे कहते हैं मेरा क्रोध इसलिए नहीं है कि मेरे पास प्रमाण है; क्रोध इसलिए है कि प्रमाण नहीं है। यहाँ तक तो ठीक है। अपने देश पर विदेशी अत्याचार करें और राष्ट्रीयता के पुजारी, माँ के लाल, जेल के भीतर पूरी सूचना भी न पा सकें, तो यह भावुक आदर्श-वादियों के लिए दाँत पीसने, जेल की दीवार फाँद जाने तक की बात हो सकती है। बाबा दीवारें नहीं फाँदते। अचानक बात के स्तर को शास्त्रीय बना देते हैं। राष्ट्रीयता की भेद-बुद्धि का स्वाभाविक क्रोध और लपटें न मालूम कहाँ चली जाती हैं; और बात कुछ ऐसी नहीं कही जाती, जिसमें देश-भक्ति का जोश हो। मजा तो यह है कि बाबा जँगले के पास आ जाते हैं, और भिंची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर कुछ कहना शुरू करते हैं। क्या कहते हैं? जो कहते हैं वह राष्ट्रीयता को फाँदती, अन्तरराष्ट्रीयता को लाँघती, अखिल

मानवता की ओर से कही जाने लायक बात-सी लगती हैं, और वह भी जैसे बाइबिल का शैतान आदम को सिखा रहा हो, जैसे सारी बात, ज्ञान को आवरण के पीछे छिपाकर, मनुष्य-मात्र को सदा के लिए पंगु कर देनेवाले ईश्वर के विरुद्ध कही गई हो। शेखर की एक पूरी स्मृति ईश्वर, आदम और सर्पवाले पुराण की है। जिज्ञासा, जिज्ञासा और जिज्ञासा, ज्ञान, ज्ञान और अधिक ज्ञान की पीड़ा जैसी शेखर को है वैसी ही मदन सिंह को। पता नहीं, कौन शरीर है, कौन छाया! योग के प्रति भी मनुष्य का आकर्षण हो सके, इसलिए ज्ञान की अवस्था को आनन्द की अवस्था कहा जाता है। उसी तरह शैतान के बहकाने में भी ज्ञान-फल के स्वाद-विशेष तथा प्रभुता-विशेष का प्रलोभन है। मार्लो और गेटे के 'फास्ट' में भी ज्ञान की भूख या जिज्ञासा स्वयं अपना लक्ष्य नहीं, वह सुख-भोग, शक्ति-वृद्धि आदि को लेकर है। इस तरह यह जिज्ञासा कुछ मानवोचित, लोकगम्य, सर्वसाधारण की चीज हो जाती है। लेकिन शेखर और मदन सिंह की जिज्ञासा तो अन्धकार में टटोलते रहने का ही सुख है। चटगांव-वाले इस छोटे तथा निकट संदर्भ में अचानक विचारों की उत्क्रान्ति, या उड़ान-सिद्धि देखिए—'दासता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते हैं? अप्रिय के ज्ञान को नहीं, असत्य में विश्वास को भी नहीं, दासता कहते हैं उस अवस्था को, जिसमें हम सत्य और असत्य को जानने में असमर्थ हो जाते हैं; दासता है वह बन्धन वह मनाही, जो हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छीन लेती है।' कहाँ चटगाँववाली बात, कहाँ मनुष्यमात्र की दार्शनिक विवशता!

यहीं परिस्थिति का निरूदन (dehydration) हो जाता है, सारी तरलता समाप्त हो जाती है। बात संदर्भातिक्रान्त हो जाती है।

बाबा की हालत धीरे-धीरे गिरती ही जाती है। 'मैंने अपने जीवन का उत्तम अंश कोठरी में बिताया है, अब सब से महत्त्व का दिन कहीं और बिताने नहीं जाऊँगा,' बाबा कहते हैं। जब स्मृतियों की मार्मिक अभिव्यंजना करने की छूट है ही, तो यहाँ 'उत्तम' और 'महत्त्व' जैसे शब्दों को नहीं रखना चाहिए था। ये शब्द व्यक्ति-विगलित न लगकर अनुवाद जैसे दीखते हैं।

उधर बाबा की भीम-मूर्ति राष्ट्रीयता की असह्य वेदना लिये कराह रही है, इधर पहरेदार यन्त्रवत् चिल्लाते हैं—'सब अच्छा!' ऐसे व्यंग्यों से वीर बाबा के प्रति करुणा तीक्ष्ण हो जाती है। पता चलता है कि बाबा 'रात में उठ बैठे, घंटा भर रोते रहें; और फिर कहा 'अब चल! बस···' संकल्प-शक्ति की अमोघ पराकाष्ठा लिये ही बाबा की जीवन-लीला का अवसान होता है। चटगाँव के अत्याचार वे सह नहीं सके। शेखर को बाबा की आँखों में एक सूत्र की स्मृति डबडबा जाती है और है भी वह सूत्र बाबा के सभी सूत्रों की शिरोमणि। 'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है लेकिन दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है।' जब तक बाबा जीते रहे, शेखर ने उनके पैर छूने में अपमान समझा। आज अपने को कोसते हुए उसने

उनके अन्तिम सूत्र पर माथा टेक दिया, फिर 'दो बड़े आँसुओं का निर्लज्ज भाव वार्डरों को दिखाता हुआ कोठरी में चला गया।'

'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है लेकिन दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है।' थोड़ा इसका विश्लेषण कर लें। गौर कीजिए। (१)—शेखर जब श्रद्धा से नतमस्तक है तो माथा टेकने के पहले 'अभिमान से भी बड़ा दर्द होता है' बस यहीं तक की स्मृति रसपोषक होती है। बाबा के लिए जो शेखर को दर्द है वह शेखर के अभिमान पर विजयी हो माथा टेकता है। और तब श्रद्धा के अश्रुपुष्प चढ़ा लेने के बाद शेखर के भविष्य के गुरु-मन्त्र अथवा कर्म-योग के उत्साह-सिद्धान्त के रूप में कोठरी से चलते-चलते 'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है,' मानस गुञ्जन भाव के अनुकूल पड़ता। मात्र सूत्र के लोभी उपन्यासकार को यह पता नहीं चला कि एक साँस में कह डालने की त्वराकुलता भाव-विराम के अनुकूल परिस्थिति के लिए कितनी घातक हो सकती है। (२)—हृदय जिसको आदर्श मानता है, ऋषि मानता है, वीर मानता है, उसके चरण छूने का विनय शेखर में नहीं आ पाता, और इससे वह अशान्त भी है। अपने ही अभिमान से शेखर अशान्त है। आज जब बाबा सदा के लिए चल बसे और मौका हाथ से निकल गया तब तो और। आज तो बाबा उसके अभिमान की पराजय को देख भी नहीं सकते थे। फिर भी शेखर केवल सूत्र पर ही माथा टेक लेता है। बाबा के चरण छूने में हृदय की पूजा होती। सूत्र बाबा की बौद्धिक तपस्या की सिद्धि है। वहीं तक शेखर जा सकता था। आगे हृदय को बुद्धि नहीं जाने देती। अपनी बुद्धि के प्रतापभानु के सामने शेखर हृदय का कपटी मुनि ही होकर रह सकता है—प्रणाम भी करता है लेकिन इस प्रवंचना के साथ कि बुद्धि के अहंकार को कोई शिकायत न हो। (३)—आँसुओं के 'निर्लज्ज भाव' का क्या अर्थ ? अवश्य ही अपने आँसुओं को दिखलाने में निर्लज्जता की चेतना उसी बौद्धिक दम्भ की पाप-चेतना है, जो भूलकर भी हृदय की प्रेरणा को नहीं मानता।

जेल में जिस दूसरी शील-विभूति से शेखर का सम्पर्क होता है वह है महसिन। महसिन स्वलक्षण-शील का व्यक्ति है। उसके व्यक्तित्व का मूल्य न संस्कारों में है, न आदर्शों में, न किसी लोक-निरति में, न गरिष्ठ बौद्धिकता में। उसके व्यक्तित्व का, अभिव्यक्ति का सौंदर्य प्राण-प्रवाहक की लघु-चंचल ऊर्मिलहरियों में है, किसी भीम-रुद्र, महाप्राण, गुरु-गंभीर अभिव्यक्ति में नहीं। वह शरारती है, शरारत में उसे रस मिलता है, मजा आता है और इस तरह दूसरों से निर्दोष विनोद करते उसका एकान्त जीवन कट जाता है। पारे की चंचलता, विनोद-प्रियता, वाक्चपलता उसमें कूट-कूट कर भरी है। जेल के जिस जीवन को बाबा मदन सिंह ने कठोर तपस्वी के अक्षय संकल्प, महामनस्वी के अमिट तेज से काटा, उसे महसिन एक लीला-नट, एक बाल-सखा, एक दायित्व-निश्चिन्त, रूढ़िमुक्त तथा प्रसाददर्शन व्यक्ति के रूप में बिताता है। बाबा तो गम्भीर थे, गम्भीर रहे। महसिन व्यवहार में सदा हल्का-फुल्का, गाता, बोली बोलता, जेलवालों को छकाता चलता है। लेकिन, इस नटखट स्वभाव के तल में एक

सहज संयम एक निसर्ग-सबल मर्यादा, तथा एक सरल स्वाभिमान है, जो अग्नि-परीक्षा की वेला में अन्तर की दीप्ति से और भी निखर उठता है। ऐसे हँसमुख सखा के करुण अन्त की मार्मिकता और भी बढ़ जाती है। सहज आत्मस्थ व्यक्तियों की तरह महसिन आक्रमक नियमों को समझ ही नहीं सकता। जो नियम ऊपर से लाद दिए जाते हैं, उनमें उसे कोई सार, कोई अर्थ नहीं दीखता। महसिन जैसा शिवहृदय पात्र 'शेखर' में कोई नहीं। महसिन विद्रोह के लिए विद्रोह नहीं करता। न तो जेल का जीवन उसे कटुम्लान ही बना सका है, न व्यर्थ शहीद बनकर जेल में रहने की कष्ट-साधना ही वह करना चाहता है। वह तो हर घड़ी बच्चों की तरह छुट्टी मिलते ही घर भागना चाहता है। जो रूढ़ नहीं, वह कट्टर नहीं। शेखर से कोई परिचय नहीं; फिर भी सहज रीति-निरपेक्षता से, बेतकल्लुफी की स्वाभाविक आत्मीयता में महसिन बोल उठता है, मानों कितना पुराना परिचित हो—'बात तो सुन जाओ मौलवी!' महसिन मुसलमान है, शेखर हिन्दू। 'मौलवी' में व्यंग्य हो तब, आत्मीयता हो तब, दोनों अचानक के संदर्भ में खटकनेवाली चीजें हैं। महसिन साम्प्रदायिकता का संकीर्ण बन्दी नहीं, सहज बन्धुत्व का विशाल विश्व है।

वह अपनी बात को स्पष्ट करता है, 'मौलवी तो बने हुए हो, कितने दिन से हजामत नही बनाई है। उस्तरा नहीं है क्या?'—यह तो 'मौलवी' पर ही व्यंग्य है। एक मुसलमान के द्वारा और एक हिन्दू के लिए, एक अपरिचित मनुष्य के लिए, इतना सहज सौहार्द! मस्तमौला तबीयत का आदमी जो कहना है, कह गुजरेगा, किसी के लिए बुराई तो है नहीं दिल में। जब शेखर कहता है, 'यहाँ कौन देखता है' तो महसिन कहता है, 'अरे भले आदमी, कोई नहीं देखता तो क्या अपने भी नहीं चुभती? और खुद तो बाहर जाने लायक बने ही रहना चाहिए—फिर कोई छोड़े न छोड़े बला से। फिर न हो तो एक पतरा मुझे ही भेज देना। मुझे तो हर समय रिहाई के लिए तैयार रहना अच्छा लगता है।' उसे जेल में सांसत नहीं। कुछ ऐसी आत्माएँ होती हैं, जिन्हें घेरे के भीतर रखा ही नहीं जा सकता। उन्हें दास बनाना व्यर्थ है, वे कारागार में भी मुक्ताकाश की तरह रहती हैं। मुक्ति की आशा में महसिन की जंजीर भी सोने की हो जाती है। मौलवी होते तो मक्कार हैं, मगर मेरा मौलवी हिन्दू होगा तो निभ जायेगी। इसमें दुहरी उदारता, सीमाओं पर दुहरी विजय है। मौलवियों को मक्कार कहकर वह असामान्य मुसलमान हो जाता है, फिर हिन्दू से ही निभने की बात कह वह किसी हिन्दू से भी अधिक सम्मोहक मालूम पड़ता है। महसिन जाता है, वह उदास होता है, तो वह सीधे दिलबहलाव कर लेता है, और वह साफ दूसरों से कहता है कि वह गाता है, गाने के लिए कहने पर बझे गले के नखरे नहीं करता। शेखर ऐसे भी अपनी स्वभाववक्रता नहीं छोड़ता। इससे दोनों के शील छँटते चलते हैं। शेखर कहता है, 'गाना हो तब तो बुरा नहीं लगता।' जब शेखर शरारत से कहता है कि वह महसिन को 'पंडित' कहेगा, तब वह झूम जाता है—'वाहवा! ठीक है। तब मैं हजामत करके तिलक भी लगाया करूँगा।' फिर

महसिन के शील का साक्षी निर्माण होता है। वार्डर महसिन से आजिज आकर उसकी शिकायत करता है, और जो अभियोग लाता है उसीसे महसिन के उल्लासचपल सम्मोहन का चित्र खिंच जाता है।

वह हर किसी को 'तुम' कह कर बुलाता है (रूढ़िमुक्त शिष्टाचार से मुक्त है वह), यहाँ तक कि दारोगा साहब को भी। निर्भीक भी है वह। लावारिस है, बाप-माँ, भाई-बन्द कोई नहीं। अनाथ है। लेकिन, पढ़ने गया तो बगावत फैलाने लगा। हरवक्त शरारत सूझती है। हथकड़ी लगाइए, फिर भी शरारत से बाज नहीं आता। कहता है—'मेरे लिए चक्की पीसो तो बादशाह के लिए मैं पिसूँगा।' किसी के आतंक में आने को नहीं। चक्की पीसने को दो, कबूतरों को चुगा दिया। पूछने पर बोला, 'कबूतर मेरे भाई हैं, मुझे खुश रखते हैं।' महसिन को इसी प्रसन्नता से मतलब है। जो खुश रखे वह भाई, चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान, चाहे इन्सान, चाहे पशु-पक्षी। चक्की उखाड़ कर थाला बना डाला, पानी डाल दिया। कहने लगा, 'मक्की, बोई है। चक्की में मक्की बोने वाले महसिन को कोई अपनी प्रकृति से कितनी दूर रख सकता है। वह तो अपने अन्तर से विवश है। उसके बाद महसिन गाया करता है। शेखर सुनता है—

'मिट गयी जब सब उमीदें मिट गये सारे खयाल,
उस घड़ी फिर नामवर लेकर पयाम आया तो क्या।'

उसके बाद 'मौलवी ओ-ए' और 'पण्डित हो!' का स्नेह-विनिमय जेल की निस्तब्धता को भंग कर देता है। शेखर के स्वर से ही वह भाँप जाता है कि वह अशान्त है। शेखर एकबार नहीं बोलता तो वह उसे अधिक परेशान भी नहीं करना चाहता 'सो जाओ, मैं नहीं बुलाता।' हृदय का ऐसा नवनीत विरले ही कहीं मिलेगा। फिर उसका दिल बहलाने के लिए गाने लगता है। महसिन के इस नटखट, शरारती, लफंगे स्वरूप के बाद संश्लिष्ट विरोध के रूप में उसके आत्मबल, उसकी संकल्प-शक्ति की पुंजीभूत राशि का उद्घाटन तब होता है, जब दारोगा के अत्याचारों से उसका स्वाभिमान, उसकी कष्ट-सहिष्णुता, उसका विरोध-संकल्प बढ़ता ही जाता है। हजामत बनाना वह नहीं ही छोड़ता। बेड़ी के बाद डंडा-बेड़ी, फिर खड़ी-बेड़ी, फिर रात हथकड़ी, फिर दिन-रात डंडा-बेड़ी, फिर कसूरी खुराक! लेकिन महसिन की हँसी नहीं छूटती। हँस कर कहता है, 'देख मौलवी, मैं हज करने चला हूँ।' यह वह हँसी है जो दूसरों को रुलाती है। सदा की तरह महसिन प्रकृतिस्थ परिस्थिति की उदात्त विस्मृति बना रहता है! शील और प्रारब्ध के व्यंग्य की यह तीखी अनुभूति हमें करुणा में डुबा देती है। हास्य संचारी होकर वीर की करुणा को यहाँ और भी मार्मिक बना देता है। जब महसिन बिलकुल नंगा और खून में लथ-पथ हो जाता है, तो शेखर को देख कर कहता है, 'मौलवी, मुझे तेरे पास ला रहे हैं। अब गाना सुना करना।'

बेंत खाकर टिकठी से उतारे जाने पर दारोगा को देख वह कहता है, 'बस! अब तो मैं खलीफा हो गया।' अपने से और दूसरों से उसका हास-विनोद छूटता नहीं, वह झुकता नहीं।

फिर रामजी! वह ऐंठदार मूँछों और निर्भीक आँखोंवाला जाट। संकीर्ण वातावरण में भी अभ्यन्तर का विस्तार, तथा आपाततः तुच्छ में भी उदात्तता की झलक, जिस तरह बन्दी मदन सिंह और महसिन में मिलती है, उसी तरह इस जाट में भी। स्वलक्षणशील, तथा नैसर्गिक साधुता का अन्तर, एवं हत्यारे का बाह्य रूप लिये, रामजी तीसरी शील-विभूति है। सब से अधिक सजीवता इस जाट के शील में है। जाट जानता है कि उसे फाँसी होगी। किसी कचहरी में नहीं, जहाँ वह आत्मरक्षा के लिए झूठ भी बोल सकता था, बल्कि भेद-सुहृद शेखर से, वह इतनी सरलता, इतनी स्पष्टता, इतनी सजीवता से अपने अपराध का यथार्थ-चित्रण करता है कि मनुष्य का सारा न्याय-विधान ही सत्य तथा साधुता को माहुर देने जैसा लगता है। 'गाय गोठ महि सुर पुर जारे' से भी भयंकर पातक हमारा न्याय करता है, जब रामजी जैसे चरित्र वीर, अहिंसाधर्मी, शीलवान्, संकोची, तथा व्यवहार-साधु व्यक्ति को हत्या की बाह्य बर्बरता के नाम पर फाँसी पर लटका दिया जाता है। सामाजिक व्यवस्था की इस न्याय-विडम्बना की प्रच्छन्न आलोचना को भूल जाइए। रामजी को देखिए। रामजी है जाट। इसलिए पहाड़ी जातियों की नग्न स्पष्टता, प्रेम और प्रतिशोध, बैर और प्रीति की साधु तत्क्षणता, मृत्यु, निर्भीकता, विचारों की सरल निर्द्वन्द्वता तथा संकल्प की बर्बर कठोरता की परंपरागत धारणाएँ अपने अद्भुत राग से रामजी के शील को पहले ही रंजित कर देती हैं। रामजी हत्या के अपराध में आया है। फाँसी उसे होने को है, उसे भी सिगरेट पीने को फुर्सत है। वह शेखर से कहता है, 'मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिए। आदत है बाबू जी, पर अब तो फाँसी पर चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ। आप पीते हैं न?' अज्ञेय ने रामजी की बातचीत में कहीं भी भारीपन नहीं आने दिया। बोलचाल की सीधी-सादी भाषा। फाँसी के दिन भी सर्दी से बचने के लिए गुलबन्द बाँधनेवाले, भूसेवाले घर के छाजन की चिंता करनेवाले, 'दूसरे दिन फाँसी पड़ेंगे, आज मरने को जी नहीं चाहता' ऐसा कहनेवाले, या 'अब तो फाँसी पर चढ़ना ही है, इसलिए पी लेता हूँ,' कहनेवाले भयावह तथा दारुण की गंभीर विस्मृति के जड़ोदात्त प्राणी है। एक तरफ तो 'बुरी आदत है, बाबूजी' में नम्रता, आत्मतुच्छता दयनीयता तथा व्यसन की असहायता देखिए, दूसरी ओर साहस और संतुलन देखिए कि फांसी के खौफ से भी सिगरेट पीने की आदत और मौज रुक नहीं सकतीं। भोग की, विलास की यह जड़ता आत्यन्तिक मालूम होती है। और हम सभी साधारण कोटि के आदमी मन मसोस कर रह जाते है, काश कि केवल वर्त्तमान का ऐसा निश्चिन्त भोग तथा भविष्य के भय से ऐसी सम्पूर्ण मुक्ति हमारी भी होती! फिर हम करुणा से भी भर जाते हैं। रामजी विहसित हास्य का, स्नेहन हास्य का आलंबन हो जाता है। शेखर से वह पूछता है, 'आप हत्यारे पर दया दिखाना बुरा तो नहीं समझते?' रामजी

जैसा आदमी भी हत्या कर सकता है, यह बात कल्पना में नहीं आती। हत्या एक कर्म है, उसके पीछे जो भाव है उसकी परख किये बिना जो दण्डविधान बन जाता है, वह शीलप्रज्ञा का जन्मांध है। रामजी जानता है कि लोग उसे औरत का हत्यारा समझते होंगे। वह फाँसी से छूटने के लिए अपील नहीं करता। लेकिन एक सिगरेट देकर जो अनुग्रह कर दे, जिससे पुराना ताल्लुक हो जाय, उससे कोई बात वह छिपाना भी नहीं चाहता। अदालत में भी सच्ची बात कह आया। कहानी के बीच की यह कहानी और भी कुछ 'पंचतन्त्र' जैसी रोचक मालूम पड़ती है। रामजी की बातों में वक्रता नहीं। वह आँखों-देखे, कानों-सुने, हाथों-किये काम को प्रत्यक्ष साक्षी की तरह कहता है। उसके कथन की सजीवता अनुपचार-कथन के कारण आती है। वह सारी बातें प्रथम पुरुष में कहता है। सभ्यता अन्य पुरुष में बातें करती है; आदिम, बर्बर, प्राकृतिक लोग प्रथम पुरुष में ही बोलते हैं। अन्य पुरुष सत्य के स्वरूप के साथ हस्तक्षेप करता है, प्रथम पुरुष की विधि अक्षरशः कथन की विधि है।

रामजी को थोड़ी-सी जमींदारी थी। उसके भाई नौकरी करने चले गये। पर भाभी का मन अच्छा नहीं था। 'पड़ोस के लोग जो हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्हीं में से एक उसकी कुछ बातचीत हो गयी थी।'

रामजी तनिक भी अतिशयोक्ति से काम नहीं लेता, पर उसकी उक्ति में संकोच है, संयम है।

भादों में एक दिन रामजी बासी रोटी खाकर खेत पर रात को रहने चला गया। जोरों की बारिश और ओले के कारण वह घर लौटा तो दरवाजा बन्द। गुस्से में दरवाजा तोड़ने लगा तो भाभी ने किवाड़ खोले और सहमी-सी एक तरफ खड़ी हो गयी। ईमानदार, बालोचित शीलवाले बर्बर लोग ब्योरों से नहीं थकते, जिससे उनकी बात अधिक मांसल, अधिक रूप-साक्षात् तथा हास्यकर मालूम पड़ती है। वही आदमी था। उसके कपड़े और जूते सूखे हैं, जिससे जान पड़ता है वह देर का आया हुआ है।

'बाबू जी, मेरी जगह आप होते क्या करते ?'

इतना विनीत रामजी; लेकिन विनय-मर्यादा निर्लज्ज नहीं होती।

उसके बाद फाँसी पड़नेवाले आदमी की तरह नहीं, बल्कि बालक की तरह एक ही साँस में सच के छोटे-से-छोटे और यथातथ्य ब्योरे कह देने के लिए वह आकुल हो जाता है। ऐसी शैली से, पाठक गौर से पढ़ें, मन में हँसी भी आती है।

ऐसे अथक बतकड़ों को श्रोताओं के धैर्य के प्रति उपेक्षा हो, ऐसी बात नहीं। वे बात के रसिक होते हैं, वे सार-संक्षेप के स्थूल-सामान्य की अपेक्षा अनेक विशेषों में से प्रत्येक की विरल प्रतिभा के कायल होते हैं। रामजी को तत्त्व के समास से संतोष नहीं, वह तो प्रत्येक ब्योरे के विस्तार में ही सत्य को चरम सार्थकता अपने भीतर पाता है। अँगरेजी साहित्य में इस तरह प्रथम पुरुष में दूसरों की बातचीत के ब्योरे के प्यासे बहुत मिलते हैं।

ऐसे सभी पात्र प्रायः किसान, गड़ेरिया आदि प्राकृतजन, वृद्ध, बालक या विक्षिप्त लोग होते हैं। 'शेखर' जैसे गरिष्ठ तथा अरूप बौद्धिकता के उपन्यास में रामजी जाट मानों मूर्त विशेषों की संजीवनी फूँक देता है। रामजी की सुनें—"मैंने भाभी से पूछा कि यह कौन है, क्यों आया है ?' (सीधी बात)। उसने जवाब नहीं दिया। मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने भाभी को धमका कर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है ? बहुत धमकाने पर बोली—'कई बार आया है।' मैंने पूछा कि तू इसे चाहती है, तो कुछ नहीं बोली। मैंने आदमी से पूछा, वह भी नहीं बोला। तब मैंने कहा, अगर तुम लोगों में प्रेम है 'तो तुम ब्याह कर लो। मैं कुछ नहीं कहूँगा। पीछे जो होगी, सो मैं देख लूँगा। भाई को भी मना लूँगा। बोल, तू है तैयार ?' भाभी कुछ नहीं बोली। मैंने उस आदमी से पूछा, तो बोला—'तू कौन है बीच में पड़नेवाला ?' मुझे गुस्सा आ रहा था पर मैं चाहता था भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो कह नहीं रही थी, पर भाई के साथ जो तीन बरस रह चुकी थी, उसका कुछ लिहाज था ही।"

इस तरह बात ब्योरों के साथ आगे बढ़ती है। वह जार कहता है—'ना, मैं बीवी-बच्चेवाला ठहरा, मुसीबत मोल लेना नहीं चाहता।' रामजी बोला, या तो तुम दोनों ब्याहकर लो, नहीं तो जो मन में आयेगा, करूँगा।' जार ने रामजी को गाली दी। फिर वह कहता है, मैंने पूछा 'तू है तैयार ? अगर है तो मैं इसे मनाकर छोड़ूँगा, पर वह नहीं बोली, तब मेरी आँखों में खून उतर आया। और मैंने गँड़ासे से दोनों को काट डाला।' इसमें तरकारी की तरह निर्विकार चित्त से गर्दन काट डालनेवाला चरित तो है ही, भाभी के प्रति कितना संकोच, अन्त तक एक सम्मानजनक समझौते की ललक भी है। रामजी कितना उदार, कितना साफ-सुथरा, प्रकृति से कितना नीतिवान्, भाभी का कैसा सहज पक्षपाती है। भाई को भी मना लेता। उसे कमीनापनी नीयत से क्रोध है। वह यौन-भोग को पाप नहीं मानता। वह चाहता है कि चोरी की नीचता बाहर का साहस भी हो जाय। अंधकार से उसे चिढ़ है। जिसकी कलाई पकड़े, उसकी बाँह पकड़ ले। मरदाना आदमी······सीधी-सादी कुछ बातों में ही जिन्दगी का वारा-न्यारा कर बैठा। रामजी से बढ़कर सहज धार्मिकता किसकी है ? थाने में लिखा दिया। 'खूनी को मरना ही चाहिए।'

वह बाबूजी (शेखर) से पूछना भी नहीं चाहता कि उसने अच्छा किया या बुरा। वह शर्मिन्दा नहीं है। वह अच्छी तरह मरेगा। उसने अपील नहीं की। अच्छे-बुरे का निर्णय दृष्टिसापेक्षता से हो सकता है। उसकी अन्तरात्मा संतुष्ट है। वह शान्त है। उसके एक ही कर्म में भावना और कर्त्तव्य दोनों एकाकार हो गये हैं। वह मर्यादा-पुरुषोत्तम है, फिर भी हत्यारा ! कैसा व्यंग्य ! लोमहर्षक तथा भयंकर से भी ठिठोली करनेवाले, या फाँसी की बातचीत भी प्रकृतिस्थ हो करनेवाले तो साहस तथा अनुशासन के सहज योगी हैं। रामजी जाट की एक यही तमन्ना है कि जल्लादों का मुँह देखना न पड़े, कोई अपना आदमी

भी रहे, जिससे मरने के समय अकेला नहीं लगे। सिकन्दर तो अकेला चला; यह पट्ठा, यह हृदय का बालक, भाई, सखा, मित्र, अकेला नहीं मरना चाहता। अपनी फाँसी देखने के लिए दीन आर्त्त स्वर से यह अपील 'इसमें बुराई नहीं है, एक बिचारे को याद ही है। मैं भी समझूँगा, मरते वक्त एक दोस्त मौजूद था' तो 'शेखर' के अन्यतम मार्मिक प्रकरणों में है। जिस पर करुणा आती है, जिसे दुःख के मारे देखा नहीं जाता, जिसने मृत्यु तक को जीत लिया है। वह मोह-ममता का ऐसा दीन-कातर बन्धु है। किसी को फाँसी देखने के लिए आप लालायित हों, वह आपको शत्रु ही समझेगा। यहाँ तो यह बात है कि मरनेवाला दोस्त बचनेवाले दोस्त को अपने बिस्तरे की बगल में बैठा देखना चाहता है और देखते-देखते मर जाना चाहता है। लेकिन फाँसी चढ़नेवाला कहे कि आइएगा, आपका अनुभव भी बढ़ेगा, कुछ लेख लिखने को भी मिल जायेगा और मेरा वक्त भी कटेगा तो हम कितना रोयें, और कहाँ से हँसे। भयानक, करुण, वीर, अद्भुत, गँड़ासे और फाँसी पर टँगती लाश को सोचकर बीभत्स का भी ऐसा संयोग ऊपर से तुच्छ तथा भीतर से उदात्त, ऊपर से साधारण तथा भीतर से असाधारण का ऐसा संश्लेष तथा विरोधाभास कहीं बिरले ही मिलेगा। इतना बर्बर और इतना कोमल। इधर फाँसी की बात, उधर सिगरेट की। हमलोगों से इतना बड़ा; फिर हमी लोगों का भाई।! ऐसे पात्र के प्रति हमारे हृदय में भावों के त्रैत उठते हैं। रामजी रात भर गा-गाकर शेखर का दिल बहलाता है, क्योंकि शेखर उदास है। दया का, सहानुभूति का ऐसा विष्णु ! कृपा और कौतुक दोनों वैष्णव गुण हैं। ऐसे को हत्यारा कहा जाता है !

शेखर को जब अनुमति नहीं मिलती तो बिचारे रामजी की उतनी इच्छा भी पूरी नहीं होती। इन सभी साथियों से बिछुड़ने का मोह शेखर का संस्कार बन जाता है। उसकी एकान्त-यातना और बढ़ती है। लेकिन इन वीरों से शेखर दम्भ का कुम्भक और अहंकार की नकल ही पाता दीख पड़ता है। सहज वीर और हठवीर में वही भेद है, जो सच्चे सूरमा और किसी 'डानक्विजोट' में है।

जेल में शेखर के शील के विकास की दूसरी सरणी (पहली थी क्रान्ति चिन्ता या वीर-भाव) शृङ्गार-चेतना के रूप में है। जेल के बाहर शशि की शादी की बातचीत हो रही है। जेल के भीतर शेखर उसके लिए तड़प रहा है। यह अयोग विप्रलंभ की स्थिति है। विवशता जितनी बढ़ जाती है, असंभव की इच्छा, उसकी गूढ़ आशा भी उतनी ही बढ़ती जाती है—नहीं तो इन्सान जिन्दा न रहे। मृत्यु के जितना ही निकट रोगी पहुँचता है, उतनी ही अधिक अन्तिम साँस की आशा असंभव की आशा बन जाती है। शेखर मन में सोचता है, 'शशि आ जाती !' इसे शेखर इच्छा कहता है, ऐसा नहीं। वह भूल जाता है कि आशा सदा हृदय की होती है। भय जितना ही निश्चित रहता है, आशा उतनी ही बलवती होती है। इसी से तो hoping against hope कहा गया है। जिसके परचे अच्छे गये हैं, वह

क्या आशा करेगा कि वह पास कर जायगा ? वह तो निश्चित विश्वास के कारण निश्चिन्त है। ऐसा निश्चिन्त विश्वास बुद्धि का होता है। यों कहिए, जहाँ कोई आशा नहीं (बुद्धि का आश्वासन नहीं), वहीं आशा होती है। जेल में शशि नहीं आ सकती, यह मोटी बात है; लेकिन शायद आ जाए, इसका अतिरिक्त विश्वास ही तो आशा है। यह सही है कि सुख की, संयोग की, सफलता की अमर इच्छा ही प्राप्ति का, मिलन का, मानस में पूर्वास्वादन या विज्ञान-भोग करती है, और इसी पूर्वास्वादन, इसी विज्ञान-भोग को आशा कहते हैं। फिर भी, भय (विफलता के भय) के रहते हुए भी जो आशा रहती है, उससे आशा आशंकित भी रहती है, तभी तो आशा दयनीय होकर हमें भावस्नात करती है। शशि जानना चाहती है कि अपराध में शेखर सचमुच शामिल था या नहीं। शेखर कहता है, 'नहीं।' फिर शेखर पूछता है, 'क्यों शशि ? तुम्हें तसल्ली हुई क्या ?', कैसी तसल्ली ?', 'कि मैं निर्दोष हूँ ?', 'ऊँ-हाँ, कुछ तो हुई ही।' 'क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो ?' 'तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने से मुझे संतोष होता है, डर नहीं होता।' शशि शेखर को चाहती है ! शेखर को पा तो सकती नहीं, कम-से-कम पति के रूप में। कभी शशि, कभी शेखर की बात में, कुछ ऐसा तनाव, कुछ ऐसा भेद, कुछ ऐसी मिताक्षरता, कुछ ऐसी चौंक रहती है कि मालूम होता है, दोनों कल्पना में खोए हों और अचानक चौंक कर उठते हों, मानों पूरी बात सुन नहीं सके। 'ऊँ, हाँ'—शशि जैसे ऊँघती रही हो। शेखर वीर है, शशि के लिए यही पर्याप्त है। शेखर कभी-कभी फकीर की तरह उल्टी बातें करता है तो शशि कमाल की बात करती है। पता नहीं, वे एक दूसरे को भी कभी स्पष्ट समझते हैं या नहीं। कम-से-कम एक दूसरे की समझ में आ जाने का प्रयास बातों से तो नहीं करते। संकोच अन्त तक उन्हें कुछ दूर रखता ही है। शेखर की बात जान कर ही शशि को संतोष हो जाता है। शेखर ने क्या किया, बस यही जानना चाहती है। इसके पीछे छिपी वीर-पूजा है। शशि जानती है कि शेखर क्या नहीं कर सकता, कौन-सा साहस का काम नहीं कर सकता ! फिर शेखर अपना है, इसलिए गौरव की अनुभूति भले ही हो, भय क्यों होगा ! भाई वहीं मौजूद है। खुलकर बातें भी नहीं हो सकतीं। चलने के समय शशि शेखर की ओर स्थिर आँखों से देखकर कहती हैं, 'वीर कभी अपराधी नहीं होते'। असाधारण परिस्थिति में, गंभीर सान्त्वना ऐसी ही हो सकती थी—सामान्य दर्शन के रूप में, यह कह कर नहीं कि तुम वीर हो, तुम अपराधी नहीं हो सकते। शशि शेखर की आदर्श कल्पना को छू देती है। और तब वह शेखर की बहन न होकर आदिम बहन हो जाती है, जिसने आदिम भाई को 'वीर' कहा होगा। इस प्रेम में वासना नहीं, वात्सल्य है, स्नेह है, ममता है। शेखर के लिए पिता, माता, गुरु, बहिन सभी आदिम हैं। और उधर शेखर का फैसला होता है, इधर शेखर शशि की कल्पना में डूबा है। यहाँ कुछ सार्थक बात हाथ लगती है। सरस्वती और शशि में क्या भेद ? शेखर की बड़ी बहिन भी शेखर को भाती थी, मानती थी···लेकिन वह तो होश

सँभालने के समय से ही साथ थी। 'शशि बहिन होकर भी नई, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्ध थी···जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था; नहीं, यह बात नहीं थी, वह नहीं समझ सकता कि क्या बात थी।'

शशि बहन होकर भी सगी नहीं थी। कुछ दूर, कुछ अपरिचित, कुछ कठिनाई से मिलनेवाली है शशि। दूरी है, व्यवधान है। भाव की अपनी है लेकिन दूध की परायी है। यही तो इस रोमांस के मूल में है। नाते में लगनेवाली बहन के प्रति प्रेम में तथाकथित क्रान्ति का साहित्य नहीं। सरस्वती को छोड़ देने से तो रति की संस्कारकृतज्ञता बच ही जाती है। पता नहीं, शशि के इस 'बहन-पक्ष' पर इतना क्यों जोर दिया गया है, यदि उसे एक लड़की ही रहने दिया जाता तो कौन-सी बात बिगड़ जाती। दूर की बहन-भाई की प्रेम-चर्चा में 'बहन-भाई' पक्ष का हठ-प्रदर्शन ही प्रधान हो जाता है।

शशि फिर आती है। दोनों एक दूसरे के पास पत्र लिखने के लिए लालायित हैं, यह उनकी स्फुट बातों से झलकता है। इस बार शेखर को एक तरफ तो यह लगा कि दूर के भाई-बहन होने पर भी दोनों में ज्ञानैक्य है, एक ही रक्त है, और दूसरी तरफ शशि उसे उकसाकर, अतुष्ट छोड़ जाती है। मुक्त-स्वस्थ रेचन के अभाव में ऐसा प्रेम किस तरह अन्दर-ही-अन्दर घुलाता है, बस यही प्रभाव अनेक दृश्य-खंडों का है। एक ही प्रकार के दृश्यों के आने-जाने से 'शेखर' पढ़नेवाले की तबीयत थक तो जाती ही है, ऊब भी जाती है। शशि कुछ कहना चाहती थी, कह न सकी। शेखर मन-ही-मन बन्धन तोड़ रहा है।' 'मैं बन्धन तोड़ना चाहता हूँ, क्योंकि किसी को मुझे कुछ कहना है और वह जानना मेरे लिए आवश्यक है—सुख, शान्ति, जीवन बल पुरुषार्थ से भी अधिक।'

आधे घंटे बाद खजूर की चटाई के नीचे से ताजे कीचड़ की बू ही ने उसे बताया कि वह अभी तक अवश सिसकता जा रहा है।'

इस तरह प्रत्येक दृश्य-खंड में हक-नाहक प्रकृति का एक पुछल्ला जोड़ दिया जाता है। शेखर को जगाने के लिए ताजे कीचड़ की बू उतनी आवश्यक नहीं थी, जितनी यह कि शेखर के व्यक्तित्व में ताजे कीचड़ की बू का घ्राण-चमत्कार भी है। भावों का लोहा लेकर जब शेखर थक जाता है तो प्रकृति ऐसे ही पंक-व्यजन या कीचड़ के चँवर डुलाने के लिए जाल में मछली की तरह फँसा ली जाती है।

शशि का पत्र आता है। उसकी शादी की बातचीत हो रही है। माता सब कुछ जानती हुई भी रोक नहीं सकती, समाज का भय है। शशि चाहती नहीं, पर करे क्या? शेखर मजबूरी में और शेर बन जाता है। 'काश कि वह बाहर रहता।' फ़िर अनिच्छित विवाह को लेकर जितने आदिम सवाल हो सकते हैं, इस परिस्थिति में उठ खड़े होते हैं। शेखैर तनिक भी नहीं सोचता कि वह शशि के बिना कैसे रहेगा या शशि का क्या होगा। वह तो अग्नि में हुतात्मा होनेवाली स्त्री, 'आत्मा का संकल्प बनाम समाज का विधान',

'अच्छी तरह व्याहने' में 'अच्छी तरह' के भाष्य आदि में ही खप जाता है। शेखर किसी परिस्थिति में कर्म की कल्पना तक नहीं करता, वह तो उसे सुखाकर बुद्धि का काँटा बना डालता है। शशि के इनकार कर देने पर किस तरह समाज उस लड़की को बुरा-भला कहेगा, इसका क्रोध उसे खाये डालता था। बीच-बीच में ऐसी बात भी कही जाती है—'जिस पुरुष-जाति में शशि जैसी स्त्री की कद्र नहीं होगी वह पड़े चूल्हे में; शशि उसमें शादी किये बिना मर नहीं जाएगी'। मालूम होता है पुरुष-जाति के उद्धार का दायित्व शेखर पर है, और शशि की ओर से पुरुष-जाति की ऐसी वैयक्तिक परिस्थिति में अँगूठा दिखानेवाला शेखर विमूढ़ होकर हास्य का आलंबन हो जाता है। तत्त्व-चिन्तक भी कभी-कभी औरतों की तरह हाथ चमकाते है। शेखर सामान्यवत् मुट्ठियों में बाल भरकर मुट्ठियों को जोर से घोंट लेता है। बाल जब खिचने लगते हैं तो उनकी पीड़ा से कुछ शान्ति मिलती है।

शशि निर्णय कर लेती है। माँ के अपने संस्कार हैं। माँ सनातन है, सदा माँ है। समाज के आदर्श के विरुद्ध माँ लड़ भी जाएगी, तो अन्दर-ही-अन्दर घुट सकती है, और शशि का स्वाभिमान इसे नहीं देख सकता। वह अपना होम कर देगी, और इस होम की सारी वेदना वह चुपचाप सह लेगी! शशि आत्मोत्सर्ग की क्षमता रखनेवाली मानिनी लड़की है, जिसके आत्मोत्सर्ग में स्वाभिमान का सुख अधिक है, कर्त्तव्य-भावना कम।

और तब शेखर को एक पंक्ति याद आती है जिससे शेखर और शशि दोनों की व्यथा का मर्म छू जाता है।

"I have burned in solitude
And burning has brought its own solace
In more quenchless burning—"

शशि का एक और पत्र आता है। कल से वह अमुक की स्त्री होगी। आज तक वह शेखर की बहन थी, और उसके अतिरिक्त किसी की कुछ नहीं थी। बहन के पद से वह अन्तिम बार प्रणाम करती है। शेखर सोचता है, शशि ने ही सगेपन का गौरव दिया था, उसकी सहोदरा बहनों ने भी नहीं। 'शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि थी, जिसके गौरव के लिए जीना और लड़ना और मरना स्वयं पुरुष का गौरव है।' शशि अपनी बहन नहीं, इसलिए उसकी दूसरे से शादी खटकती है। यह सूक्ष्म वासना कहीं शब्द-स्पष्ट नहीं होती। लेकिन आगे चलकर अधर-चुम्बन तक अपनी प्यास बुझाती ही है। शशि अपनी बहन? शादी होने पर भी सहोदरा बहनें बनी हुई हैं। क्या यह संग की कामना है? इतनी ही बात तो नहीं। किसी पति की होकर नहीं रहें; किसी की भतीजी होकर रहे, कोई झगड़ा नहीं। पति को न सह सकनेवाला प्रेम पति का हो हो सकता है। नैसर्गिक, सामाजिक संस्कारों को फाँद-लाँघ कर, बुद्धि की हठ-कल्पना का योग पाकर, मित्र-पति का सामंजस्य माँगता है। यही शेखर की समस्या है। हृदय का प्रेम-काव्य

सामाजिक विधि-निषेध के छन्द-पिंगल से मुक्त होना चाहता है, रति का Verse libre खोजता है। लेकिन समाज से खुलकर 'एकान्त' में भी मोर्चा लेने का साहस न शशि को है, न शेखर को। शशि में निसर्ग-निसर्ग का द्वन्द्व है। 'शशि शेखर को भी मानती है, माँ को भी। शेखर के प्रति प्रेम में स्वार्थ है, इसलिए वह कुछ हेय ठहरता है। माता के प्रति प्रेम में दया है, उसमें मर्यादा अधिक है। इसलिए शशि आत्मोत्सर्ग की बात सोचती है। शेखर शशि को समाज के विरुद्ध लोहा लेने को ललकार नहीं सकता। अहंकारी शेखर स्पष्ट कैसे होगा? पहले प्रस्ताव कैसे करेगा? शशि नीच समझ ले तो? उसे तो मन में यही सोचकर गूढ़ तृप्ति होती है कि वह गुस्से में है और समाज को गाली दे रहा है। यदि जेल से छूट पाता तो न मालूम क्या करता।

इसलिए जिस नैतिक असत्य का अपराध समाज के सर है, उसी नैतिक असत्य का अपराध तो शेखर और शशि पर भी है। भेद इतना ही है कि समाज में साहस है, बल है; शशि, शेखर में कायरता है। इसी कायरता से, संकोच से, स्वाभिमान से दोनों अधिक-से-अधिक घुटने का व्रत किए जाते हैं। इनमें शशि तो कुछ श्रद्धा भी अर्जित कर लेती है, लेकिन शेखर को तो अपने 'अहं' से ही फुर्सत नहीं मिलती। शेखर समाज से घृणा करता है और पाठकों का द्वेष ही अर्जित करता है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता, जैसे शेखर दया पाने के भी योग्य हो। शेखर स्वयं-घोषित वीर है, और इसलिए जुगुप्सित ही होकर रह जाता है। शेखर तो शृङ्गार की भावना कभी शारदा, कभी शान्ति, कभी कुमार पर लादता चलता है। 'शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया और वह भी ऐसी निधि, जिसके गौरव के लिए वह जीना और लड़ना गौरव समझता है,' यह बात पाठकों को प्रभावित नहीं करती। शशि के अतिरिक्त कई प्रेयसियों के आ जाने से सदा यही लगता है, जैसे शेखर को दोस्तों का मर्ज हो, प्रेम तो हो ही नहीं। इन सभी के कारण चित्त शशि से रह-रहकर बँट जाया भी करता है। शशि ने उसके जीवन को कौन-सा अर्थ, कौन-सा उद्देश्य दिया है, यह पाठकों को कहीं नहीं दिखाया जाता—

'शशि सहोदरा है, सहजन्मा है, एक खंडित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित हुई है... ..।'

बार-बार प्रेयसी की साँसों में विश्व-संगीत सुननेवाला प्रेम-कवि कुतूहल ही पैदा करता है। वे प्रेम-सामान्य के मुक्तक हैं, विशेष के प्रति उद्गार नहीं।

बड़ी ही सार्थक बात यह है कि शेखर शशि के यहाँ एक छोटा-सा आशीर्वाद का पत्र लिखकर भेज देता है। यह अहंकार की कोष्टबद्धता है। उसके बाद फिर आठवें कारक का एक मुक्तक देखिए—

• 'जल, ऊर्ध्वगे, जल! यज्ञ-ज्वाले जल! उत्तप्त, जल,! उज्ज्वल और सुवासित, जल,! क्षारहीन और निर्धूम और अक्षय, जल! यह मुझ अभागे का तुझे आशीर्वाद हो।'

उस मात्र आशीर्वाद के पत्र का खयाल कीजिए और इस ज्वाल-जाल को देखिए। पता नहीं चलता कि कवित्व ही दंभ हो गया है या दंभ ही कवि बन गया है। यह प्रेम का शहीद नहीं, रंगीन कागज का घर बना-बना कर फूँकनेवाला नुमायसी आतिशबाज है। पीछे 'क्या (शशि) आत्माहुति देकर सुखी है ?', इसी प्रश्न को लेकर शेखर दाँत मींचकर, मुट्ठी बाँध कर, फर्श पर, जँगले पर, दे मारता—एक बार, दो बार, तीन बार, जबतक कि खून न निकल आये। क्रन्तिकारी शेखर, प्रेमी शेखर, जिज्ञासु शेखर—तीनों की चरम अभिव्यक्ति उन्माद के इसी मंच-स्वाँग के रूप में होती है, और इतनी बार होती है कि हे राम! शेखर को यह भ्रम है कि वह युग-प्रवर्त्तक व्यक्तित्व का विशेष है! लेकिन भ्रम भी कभी-कभी कितना सम्पूर्ण होता है! मजा तो और भी बढ़ जाता है, जब वेदना की यह अवस्था उसे तुरत यहाँ पहुँचा देती है-'क्या व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे काम में बलि दे या बुरे में, क्या इसका एक मात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वयं है···? यह तो वही पुराना हिंसा और अहिंसा का प्रश्न है ?'

वेदना में अपनी दुनिया बरबाद होने की बात नहीं, अरमानों की चिता जलाने की बात नहीं, बात 'हिंसा और अहिंसा' की है।

शेखर का सारा पुरुषार्थ इन्हीं बौद्धिक उलझनों के व्यूह रचने में खपता है। बाबा मदन सिंह की बुड्ढी आँखों और धवल जटा को देख लगता है, 'शाप-ग्रस्त प्रथम मानव का शाप उनमें चमक गया हो', 'अपने दुःख के सहारे ही तू जिएगा।'

शेखर की सारी पीड़ा, उसका पौरुष, उसकी क्रान्ति, उसकी जिज्ञासाएँ, सभी शिक्षा-संस्कृति के अभिशप्त पलायन या एकान्त जैसी दीखती हैं। जब वह स्वयं सोचता है कि वह कोरी बौद्धिक उलझनों में पड़ा हुआ है, जबकि शशि पर न जाने क्या बीत रही होगी··· तो फिर प्रश्न उठता है—

'किस बात को डर रहा है वह ?' यही नहीं, 'वह नामहीन कौन-सा डर है जो उसके भीतर है ?' और तब पूर्ववत् प्रकृति का एक पुछल्ला : वायु का एक झोंका कराहता निकल जाता है, शेखर के प्रश्न के उत्तर के रूप में।

एक रसता (Monotony) की ऐसी व्याप्ति शायद ही कहीं मिले। जिज्ञासा को लेकर जेल-जीवन की एक तीसरी सरणी चल रही है, जो स्फुट रूप से मदन सिंह, विद्याभूषण आदि को सामने लाती है, लेकिन जिसकी चरम परिणति बाइबिल के ईश्वर-मानव और चिरन्तन साँप के रूपक के साथ कुछ छेड़छाड़ करके दिखलाई जाती है। ईश्वर ज्ञानमय है, पूर्ण है। मानव में जिज्ञासा है, अतः वह विश्व को चलाता है, गति देता है। 'जितनी बार वह जानना चाहता था, सूर्य्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेजी से घूमने लगती थी।'

शील-निरूपण के आधारभूत-सिद्धान्त

तब शेखर मानव है। बस, इसके सिवा इसका शील-निरूपण की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। शेखर आदिम, प्रथम, मौलिक चिरन्तन मानव है। मगर ऐसा मानव व्यक्ति नहीं, एक प्रत्यय है।

जेल से छूटने के बाद शेखर की एक-आध स्मृतियों में स्वाभाविकता है। 'यह मुर्दाघर पीछे रह गया', 'यह लुहार-हाता भी निकल गया', 'यह बाहर का जंगला है और यह फाटक, और अब तुम सड़क पर हो।' फिर स्वप्नवत् एक दृश्य। लड़कों की भीड़ 'जिन्दाबाद! शेखर! इन्क्लाब!' 'और उसके बाद टिकठी पर मद्द्चिन नंगा बंधा हुआ है और उसके चूतड़ों की चिरियों से खून बह रहा है···' फिर शेखर ने कहीं पढ़ा था—'शादी के बाद रमा अपने घर चली गई।' यह बड़ी ही अच्छी सूझ है। साहित्य, सिनेमा आदि की ऐसी स्मृतियाँ संयोग, विप्रलंभ दोनों अवस्थाओं में अनुभूति को तीव्र करती हैं। करुणा का सारा अवसाद या अवसाद की सारी करुणा ऐसे क्षणों में स्वानुभूति को मानों अपने रंग में खूब गाढ़ा रँग देती है।

'···और तब बाबा के सूत्र की स्मृति 'दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है'। शेखर के कदम भविष्य-पथ पर आगे बढ़ें इसके लिए आशा के आलोक-दीप की तरह इसकी आवश्यकता भाव-सम्मत है। फिर शेखर की अंगरेज प्रोफेसर के घर अंगरेज अफसर से मुलाकात, उनकी राष्ट्रीय चेतना के सामने देश की दरिद्र राष्ट्रीयता को लेकर ग्लानि, शेखर का निरुद्देश्य भटकना, शशि का लेखक—शेखर को प्रोत्साहन देना, शेखर का प्रकाशकों तथा प्रकाशन-सचिवों के यहाँ भटकते फिरना, समाज पर लिखी उस पुस्तक का मशहूर न होना, शेखर का अपने पिता से आदर्श विरोध, क्रान्ति आदि की चर्चा करना कुछ ऐसी बातें हैं जो स्थान छेंकती हैं, प्रभाव नहीं डालतीं। प्रकाशकों तथा प्रकाशन-सचिवों की स्वार्थधर्मिता, मौलिक को परखने की अयोग्यता तथा उसे प्रकाश में लाकर व्यवसाय को खतरे में डालने का भय, प्रचार और प्रसिद्धि के पीछे दौड़ना आदि शतावृत्त बातें हैं। शेखर ने जो अभूतपूर्व पुस्तक लिख रखी है, उसके ऐसे कोई भी उद्धरण देखने को नहीं मिलते, जिससे पाठक को भी शेखर के मुक्ता-मानस होने और 'अतएव' प्रकाशकों के काक-बुद्धि होने में विश्वास हो सके।

शील-निरूपण की दृष्टि से शेखर का शृङ्गार पक्ष ही अन्तिम दो अध्यायों में प्रमुख रहता है 'देख लिया मेरा घर', 'देख लिया शशि, बहुत कुछ देख लिया।' यह जितना ही स्वाभाविक है उतनी, 'विज्ञान के नियम', 'प्रकृति को सूना मसूड़ा अच्छा नहीं लगता', 'मोह ही तो वह दाँत है जो उखाड़ना है' (साहित्य से साहित्य और लक्ष्य का मोह)' आदि की बातें 'शेखर नाम की पुस्तक' के लिए क्षमा-याचना सी लगती हैं। शशि के पति के स्मित व्यंग्यों, श्लिष्ट उक्तियों को लेकर ईर्ष्या का वातावरण तैयार होता है। रामेश्वर शेखर के सामने शशि की प्रशंसा करता है, यही उसकी ईर्ष्या की खुराक है। 'आप की बहन तो बड़े परिष्कृत टेस्ट की हैं।' रामेश्वर अपने को हीन समझता है। 'हम कविता-वविता क्या

जानें।' उसकी पत्नी दूसरे की है, ऐसी शंका सदा उसके मन में है। प्रत्येक डाक को वह सशंक दृष्टि से देखता है।

शेखर से साहित्यिक वार्त्ता में शशि दबती-सी नहीं दीखती। लेकिन साथ-साथ शशि की वार्ता बिलकुल किताबों की नहीं होती, वह सदा शेखर को निरुत्तर कर जीवन में बझा देना चाहती है। उद्देश्यों के लिए क्लेश भोगने में भी एक तृप्ति है, ऐसा शशि समझाती है। शेखर को तृप्ति आदर्श से नहीं, आदर्श के प्रतीक से मिलती है। शशि ताड़ जाती है। कुछ चौंक-सी जाती है। वह पूछती है, 'प्रतीक कैसा, कोई वस्तु या कोई—व्यक्ति?' शशि सदा हृदय को पहचाननेवाली है। वह जानती हैं कि सूत्र कहनेवालों का हृदय कई तह के नीचे ढँका होता है। उनका सामान्य वैयक्तिक-विशेष का व्रीड़ा-तृण होता है। आदर्श के प्रतीक को लीजिए। लोक-कल्याण के लिए मर मिटनेवाले वीर के रूप में प्रोमेथिअस एक प्रतीक हो सकता है। आदर्श की कल्पना जितनी गहराई से की जाएगी, उतना ही मूर्त्त प्रतीक हाथ लगेगा। आदर्श स्वयं एक प्रतीक बन जाता है। लेकिन यह बात भी तो है कि स्वतन्त्रता के उद्देश्य और आदर्श के लिए जितने लोग नहीं मरे, उतने उस आदर्श के प्रतीक गाँधी के चलते। शेखर कुछ ऐसा गाँधी खोजता है। लेकिन गाँधी को उस रूप में लोगों ने नहीं अपनाया, जिस रूप में शेखर एक प्रतीक को अपनाना चाहता है। लोग सोचते थे, देश के गाँधी, इसलिए अपने गाँधी। शेखर की ममत्व-बुद्धि तो कुछ उन शायरों जैसी है जो कुछ लिख नहीं सकते, जबतक बगल में एक हसीन का बन्दोबस्त न हो। यदि शशि किसी तरह शेखर की हो जाए (शेखर कहेगा, बौद्धिक संग के धरातल पर ही सही) तो वह समाज से, विवाह रोकनेवालों से, पुलिस से, परिवार से, सबसे लड़ सकता है। यह तो हुई वासना, लेकिन उसका रूप सामान्य-सूत्र का बना दिया जाता है, जिसमें आदर्श-प्रतीक बड़ा हो जाता है। शशि सब पहचानती है। वह पूछती है, 'शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो? मैंने नहीं सोचा था कि मुँह से कहना पड़ेगा, पर कहने में भी हर्ज कोई नहीं है।' शशि अपनी लज्जा तक भी कह डालती है, शेखर अपनी इच्छा तक छिपाता है।

'एक क्षण के विकल्प के बाद' शेखर शशि को अपनी ओर घुमाता है, लेकिन फिर शशि दूसरे की है, शायद इसी संस्कारभीरुता से वह अलग हो जाता है। जब अलग हो जाता है, तो फिर वही शून्य गम्भीर बात वह अपने को, शशि को, सबको आतंकित करने, तथा दूसरों के लिए वह कितना भयानक हो सकता है, इसकी मानस-कल्पना का रस लेने लगता है।

'नहीं शशि, मैं अनिष्ट हूँ, जो मेरे सम्पर्क में आता है, खंडित ही होता है। मेरे द्वारा लिखी जानेवाली किसी चीज का महत्त्व इतना नहीं है कि—।' शशि कहती है, 'मैंने पूछा है, मेरे लिए लिख सकते हो! और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से

क्लेश पाओगे। पर भीतर से तुम्हें शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बात बड़ी लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक शान्ति का ही नहीं, उस क्लेश का भी साक्षी हो सकता है।'

शशि रह-रह कर खीस पड़ जाती है, हालांकि अच्छा लिखने, क्लेश और शान्ति पाने आदि की बात में शशिको भी शेखर को छूत लग जाती है।

शशि-शेखर-वार्ता में शशि से इतना आश्वासन पाने पर, किताब लिखने के लिए शशि द्वारा डाँटे जाने पर भी कली खिलती जा रही है। पर, शेखर कितना क्लिष्ट आडम्बरवाला व्यक्ति है, उसके हास्य से समझ सकते हैं।

'किस होटल में खाते हो' शशि पूछती है। 'होटल का नाम भी तो सुनूँ जरा ?'

शेखर ने कुछ अकड़ कर, आँखें चढ़ा कर, प्रत्येक अक्षर को स्वरित करते हुए कहा 'चित्तपूरनी देवी प्रेम शुद्ध पवित्तर भोजनालियां,'। आप पाठक हैं, नहीं हँसते ? तब तो शेखर आप को परिष्कृत नहीं समझ सकता !

बीच में माता की मृत्यु का समाचार मिलता है। शेखर कोशिश करता है; आज माता का चेहरा स्पष्ट याद पड़ता है। 'मुझे तो इसका भी विश्वास नहीं है' की स्मृति जग जाती है। चेहरा नहीं याद पड़ने से मनोविज्ञान की यह बात तो सिद्ध हो जाती कि जिस चीज से अरुचि रहती है उसकी छवि भी स्मृति में नहीं आती। उस प्रतिशोध की तृप्ति से शायद आज छवि आती है। कहा जाता है, उसकी रागात्मक वृत्ति मूर्च्छित हो गई थी। रागात्मक वृत्ति में द्वेष-भावना भी आती है। आज राग-द्वेष दोनों का पता नहीं। रागात्मक तत्त्व की यह निरपेक्ष शून्यता निसर्ग-प्रणाश का ही उदाहरण है। आज माता का चेहरा सुन्दर तो नहीं था, लेकिन उसमें ऐसी कोई रेखा नहीं थी, जिसका मातृत्व के साथ विपर्यय हो। 'माताओं के अपने-अपने चेहरे होते हैं, पर मातृत्व का अपना एक विशेष चेहरा है, या होना चाहिए।' जी हाँ, पुत्र भी अलग-अलग होते हैं, लेकिन पुत्रत्व का भी कोई विशेष चेहरा होता है, क्या ? यदि है तो शेखर का चेहरा तो वैसा नहीं ही होना चाहिए। पाठक भी तो यही चाहता है कि आप अपनी माता के पुत्र होने में कूदें-फांदें, लेकिन पुत्र के हृदय का विभक्ति की तरह लोप हो जाना एक विचित्र बात है !

उसे शान्ति की याद आती है। फिर रोजेटी के चित्र की। फिर 'मृत्यु के विराट्त्व' की कल्पना ! 'क्या मृत्यु विराट् होती है, और अब माँ भी नहीं है !' शेखर यह सोचता रहता है। श्मशान की ओर जाता है। जलती चिताओं का दृश्य उसे उपहासास्पद लगता है—'कैसा बेहूदा अन्त !' अग्नि शालीनता और भव्यता नहीं प्रदान करती, यहाँ आग ही टुची हो गई थी !' फिर तितली से बड़े पतंगे के चक्कर की बात कर पाठकों को स्मृति की यथार्थता का भुलावा दिया जाता है। शेखर के सामने, निरे अस्तित्व का रूप आता है, 'वह अस्तित्व, जो निरी एक घटना है।' यह दार्शनिक विकल्प है, ऐसा रूप तो स्वयं दार्शनिकों को नहीं नसीब होता। वह एक अनंग-आनन्द भले ही हो, लेकिन वह सगुण रूप होकर

आता है, ऐसा कहना शील-वैचित्र्य का महाकुत्सित दंभ है।

माता की मृत्यु, गूढ़ राग और द्वेष दोनों के अवसरों के लिए एक असाधारण अवसर के रूप में आई, और शेखर पठित बातों में ही रह गया !

× × ×

इसके बाद सार्थक प्रसंग तब आता है, जब शशि शेखर को एक साथी खोज लेने के लिए समझाती है। शेखर टालता है, और कहता है कि ऐसे मोती के मिलने पर आँचल पसार लेगा। क्योंकि 'जो देवता देते हैं, उसके लिए शास्त्रों की भी साक्षी क्यों माँगी जाए !' इसके बाद दोनों की आँखें मिल कर जकड़ जाती हैं, और शेखर शशि की आँखों में आलोक, आलोक में वेदना, और वेदना में आहत आलोक देखता है। हृदय के प्रेम में समाज की सम्मति क्यों ली जाए—इसीका मुक्तक है यह। शशि और शेखर तो अपने जीवन में, इसकी छानबीन बहुत पहले कर चुके हैं, इसलिए ही इस दृश्य का कोई उतना प्रभाव नहीं पड़ता—सिवा इसके कि कभी किसी सामान्य उक्ति से भी हृदय का मर्म अचानक कौंध जाता है।

रामेश्वर की ईर्ष्या बढ़ती जाती है। और एक नाटकीय प्रसंग में रामेश्वर के पिता शेखर को कम्युनिस्ट कह डालते हैं—'कम्युनिस्ट तो औरत को साझामाल मानते हैं, नास्तिक ! पहले बहिन, फिर रंडी।'···रामेश्वर शेखर के मुँह पर थप्पड़ मार देता है।

शेखर रामेश्वर की कलाई पकड़ लेता है और कलाई की 'हिंसा पथरा जाती' है, और काँपने लगती है। 'वह कलाई न होकर रामेश्वर की गर्दन होती तो—होती तो···।'.

अब फिर यहीं प्रश्नों और समाधानों का एक ताँता देखिए। ऐसी परिस्थिति में कौन ऐसा अहमक होगा जो परिस्थिति की व्यावहारिकता, कर्मप्रधानता, भावप्रबलता, यथार्थता को भुलाकर 'कलाई क्यों है, गर्दन क्यों नहीं ?' के व्यर्थ व्यायाम में पड़ेगा ? सुनिए। 'किन्तु क्यों है वह कलाई, क्यों नहीं है वह गर्दन ? अवश्य वह गर्दन है; जैसे कलाई कड़कड़ाती है; वैसे ही गर्दन भी कड़कड़ा सकती है, क्योंकि जकड़ में कुछ ईप्सा नहीं है। कामना नहीं है, वह केवल जकड़ है, आसुरी शक्ति जो अपने-आप चलती है, यद्यपि उसके पैर अन्धे हैं···?'

वही dehydration. वही निरुदन···। कलाई अब रामेश्वर की नहीं रही, पंजा शेखर का नहीं रहा। कलाई, विशुद्ध पारिभाषिक सामान्य हो गयी, और पंजा मात्र शक्ति की प्रेरणा बन गया····और जकड़ या पकड़ 'अपने—आप होनेवाली घटना' हो गई। मालूम होता है, विचार भी शेखर के नहीं हैं, संसार में आप-से-आप हो जानेवाली एक घटना है।

सेंध में पकड़ लिए जानेवाले चोर को यदि कोई पीटे, और यदि वह सोचना शुरू करे 'क्यों लगे चार तमाचे, पाँच क्यों नहीं लगे ? या घूसे क्यों नहीं चले ? चले तो नाक से ठीक सटे क्यों, कुछ दूर क्यों नहीं ?' तो कैसा होगा ?

खैर, शशि मना करती है 'शेखर !' और वह मान जाता है। शशि को साथ चलने के लिए कहता है। शशि डाँटती है, शेखर चला जाता है। दोनों के प्रेम की बड़ी ही सरल अभिव्यक्ति यह होती, यदि यह कलाईवाला जिज्ञासा-कुतूहल नहीं खड़ा कर दिया गया होता।

शेखर शशि पर किये गए ताने को सुनता है, 'ले ले उसको कोख में, कलमुँही, राँड़, कुत्ती !'

इसके बाद शशि प्रायः शेखर के साथ रहने ही लगती है। फिर भी दुनिया घुटती वेदना की ही है। एक दूसरे की शान्ति का खयाल दोनों रखते हैं। घर से निकाली गई शशि, और क्यों निकाली गई शशि, इसकी 'चेतना शेखर को बनी हुई है। शशि भी जानती है कि शेखर के जीवन में उसीके आ जाने से इतना व्यतिक्रम उपस्थित हो गया है। डाक्टर दवा के साथ-साथ रेस्ट, 'एंड्योरेन्स' और 'करेज' की आवश्यकता बताता है। मौसी विद्यावती का मातृहृदय जानता है, और वह स्पष्ट कहती भी हैं कि 'मैंने सब को यही उत्तर दिया है कि इन दोनों की एक धमनी है।' मौसी दोनों को सन्तान समझती हैं। शेखर को मौसी का यह प्रबोध ऐसा लगता है कि वह चाहता है, रो उठे—'मौसी, मौसी, मा—।'

डाक्टर की बात शशि भी सुन-समझ चुकी थी, और 'वह अच्छी होगी', अपने 'Courage', 'endurauce' को वह साथ दिखाएगी, ऐसे संकल्प का आश्वासन देती है।

इसके बाद शेखर मुहल्ले के दो बालकों की दीनता पर दया कर पतंग देने का प्रबन्ध करता है। उनके मुँह से भी समाज की आलोचना उसे सुननी पड़ती है। घरवाले मना करते हैं कि 'वे बुरे लोग हैं'। कोमलहृदय शशि के आघात की कल्पना कीजिए ! शशि सुधारक समाज की ओर से व्याख्यान देती है, लोग खिल्ली उड़ाते हैं। वह संकल्प से लड़ती है, लेकिन उसे मूर्च्छा आ जाती है। शशि गलती जाती है, लेकिन चलती जाती है। आग्रह करती है कि शेखर कुछ लिखे—महसिन, रामजी आदि पर। कहती है, 'बात बड़ी नहीं होनी चाहिए, बात का अनुभव बड़ा होना चाहिए', फिर आगे चलकर—'देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग में बाधा बन रही हूँ।'

'जब मैं भी ऐसा सत्य हो जाऊँगी, निरा सत्य, जिसे तुम तटस्थ होकर देख सकते हो, तब मेरी कहानी लिखना।'

यह कवि-पर्याय ध्वनि-सी लगती है। शशि जब तक जीवित रहेगी, शेखर भावुकता में बह सकता है। उसके मरने के बाद शेखर तटस्थ होकर 'emotion' से 'escape' कर सकेगा, कुछ ऐसा ही संकेत है। प्रसंग की उद्भावना और शील-निरूपण करनेवाले कलाकार की यह मौलिक आवश्यकता है; जिसकी कोई आवश्यकता यहाँ न थी। इतने प्रमुख उच्चारण के पीछे एलियटवाद की गन्ध आती है।

एक दिन शेखर शशि का माथा चूम लेता है। लेकिन उसके होंठ चूमने के पहले ही शशि कह उठती है, 'नहीं, शेखर नहीं, वह नहीं। वे जूठे हैं।' यानी रामेश्वर के जूठे !

मन से शशि शेखर के प्रति ही रत है, तन से रामेश्वर का संस्कार बन चुकी है। खंडित अभ्यंतर—निसर्ग और संस्कार के द्वन्द्व—का यह एक उदाहरण है।

शशि शेखर को इतना मानती थी कि इच्छा के विरुद्ध रामेश्वर की होकर वह चाहती थी कि रामेश्वर उसे मिटा दे। वह रोती है कि रामेश्वर को उसका प्यार मिला। उसकी निष्ठा का पवित्रतम आत्मदान रामेश्वर जैसे कुपात्र को मिला, जिसने उसे चूसकर फेंक दिया ! और पुरोडास रासभ खा गया, कुछ छोड़ दिया हृदय के देवता के लिए।...

शशि एक दिन वापस लौट जाना चाहती है। शेखर कहता है, 'तुम कहीं जाओगी नहीं, डरोगी नहीं, और हारोगी नहीं।' शशि मान जाती है। शेखर को लगता है, वासना बार-बार जन्म लेती है, प्रेम एक ही बार में कर जाता है। संस्कार और शिक्षावाले व्यक्ति प्रेम में 'चूड़ान्त तद्गति' नहीं पाते। वे अपने ही दर्शक-आलोचक बन जाते हैं। कल्पना की प्रेयसी हमारी सूक्ष्म अनुभूतियों में भी साथ रहती है, लेकिन वास्तविक प्रेम में एक माध्यम का आश्रय अनिवार्य हो जाता है—चित्र, कवि, प्रेयसी...चाहे जो हो। ...फिर वह ठीक करता है कि सख्य ही सिद्धि है, इसके बाहर कुछ नहीं है। फिर एक स्तर यह भी कहता है कि काम है...इसलिए कुण्ठा है, विद्रोह। शशि घुल रही है, एक दिन लुप्त हो जायगी।

अतृप्त वासना, बाधित प्रेम की कुंठाओं से एक ओर, तथा जीवन से धीरे-धीरे अस्त होती शशि को देखते दूसरी ओर शेखर की अवस्था द्वन्द्व की तीक्ष्ण मार्मिकता अर्जित कर लेती है; हालाँकि प्रेमी कभी ऐसा सोचते हों कि कविता के माध्यम के बिना ही रस मिल जाए, यह व्यर्थ की डींग है।

उसके बाद क्रान्तिकारी दादा आते हैं। उनके साथ शेखर को यमुना के उस पार जाना पड़ता है। इतने दिनों से भीतर-बाहर युद्ध करती शशि आखिर को लड़खड़ा जाती है। शेखर के वियोग में आशंकाओं से आक्रान्त होकर मूर्च्छित हो जाती है। शेखर से वह कविता पढ़वाती है—

'I want to die while you love me
While yet you hold me fair'.

यह कविता के बहाने अपने दर्द का इजहार है, जो हृदयग्राही है। अन्त तक शेखर किताबी तथा प्रलापी बना रहता है और शशि का संयम अन्त तक बना रहता है—

'शेखर मैंने सदा तुम्हें प्यार किया है, पाप मैंने कभी नहीं किया।' अन्त के क्षण शेखर के प्रति शशि की वीरपूजा के भाव अमिट किरण छोड़ जाते हैं।

'शशि, क्या तुम सचमुच चली जाओगी ?' (यहाँ तक स्वाभाविक है)।

'क्या मेरे जीवन में कभी कुछ सार नहीं होगा ? (फिर किताबी प्रेमी का वाक्य आ जाता है) ।

'होगा शेखर, है ! मेरे बाद भी होगा । तुम नहीं हारोगे—कभी नहीं हारोगे। मेरे लिए शेखर…मेरे लिए ।'

'शशि, दर्द होता है ?'

शशि के माथे के ऊपर शेखर के हाथ हैं ।

शेखर पूछता है—

'बताओ शशि, क्यों, क्या होता है ? क्या होता है ?'

'सुख, शेखर, सुख !'

शेखर शशि का पत्र पढ़ता है, जिसमें वह लिखती है कि किस तरह उसका प्यार एक वेदना है, और शेखर के लिए अपने अहं का होम देकर उसने शेखर को आदर्श के प्रतीक के रूप में पाया था। शेखर से जो कुछ मिला, उसके प्रति शशि कृतज्ञ रही। अपने प्रेम से शेखर को बाँधना नहीं चाहती। लेकिन चाहती है कि शेखर के द्वारा उसके (शशि के) खंडित अभ्यन्तर की व्यंजना हो, शेखर ही शशि का भविष्य है।

पाठकों को यह पता नहीं चला कि कहाँ वह प्रेम का अद्वितीय विशेष है, कहाँ वह भाव का दुर्लभ विरल है, कहाँ वह कर्म या संकल्प की अनुपमता है, जो अहंकारी शेखर से शशि पा सकी। शेखर की वीरता का कोई उदाहरण पाठक नहीं पा सके हैं, सिवा बचपन की जिदों, या काँगरेस-कैम्प में अनुशासन के एक छोटे-मोटे आदर्श के रूप में। जहाँ तक समाज-सम्बन्धी उस मौलिक पुस्तक का सवाल है, उसकी मौलिकता तथा क्रान्तदर्शी प्रतिभा का पाठकों को कोई ज्ञान नही। शेखर प्रेम के क्षणों का शिल्पी नहीं। अन्तिम क्षणों में शशि ही सहानुभूति लेकर चली जाती है। शेखर घड़े में मुँह लगाकर बोलता है। शशि की कृतज्ञता निरपेक्ष-सी लगती है। जिस शेखर को किसी लड़की से संग छूटने पर दया आती है, उसी शेखर ने, लगता है; अपने दंभको आहार पहुँचाने के लिए शशि की जाली चिट्ठी पाठकों के सामने पेश कर दी हो।

पुस्तक की अन्तिम स्मृति करुणा, धैर्य तथा दार्शनिक उल्लास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। प्रधान है इसका काव्यत्व।

"प्रणाम यमुना, प्रणाम पूर्व दिशा, प्रणाम वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल, प्रणाम झाऊ के उदास मर्मर और धूल के…बगूले…प्रणाम बही हुई मुट्ठी भर राख…आदि।"

छाया, तुम्हें भूलने नहीं जाता। तुम साथ चले। पहले मौसी के पास, और गौरी के पास…फिर आगे—कर्म में विस्मरण नहीं है, शशि, कर्म में तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा, चिरन्तन क्योंकि मुक्त और मोक्षद।…आदि।

ऐसे सौन्दर्य के छिटपुट स्थल 'शेखर' में मिल जाते हैं। लेकिन 'शेखर' भारतीय जीवन और संस्कार का उपन्यास नहीं। 'शेखर' में पठित विद्या से काम लिया गया है, शील-प्रज्ञा से नहीं। 'शेखर' नाम के व्यक्तित्व में शिक्षा का अजीर्ण है; उसके विधाता अज्ञेय में शील-निरूपण का विवेक नहीं। जिस तटस्थता का नारा इतनी जगह बुलन्द किया जाता है उसके अर्थ यहाँ होंगे—परिस्थिति में बद्ध पात्र के स्वभाव की लोक-हृदय से की गई अनुभूति। शेखर किसी के 'स्व', असिद्ध 'स्व' के शिक्षित चमत्कार के विज्ञापन जैसा लगता है। शेखर में विच्छित्ति का विचार अधिक रखा गया है, स्वभाव का कम। असिद्ध दार्शनिकता के हाथ शेखर के शील की गोचरता तथा पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के अपरीक्षित वादों के हाथ शेखर के शील की स्वाभाविकता तथा देशीयता सुपुर्द कर दी जाती है। 'शेखर' में उस निसर्ग-विपाक को भुला दिया जाता है, जिसमें प्रत्यय-संस्कृति संस्कार-सी लगे। शेखर' जैसे उपन्यास लिखनेवाले के लिए मात्र कवि-शिक्षा की आवश्यकता है, प्रतिभा की नहीं, और वह शिक्षा भी एक बन्द कमरे में मेज पर रखी किताबों से ही हो सकती है। जीवन को देखने की आवश्यकता बिलकुल नहीं। मद्रास, सोसायटियों; क्लब, नारियों की संस्था हरिजनों की बस्ती आदि के अनुभव सभी अखबारों में ही मिल जाते हैं; मद्दसिन और रामजी तो अपवाद जैसे हैं। विलयात की बोली, गंभीर दंभ के साथ, कुछ समय तक, बोलकर निकल जानेवालों में ही अज्ञेय' का नाम रहना चाहिए। हिन्दी वा भारतीय उपन्यासों की परम्परा में 'शेखर' एक ऐसा कुतूहल है जो समय बीतने के साथ-साथ दयनीय होता जायगा।

'शेखर' संग्रह की प्रतिष्ठा भले ही बढ़ाये, रस की सनातन कृति नहीं।